श्रीपाद अमृत डांगे

भारत

प्राचीन इतिहास की मार्क्सवादी रूपरेखा

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
नयी दिल्ली-११००५५

जो सुख दुख की सभी घड़ियों में
हमेशा मेरे साथ रही है

विषय-सूची

तीसरे संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का पहला हिन्दी संस्करण सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ था। तब से इस रचना की अनेक मान्यताओं के विषय में बहुत से प्रश्न किये गये हैं। यहां पर हम उन सभी प्रश्नों का उत्तर तो नहीं दे सकते, क्योंकि उसके लिए एक विस्तृत विवाद की आवश्यकता है। लेकिन उनमें से कुछ प्रश्नों का उल्लेख किया जा सकता है और उनके उत्तर अत्यंत संक्षिप्त रूप में दिये जा सकते हैं।

कुछ लोगों ने यह प्रश्न किया है कि जिन लोगों का वर्णन हमें वेद साहित्य में मिलता है, क्या वे किसी खास नस्ल के थे जिसको आर्य नस्ल कहा जाता है; और क्या उन लोगों ने किन्हीं दूसरे लोगों के द्वारा अधिकृत प्रदेश पर आक्रमण किया था? यदि ऐसा हुआ था, तो वे दूसरे लोग कौन थे?

हमारे समय के इतिहास-साहित्य में सामान्य रूप से उन लोगों का आर्य कह कर ही वर्णन किया जाता है, जिनका उल्लेख हम वेद साहित्य में पाते हैं, यानी जो उस साहित्य के निर्माता हैं। एंगेल्स ने उनका उल्लेख हिन्द-योरोपीय और आर्य दोनों नामों से किया है। नाम के विषय में कोई भी मतांधता नहीं होनी चाहिए। मुख्य प्रश्न उनके उन सामाजिक रूप-निर्माणों एवं उनके विकास-क्रमों के विषय में है, जिन्हें हम वैदिक तथा अन्य प्रलेखों के द्वारा जान सकते हैं।

वेद साहित्य में हमें दो तरह के युद्धों का उल्लेख मिलता है। उनमें से कुछ युद्ध एक ही जाति के कबीलों और **गणों** के बीच हुए थे और कुछ हिन्द-योरोपीय अथवा आर्य कबीलों तथा उनसे बिलकुल भिन्न जाति के कबीलों, जैसे निषादों एवं नागों के बीच हुए थे। कुछ युद्धप्रिय कबीलों में समान रूप से **यज्ञ** की संस्था थी जब कि कुछ कबीलों में यह संस्था नहीं थी और वे एक-दूसरे से पृथक भाव से रहते थे।

इसलिए सभी युद्धों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे दूसरों के द्वारा अधिकृत प्रदेश पर ''बाह्य आक्रमण'' थे।

''बाह्य आक्रमण'' का प्रश्न योरप के अनेक इतिहासकारों की इस उक्ति से सम्बंधित है कि आर्य ''भारत के बाहर'' से आये थे और उन्होंने

पूरे भारत में बसे हुए द्रविड़ों को आक्रमण द्वारा पराजित कर दक्षिण की ओर भगा दिया था।

मेरे खयाल से समस्या इतनी सरल नहीं है। अभी तक इस बात को हम स्पष्ट रूप से नहीं जान सके हैं कि "बाह्य (विदेशी) आर्यों" के आने से पहले भारत पर द्रविड़ों का अधिकार था। अभी तक हम यह भी नहीं जान सके हैं कि क्या मोहंजोदाड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यताएं द्रविड़ों का प्रतिनिधित्व करती थीं और क्या आर्यों ने उस पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया था?

ब्रिटेन के इतिहासकारों ने हमें अनेक समस्याओं के विषय में गुमराह किया है, इसलिए इस समस्या के समाधान के लिए हमें सावधानी से खोज करनी चाहिए।

उदाहरणार्थ यह भी कहा जाता है कि द्रविड़ों के पहले भारत में मुंडा मोंखमेर लोग रहते थे जिनको द्रविड़ों ने पूर्व की ओर भगा दिया था।

इन मतों के विषय में मैं कोई अन्तिम रूप से निश्चित राय नहीं रखता। इस समय मैं इन लोगों के सामाजिक रूपों के विकास की ओर अधिक ध्यान देना चाहता हूं—चाहे वे आर्य, द्रविड़ या मुंडा मोंखमेर रहे हों। यह तो निश्चित है कि सामाजिक रूपों के इस विकास में युद्धों और बाह्य आक्रमणों की मुख्य भूमिका थी।

यह प्रश्न भी किया गया है कि जिस समय आर्यों के साथ द्रविड़ युद्ध कर रहे थे, उस समय उनकी सभ्यता आर्यों से श्रेष्ठ थी या हीन थी? क्या वे आदिम साम्यवादी युग से निकल कर दास व्यवस्था की उन्नत अवस्था तक पहुंच गये थे?

कुछ उपादेय सामग्री इस बात की सूचक है कि द्रविड़ मूल जाति (यदि हम इस शब्द समूह का प्रयोग सामान्य रूप से समझे जाने वाले अर्थ में करें) दास व्यवस्था के सामाजिक विकास-क्रम तक आ गयी थी। लेकिन इस विषय में निश्चित रूप से निर्णय देने में वर्तमान द्रविड़ साहित्य अपर्याप्त है।

सामाजिक विकास के क्रमों और भारतीय इतिहास में उनकी अवधि के विषय में भी प्रश्न किये गये हैं।

काल-अवधि के बारे में जो आलोचना पूंजीवादी इतिहासकारों ने की है, उसके विषय में मैं ध्यान देने नहीं जा रहा हूं क्योंकि वे मार्क्स द्वारा आविष्कृत इतिहास के नियमों को अस्वीकार करते हैं। इसलिए इस विषय में मैं केवल मार्क्सवादी पाठकों द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर ही विचार करना चाहता हूं।

किस समय आदिम साम्यवादी व्यवस्था का अन्त हुआ और दासता की व्यवस्था का आरम्भ हुआ? यदि इस अवधि को वर्षों में व्यक्त करना असंभव है, तो क्या यह संभव है कि इसे धार्मिक साहित्य की साक्ष्य सामग्री अथवा घटनाओं से इंगित किया जा सके?

इस समय जिस रूप में वेद साहित्य मिलता है, उसमें जांगल, बर्बर

और सभ्य तीन युगों के चिन्ह प्राप्त होते हैं। इस साहित्य में इसके लिए लिखित प्रमाण हैं कि (पितृसत्तात्मक अथवा अन्य रूपों की) दासता का उदय यहां पर हुआ था और राजसत्ता एवं वर्गों के प्रारम्भिक रूपों का अस्तित्व यहां पर था।

यह कहा जा सकता है कि आदिम साम्यवाद का युग वैदिक संस्थानों के आरम्भ काल में ही व्यतीत हो चुका था और दास व्यवस्था एवं सभ्यता का आरम्भ वैदिक काल के अन्तिम समय के संस्थानों एवं प्रारम्भिक स्मृति साहित्य तथा महाकाव्यों के रचना काल में हुआ था।

महाभारत युद्ध और उसके बाद की अवस्था सम्बन्धी मेरी मान्यताओं के विषय में भी प्रश्न किये गये हैं।

इस विषय की मैंने जो व्याख्या की है, उसका स्पष्टीकरण या उसमें संशोधन करना आवश्यक है। महाभारत युद्ध के परिणामों की विवेचना करते हुए मैंने कहा था कि उसके "फलस्वरूप दास प्रथा दुर्बल हो गयी थी।" और उसी पैराग्राफ में मैंने आगे यह लिखा था : "निस्सन्देह, दास प्रथा चलती रही और दास स्वामियों के राज्यों का फिर से संगठन होता रहा और उनकी वृद्धि भी होती गयी।" (पहला हिन्दी संस्करण, पृष्ठ १९०)

महाभारत का युद्ध सगोत्र सम्बंधों के अन्त और वर्ग राजसत्ता के पूर्ण रूप से विकसित होने का सूचक है। इसमें कबीलों के लोकतंत्र, सैनिक अभिजातीय तंत्र और दास व्यवस्था का समावेश था।

युद्ध इतनी विशाल सीमाओं में फैला हुआ तथा विनाशकारी था कि कुछ समय के लिए दास सभ्यता की पूर्णता के आधार पर सभ्यता की गति मन्द हो गयी। लेकिन धीरे-धीरे यह व्यवस्था प्राणवान होती गयी और उन साम्राज्यों का आर्विभाव हुआ जिनका उल्लेख हम बाद के युग के इतिहास में उज्जैन, काशी, कोशल, मगध, आदि के रूप में पाते हैं।

इसलिए जहां पर अर्थ निकलने की संभावना हो कि महाभारत युद्ध के फलस्वरूप सामन्तवादी युग का आरम्भ हो गया था, वहां पर संशोधन कर लेना उचित है।

एक प्रश्न यह भी किया गया है कि भारत में दास व्यवस्था के विशेष लक्षण क्या थे? उत्पादन में इस दास व्यवस्था की भूमिका क्या थी?

कुछ ऐसे लोग हैं जो भारत में दास प्रथा के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं। प्रामाणिक ग्रंथों में जब इतने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता हो कि कितने प्रकार[1] के दासों का अस्तित्व भारत में था और उनको दासता से मुक्त करने के लिए कौन से नियम[2] थे, सम्पत्ति के उत्तराधिकार में उनका स्थान क्या था, तब किसी के लिए यह कहना कठिन है कि भारत में दास प्रथा का अस्तित्व नहीं था।

इनके फुटनोटों के लिए परिशिष्ट २ देखिए।

पहले कहा गया है कि यह रोम अथवा यूनान की ''श्रम-दासता'' से भिन्न थी। भारतीय दास व्यवस्था को हम ''घरेलू दासता'' कह सकते हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि कृषि उत्पादन का मुख्य रूप यह नहीं था कि दास स्वामियों के अधिकृत विस्तृत खेतों में दास समूहों के परिश्रम द्वारा वह किया जाता था। इसके विपरीत घरेलू दासता का यह अर्थ भी नहीं था कि दास घर के स्वामियों की ''व्यक्तिगत सेवा'' ही करते थे। इसे प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट प्रमाण हैं कि गृह उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन के लिए, खेतों पर और यहां तक विस्तृत खेतों पर, ''स्वतंत्र'' कृषकों एवं भृत्यों के साथ उनसे श्रम कराया जाता था। अपनी आय के लिए स्वामी अपने दासों को दूसरों के पास भृत्य रूप में भी भेज देते थे।[3]

सामान्य रूप में वे बड़े इलाके जिनमें दास तथा भृत्य कृषि कार्य करते थे, नगर-केन्द्रों के निकट राजाओं की अपनी सम्पत्ति के रूप में होते थे। कुछ व्यक्तिगत भूस्वामियों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें से कुछ पवित्र ब्राह्मण तक हैं। लेकिन गांवों में कृषि उत्पादन प्रधान रूप से दासों के द्वारा नहीं होता था। वहां पर **गृहपति** अथवा **कुलपति** के संरक्षण एवं नेतृत्व में पारिवारिक समाज सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि को जोतते-बोते थे। दस्तकारी के नगर-केन्द्रों में इन दासों की बड़ी संख्या काम करती थी और कुछ संख्या में उन्हें गांवों में भी श्रम करने के लिए लगाया जाता था।

भारतीय दासता का विशेष लक्षण यह है कि पारिवारिक समाज में घरेलू दासता को घनिष्ठ रूप से मिश्रित कर दिया गया था और यह व्यवस्था बिना अपने को अन्य रूप में परिवर्तित किये हुए दीर्घकाल तक स्थायी रही थी।

उत्पादन के विकास एवं जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ पारिवारिक समाज शीघ्रता से नष्ट होकर ग्रामीण समाजों के रूपों में बढ़ने लगे।

इन ग्रामीण समाजों में दास समूहों को **हीन जाति** का माना जाने लगा और पारिवारिक समाज के सदस्य अपनी रुचि अथवा कौशल के अनुसार विभिन्न व्यापारों एवं उद्योगों को अपनाने के आधार पर विभिन्न जातियों में संगठित होते गये। इस प्रक्रिया में ग्रामीण समाज के नये संगठनों के ढांचे में **वर्णों** ने अपने मूल अर्थ को खो दिया और उनके स्थान पर जातियों का महत्व बढ़ने लगा।

इस प्रक्रिया का विकास एक ही जैसा नहीं हुआ था। कृषि की स्थानीय अवस्थाओं के अनुरूप ही इसका विकास संभव था। भारत में जलवायु एवं भौगोलिक अवस्थाओं के साथ-साथ उष्णदेशीय ऋतुओं, भूमि की अत्यंत उर्वरता एवं वनस्पति की अतिमात्रा ने ग्रामीण समाज की विशेष बाह्यरूपता, भूमि पर चिरकालिक समानाधिकार एवं जाति व्यवस्था को एक निश्चित रूप दे दिया था।

भारतीय सामन्तवाद का आधारभूत ढांचा ग्रामीण समाज एवं उसकी जाति व्यवस्था है।

इस प्रक्रिया को समझने के लिए भारत के विभिन्न भागों की उन यथार्थ अवस्थाओं का सावधानी से निरीक्षण एवं अध्ययन करना आवश्यक है जिनमें यह (प्रक्रिया) घटित हुई थी। यद्यपि भारत में जाति व्यवस्था एवं ग्रामीण समाज अपने उत्पादन सम्बंधों में मौलिक रूप से एक समान ही थे, फिर भी वे अपने विकास पथ में दृढ़ता, विपर्ययता, अधिकार एवं कर्तव्य के विषय में विविध रूपों को व्यक्त करते थे।

दास प्रथा से युक्त राजसत्ताओं की काल-अवधि के विषय में भी प्रश्न किये गये हैं। मेरा विचार यह है कि इस प्रकार की राजसत्ताएं बौद्ध धर्म के आर्विभाव एवं उत्थान के समय तक रही थीं। इन राज-सत्ताओं की परम्परा में संभवतः नन्द वंश का राज्य (४१३ ई. पू.) अन्तिम था। (संभवत: इसलिए कि पौराणिक परम्परा का कथन है कि नन्द वंश से शुद्ध **क्षत्रिय वंश** का नाश हो गया—**नन्दन्तम् क्षत्रियकुलम्**)।

नन्द वंश एवं अशोक के साम्राज्य (२७३ ई. पू.) के मध्यवर्ती काल में भारत निवासियों के सामाजिक-आर्थिक संगठनों में महान परिवर्तन हो रहे थे। दास व्यवस्था तथा ग्रामीण समाज मूल रूप से बदल रहे थे। भारतीय सामन्तवाद अपनी जड़ों को दृढ़ करने और विस्तार पाने की चेष्टा में लगा हुआ था।

लेकिन यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि एक व्यवस्था के तिरोहित होने और दूसरी व्यवस्था के आविर्भाव को किसी भी विशिष्ट विभाग-रेखा से सूचित नहीं किया जा सकता जिससे यह बताया जा सके कि अमुक निश्चित वर्ष अथवा अमुक विशेष राजवंश में उसका आविर्भाव या नाश हुआ था। भारतीय सामन्तवाद और दासता के विषय में यह निश्चित करना और भी कठिन है। कुछ समय तक उनका अस्तित्व साथ-साथ भी रहता है, और यह तो सभी को ज्ञात ही है कि सामन्तवादी अर्ध-दास व्यवस्था में भी दास प्रथा के कुछ लक्षण शेष रह गये थे।

परन्तु यह निश्चित-सा लगता है कि बौद्ध एवं जैन धर्म ईसा से पांच शताब्दी पूर्व दास व्यवस्था के विद्रोह में उठी हुई विचारधारा का प्रति-निधित्व करते थे।

यद्यपि इस संक्षिप्त भूमिका में विषय की विस्तृत विवेचना सम्भव नहीं है, फिर भी अपने पाठकों को भावी अध्ययन में सहायता देने के लिए हम उस जैन धर्म विचारधारा की प्राचीन परम्परा की ओर संकेत अवश्य करना चाहते हैं, जो बौदध धर्म के ही समान है।

जैन धर्म के अनसार महावीर से पहले **चौबीस तीर्थंकर** हुए थे। **सदधर्मालंकार** में उनमें से छ: तीर्थकरों का परिचय प्राप्त हो सका है। उनमें से चार **भागे हुए दास** और दो सम्पत्ति-नष्ट किसान थे जिनकी

दशा लगभग दासों जैसी ही थी। उनमें से एक का नाम पूर्ण कश्यप था। उनका यह नाम इसलिए था कि जिस समय अपने स्वामी के गृह में माता ने उनको प्रसव किया, उस समय उन्होंने सौ की संख्या (उस स्वामी के दासों की संख्या) ''पूर्ण'' की थी। जिन व्यक्तियों ने भौतिकवादी अथवा उसके समकक्ष सम्प्रदायों का शिलान्यास किया, उनके नाम **मोक्खली गोशाल, निगंथ नतपुत्त, अजीत केशकम्बल** तथा **ककुध कात्यायन** थे।

महात्मा बुद्ध (जन्म ५५८ ई. पू.—मृत्यु ४७८ ई. पू.) स्वयं अभिजात वंशीय गण में उत्पन्न हुए थे और उनकी संस्कृति गण-लोकतान्त्रिक थी।

इस सम्बन्ध में एंगेल्स का वह कथन ध्यान देने योग्य है जो उनकी पुस्तक **लुदविग फायरबाख** में है। वह कहते हैं:

> ''इतिहास की महान परिवर्तनकारी गतियों का **साथ** धार्मिक परिवर्तनों ने वहीं तक दिया है जहां तक उनका सम्बन्ध..तीन महान विश्व धर्मों—बौद्ध, ईसाई और इस्लाम से है। किसी सीमा तक अप्राकृतिक रूप से आविर्भूत केवल इन्हीं विश्व धर्मों के विषय में एवं विशेषतया ईसाई तथा इस्लाम धर्मों में हम यह पाते हैं कि उन्होंने सामान्यतर ऐतिहासिक परिवर्तनों पर अपने चिन्हों को अंकित किया है।'' (मार्क्स-एंगेल्स, **संग्रहीत ग्रंथावली,** भाग २, मास्को संस्करण, पृष्ठ ३४३-४४)

इतिहास की वह कौन सी महत्वपूर्ण गति थी जिसका साथ बौद्ध धर्म ने दिया था और उस पर अपने चिन्हों को अंकित किया था? जहां तक भारत का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से रहा है, वहां तक इतिहास की यह महत्वपूर्ण गति उस दास व्यवस्था का दुर्बल होना था जिसका प्रतिनिधित्व अजातशत्रु से लेकर अशोक तक के शक्तिशाली साम्राज्यों ने किया था। इस परम्परा में सबसे अधिक शक्तिशाली नन्द वंश ज्ञात होता है। नन्द वंश तथा उनके समकालीन राजाओं के पास विशाल ससज्जित सेनाएं* थीं, जो इस तथ्य की सूचक थीं कि प्रजा के ऊपर कर की मात्रा अधिक थी और शासक वर्ग विलासप्रिय एवं भ्रष्ट था। उनकी विजयों ने सहस्रों व्यक्तियों को दासों में परिवर्तित कर दिया और एक विस्तृत प्रदेश में गण-लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं एवं **गण** समाजों के अवशेषों को नष्ट कर दिया। गांवों के स्वतन्त्र कृषक, गण-लोकतन्त्र (कबीलों के लोकतन्त्र) के सम्पत्ति-नष्ट सदस्य, सताये गये व्यापारी एवं नगरों के गृहस्थ—सभी मिल कर एक परिवर्तन की प्रतीक्षा में आकुल थे। बौद्ध धर्म में सैद्धान्तिक रूप से यह परिवर्तन व्यक्त हुआ था। राजनीतिक रूप से इस परिवर्तन ने मौर्य शक्ति के द्वारा साम्राज्यों को नष्ट कराते

* परिशिष्ट ३ देखिए।

हुए उन नये साम्राज्यों को जन्म दिया जिनमें अपेक्षाकृत अधिक शान्ति और परिवर्तन थे। इतिहास के इस मोड़ अथवा परिवर्तन का अध्ययन हमें सावधानी से करना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ **कौटलीय अर्थशास्त्र** है; इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य के **जातक**, कुछ **धर्म-सूत्र** एवं अशोक के शिलालेख हैं।

दास व्यवस्था के दुर्बल होने और उसके स्थान पर धीरे-धीरे सामन्तवादी व्यवस्था के प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया लगभग तीन सौ वर्ष तक चलती रही थी। गांवों में इस (दास व्यवस्था) का जो आर्थिक आधार था, उसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे।

प्राचीन काल के आदिम साम्यवादी समाज में सम्पत्ति का उत्पादन सामान्य रूप से अधिकृत भूमि तथा पशुओं द्वारा होता था और उसका सामूहिक उपयोग में वितरण होता था।

उत्पादक शक्तियों के विकसित होने के साथ-साथ श्रम-विभाजन और वर्गों के उत्पन्न हो जाने पर दास व्यवस्था का जन्म हुआ। जिस सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि पर पहले कबीलों के ग्रामवासी श्रम करते थे, वहां पर अब **गण** किसान दासों की सहायता से उत्पादन करने लगे। फिर भी श्रम का अधिकांश भाग स्वयं स्वतंत्र कृषक करते थे।

गण समाज व्यवस्था अपने मूल रूप में दास विधान के अनुरूप नहीं थी, इसलिए दासता के विधानों ने शीघ्र ही गण व्यवस्था को क्षीण कर दिया और आदिम **गण** विलीन होने लगे।

नगरों में विकासमान अभिजातशाही ने धन तथा दासों का संचय किया, वस्तुओं का व्यापार किया और अपनी राजसत्ताओं या साम्राज्यों का निर्माण किया। राजाओं के उद्योगों एवं जमींदारों में, धनी व्यापारियों के घरों में नगर के सन्निकट कारखानों और बागों में दासों के समूह परिश्रम करते थे। इन स्थानों पर स्वतंत्र कारीगरों तथा भृत्यों का भी उपयोग होता था।

उत्पादन एवं जनसंख्या की वृद्धि के समान ही साम्राज्यों का भी विकास हुआ। उस समय भूमि के प्रश्न पर एक ओर स्वतन्त्र किसानों के उन गांवों में—जहां पर सामूहिक अधिकार वाली भूमि पर गण जातियां श्रम करती थीं या सामान्य रूप से अधिकृत क्षेत्रों पर पारिवारिक समाज के सदस्य निजी खेती करते थे—और दूसरी ओर, भारी साम्राज्यपरक राजसत्ताओं में तीव्र विरोधों तथा आत्म-विरोधों का विकास होने लगा था। यह विरोध दो प्रश्नों के रूपों में व्यक्त होता था। क्या राजा को गांवों की सामूहिक भूमि को आत्मसात करने का अधिकार था? सम्पूर्ण उत्पादन के कितने अंश की राजसत्ता अधिकारिणी थी? अर्थात अतिरिक्त उत्पादन या भूमिकर के सम्बन्ध में शासक वर्ग के क्या अधिकार थे?

इस प्रश्न की व्याख्या **पूर्व मीमांसा** से लेकर बाद के **धार्मिक** साहित्य

तथा इनके भाष्यों में प्राप्त होती है। कौटिल्य ने सूक्ष्म विधियों के द्वारा शोषण के सम्बन्धों को व्यवस्थित एवं भूमि कर या अतिरिक्त उत्पादन के अधिकारों को सीमित करने की चेष्टा की थी। **पूर्व मीमांसा** में इस प्रश्न पर विवाद किया गया है कि राजा को **दान** देने का अधिकार है या नहीं। (सूत्रकार के मत से) राजा को भूमि **दान** करने का अधिकार नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि भूमि पर ''सबका अधिकार'' है और वह किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं बन सकती। **(न भूमि स्यात्— सर्वान्प्रति—अविशिष्टत्वात्।)** सम्भवतः उसका व्यक्तिगत विभाजन नहीं हुआ था और न उस पर व्यक्तिगत अधिकार ही होते थे।

लेकिन शासक वर्ग ने धीरे-धीरे इस व्यवस्था को पराजित कर दिया। उन्होंने अतिरिक्त उत्पादन पर अपने स्वत्व यानी करों एवं भूमि करो में वृद्धि की और सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि पर भी वे निजी अधिकार स्थापित करने लगे। उस समय शोषक वर्ग की सेवा में लगे हुए न्यायशास्त्रियों ने यह प्रश्न किया—सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि क्या है? क्या भूमि पर सामूहिक अधिकार दो तरह का नहीं—एक राजा का सामूहिक अधिकार और दूसरा ग्रामों का सामूहिक अधिकार? एक वह भूमि है जिसको राजा दान में दे सकता है और दूसरी वह भूमि है जिसको वह दान में नहीं दे सकता, आदि। उन्होंने इस प्रश्न को भी उठाया कि उत्पादन के कितने भाग पर भूमि कर के रूप में राजसत्ता का अधिकार है।

लेकिन समय व्यतीत होने के साथ-साथ हम यह देखते हैं कि राजसत्ता, यानी शोषक वर्ग, उत्पादन में लगे हुए विभिन्न समुदायों से अधिक भूमि कर लेता गया। पहले राजसत्ता कृषि उत्पादन का दसवां हिस्सा कर के रूप में लेती थी, लेकिन अब वह उत्पादन का आधा अंश लेने लगी, यहां तक कि अपने मुख्य कर्मचारियों के पालन-पोषण के लिए सम्पत्ति अथवा धन के रूप में भी कर लिया जाने लगा। सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि को सुरक्षित रखने तथा भूमि कर एवं अन्य करों की वृद्धि को रोकने के लिए जो संघर्ष हुए थे, उनके द्वारा नन्द वंश से लेकर बाद के साम्राज्यों और कुछ पहले के साम्राज्यों के भी उत्थान एवं पतन को भली भांति समझा जा सकता है (अवश्य ही उनको बाह्य आक्रमणों से नष्ट नहीं किया गया था, जैसे कुषाणों एवं स्कीथिया के निवासियों ने अपने आक्रमणों से किया था)।

इस प्रक्रिया में उत्पादन की शक्तियां बढ़ीं। दस्तकारी का विकास बड़े पैमाने पर हुआ और उसके कौशल में वृद्धि हुई। विविध दिशाओं में कृषि का प्रसार हुआ और उसके उत्पादन सम्बंधों में भी परिवर्तन हुए।

प्राचीन गण समाज जब नष्ट हो गये, तो उनके स्थान पर नये समाजों का जन्म हुआ। कुछ प्रदेशों में (सामाजिक विकास के कुछ

क्रमों में) ये नये समाज भूमि को सामूहिक रूप से अधिकृत करते हुए भी पारिवारिक समाज के आधार पर कृषि करते थे। बाद के काल में पारिवारिक समाजों के स्थान पर ग्रामीण समाजों का निर्माण हुआ। इसमें व्यक्तिगत परिवार के आधार पर खेती होती थी। इन समाजों में उत्पादन के साधनों तथा कौशल के उस विकास के द्वारा, जिसका विशेष परिवारों के साथ घनिष्ठ सम्बंध था, एवं वंश परम्परा के रूप में व्यवसायों को ले चलने के द्वारा एक वंशगत श्रम विभाजन की उत्पत्ति संभव हुई। इसी श्रम विभाजन ने जाति व्यवस्था तथा उस पर आधारित एक नये ग्रामीण समाज को जन्म दिया था। यह नया समाज भारतीय सामन्तवाद का उत्कृष्ट रूप था।

हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार से **चार वर्णों** की व्यवस्था **(वर्णाश्रम धर्म)** बर्बर युग की उत्तरकालीन अवस्थाओं और दास व्यवस्था व सभ्यता के काल की भी विधिपरकनैतिकता की द्योतक थी, उसी प्रकार से जाति व्यवस्था **(जाति धर्म)** भारतीय सामन्तवाद के आर्विभाव एवं उत्थान का द्योतक थी। प्राचीन पारिवारिक समाज के ग्रामों अथवा **वर्णाश्रम** ग्रामों को नष्ट करते हुए दास व्यवस्था के स्थान पर इस व्यवस्था ने जन्म ले लिया था और उत्पादन की नयी शक्तियों के लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त थी। यह बहुत संभव है कि मौर्य राजवंश के समय इसका आर्विभाव हुआ हो और बाद के काल में यानी गुप्त साम्राज्य (लगभग २०० ई.) के समय विकसित होकर यह भावी शताब्दियों के लिए सामन्तवाद का दृढ़ आधार बन गयी हो। यह निश्चित है कि इसका प्रसार भारत के सभी क्षेत्रों में एक ही समय में नहीं हो गया था।

यहां पर यह प्रश्न किया गया है कि कार्ल मार्क्स ने अपनी अनेक रचनाओं में भारत के ग्रामीण समाजों का उल्लेख ''अत्यन्त प्राचीन,'' ''अपरिवर्तनशील'' कहते हुए किया है, उसका अर्थ क्या है?

मेरे विचार में कार्ल मार्क्स के इन उल्लेखों का अर्थ यांत्रिक तरीके तथा मतांध दृष्टिकोण से लगाया गया है, इसलिए इस विषय पर विचार होना चाहिए।

भारत के भूमि सम्बंधों और ग्रामीण समाजों के बारे में स्वयं कार्ल मार्क्स किसी निर्णायक नतीजे पर नहीं पहुंचे थे। वह समय-समय पर भारतीय इतिहास के विविध युगों की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन कर रहे थे। एक समय उनका विचार था कि भारत में जमीन किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। बाद में खोज करने से ज्ञात हुआ कि कृष्णा की वादी में जमीन व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में थी। इसका उल्लेख उन्होंने एंगेल्स के साथ अपने पत्र-व्यवहार में किया था।

उसी प्रकार से, जब तक एंगेल्स ने **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति** नहीं लिखा था, तब तक ग्रामीण समाज और

गणों के विकास के विषय में भी कोई अन्तिम निष्कर्ष निर्धारित नहीं हो सका था।

पूंजी के प्रथम भाग में कार्ल मार्क्स ने अन्य लेखकों की रचनाओं के आधार पर जिस ग्रामीण समाज का उल्लेख किया है, वह न तो आदिम साम्यवादी समाज के युग का गण समाज है और न वह पारिवारिक समाज ही है। रक्त सम्बंधों के आधार पर गण समाज की रचना हुई थी, और उसमें शोषक तथा शोषितों के सम्बंध नहीं थे। लेकिन ग्रामीण समाज एक प्रादेशिक इकाई थी और उसमें इस प्रकार के सम्बंध संभव थे।

इस प्रश्न की व्याख्या करते हुए पहले एंगेल्स ने **परिवार की उत्पत्ति** में इसके विकास का उल्लेख नहीं किया था। लेकिन बाद में कोवालेव्स्की की रचना के आधार पर उन्होंने इस प्रश्न का समाधान अपनी पुस्तक के सन् १८९१ के संस्करण में किया। उससे कोई भी यह जान सकता है कि यदि किसी समाज में भूमि पर सामान्य रूप से सबका अधिकार होता है, तो उस समय भी उसके अधिकारों एवं सामाजिक उत्पादन प्रणालियों के **तीन रूप** संभव होते हैं।

उसका पहला रूप शुद्ध रूप में रक्त सम्बंध पर आधारित अत्यन्त प्राचीन गण समाज है। (क्या इसे समाज का गण रूप कहा जा सकता है?)

उसका दूसरा रूप पैतृक सम्बन्धों पर रचा गया पारिवारिक समाज है। (क्या इसे समाज का **कुल** या **गृहपति** रूप कहा जा सकता है?)

उसका तीसरा रूप वह ग्रामीण समाज है जिसमें व्यक्तिगत परिवार होते थे। उनके पास कुछ भूमि व्यक्तिगत अधिकार में और कुछ सामूहिक रूप से अधिकृत होती थी। व्यक्तिगत परिवार के आधार पर वे खेती तथा अन्य आर्थिक क्रियाएं करते थे। वे जातियों या पंचायती रूपों में संगठित थे। इस समाज में व्यक्तिपरक तथा समूहगत अधिकार एक साथ अस्तित्व में थे।

कार्ल मार्क्स ने तीसरे रूप के गण समाज का उल्लेख किया है। **वर्णों** एवं जातियों से हीन आदिम साम्यवाद के युग में इस समाज का अस्तित्व नहीं था। वर्गों, **वर्णों** एवं दास व्यवस्था के आरम्भिक युग में भी इसका अस्तित्व नहीं था। उपरोक्त व्यवस्थाओं के नष्ट होने पर इसका उदय हुआ। भारतीय सामन्तवाद में जाति समाज के गांव का यही रूप था।

इस समाज में अन्य रूपों से भिन्न उत्पादन सम्बंध थे।

इस संक्षिप्त विवरण में हम ग्रामीण समाज एवं भारतीय सामन्तवाद के विकास व प्रसार को अधिक विस्तृत रूप में नहीं बता सकते। जातियों द्वारा किये गये पैतृक श्रम विभाजन वाले ग्रामीण समाजों के अस्तित्व में आने से समाज की उत्पादन शक्तियों का विकास हुआ।

प्रत्येक जाति एवं उपजाति ने अपने धंधों में विशेष निपुणता प्राप्त कर दस्तकारी को यथासंभव चरम सीमा तक पहुंचा दिया। उत्पादन शक्ति में वृद्धि होने से शासक वर्गों एवं राजसत्ता द्वारा लिये जाने वाले कर एवं अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई। इसी अतिरिक्त उत्पादन की सहायता से सिंचाई के साधनों, सार्वजनिक तालाबों तथा उन स्मारक वास्तु कला की कृतियों का पोषण हुआ जिन्हें हम आज भी देखते हैं। सम्पन्न संस्कृति, गुप्तकालीन साहित्य एवं कला के सुन्दर रूप, सिंचाई के विशाल साधन (कश्मीर में एक जलाशय का निर्माण एक अछूत जाति के इंजीनियर ने किया था) तथा मध्य-कालीन व्यापार व उद्योग—सभी ग्रामीण समाज की विकसित उत्पादन शक्तियों यानी उसकी कृषि और दस्तकारी की, जिसने मध्यकालीन राजनगरों को बिशेष रूप से प्रभावित किया था, सफलताएं थीं।

इसके साथ-साथ कार्ल मार्क्स ने इन समाजों के उन प्रगति-विरोधी रूपों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण समाज के इतिहास प्रवाह में जड़ता आ गयी थी। इतिहास के विद्यार्थी मार्क्स के उन अंशों को भली भांति जानते हैं। इसलिए उन्हें दोहराना अनावश्यक है।

उन ग्रामीण समाजों अथवा भारतीय सामन्ती सम्बंधों में निहित वर्ग-संघर्षों के विकास का ज्ञान प्राप्त करने का तरीका इतिहास के विद्यार्थी अवश्य जानना चाहेंगे। कार्ल मार्क्स ने ग्रामीण समाजों का जो वर्णन किया है, उसके आधार पर कुछ लोग यह कहना चाहते हैं कि ये समाज अपने में पूर्ण थे और इनका निर्माण इस रूप में किया गया था जिसमें वर्ग-विरोध अथवा वर्ग-संघर्ष नहीं थे।

अपने भारत सम्बंधी लेखों में जिस समय कार्ल मार्क्स ग्रामीण समाज का अध्ययन कर रहे थे, उस समय उनका मुख्य प्रयोजन यह स्पष्ट करना था कि अंग्रेजों की विजय ने भारत में कौन-सी नयी उत्पादन शक्तियों तथा क्रान्ति के तत्वों का बीजारोपण किया था।

जिस समय कार्ल मार्क्स ने उनका उल्लेख **पूंजी** में दोबारा किया, उस समय वे उस श्रम विभाजन के प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो पूंजीवादी उत्पादन के द्वारा फैक्टरियों में संभव हुआ था। यह श्रम विभाजन उस ग्रामीण समाज के श्रम विभाजन से भिन्न था जिनका आर्थिक ढांचा अपने में पूर्ण था। ये ग्रामीण समाज सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे थे और (पूंजीवादी समाज की अपेक्षा) राजशक्तियों के परिवर्तनों के प्रति अधिक निरपेक्ष रहे थे।

इन दोनों स्थानों पर कार्ल मार्क्स ने भारतीय सामन्तवाद के ढांचे के विषय में गंभीर समझ प्रदान की है। लेकिन इन दोनों स्थानों पर उनका प्रयोजन या तो उसके एक पक्ष को दिखाना था, या दूसरे (श्रम विभाजन) पक्ष को स्पष्ट करना था। उस समय उनका उद्देश्य इस विषय की सर्वांगीण और विशद व्याख्या करना नहीं था। यदि वह भारत के इतिहास

को पूर्ण रूप से लिखने के लिए जीवित रहते, तो अवश्य ही इसे पूरा करते। उसके लिए सामग्री का संकलन वह कर चुके थे। इसलिए यह लगता है कि इन ग्रामीण समाजों के अन्दर वर्ग-संघर्ष के विकास के अध्ययन का काम अभी तक अधूरा है। एक ओर यह वर्ग-संघर्ष एक ग्रामीण समाज का दूसरे ग्रामीण समाज से, तथा दूसरी ओर, सामन्ती राजसत्ता एवं ग्रामीण समाज के बीच होता था। इनका अध्ययन करने के लिए हमें मौर्य काल से लेकर मुगल और मराठा काल तक के लगभग दो हजार वर्षों के इतिहास को देखना होगा।

यह कहना मार्क्सवाद को अस्वीकार करना है कि इन दो हजार वर्षों के दौरान इन समाजों के अन्दर अन्तर-विरोधों का विकास नहीं हुआ था, या उनमें परस्पर-विरोध और संघर्ष नहीं हुए थे, अथवा उन पर शासन करने वाली सामन्ती राजसत्ता से उनका संघर्ष नहीं हुआ था।

तब फिर इन समाजों के आन्तरिक-विरोध एवं राजसत्ता के विरोध में होने वाले संघर्षों का सारतत्व क्या था?

ग्रामीण समाज में प्रत्येक जाति एवं जाति के परिवार को खेती करने के लिए भूमि दी जाती थी। इसके साथ सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि का उपयोग भी वे करते थे। **धार्मिक साहित्य** में इसे **महाभूमि**[4] कहा जाता था और यह वनभूमि, तालाब, चरागाह, आदि के रूपों में होती थी। खेती के लिए सभी परिवारों को भूमि दी जाती थी। लेकिन कुछ ऐसी जातियां थीं जिनके पास भूमि के अलावा अपने विशेष धंधे भी थे—जैसे कपड़ा बुनना, तेल निकालना, चमड़ा कमाना, सफाई का काम करना, वाटिका, आदि, बनाना। इस प्रकार से कृषि तथा धंधे परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे।

अपने धंधों में लगी हुई प्रत्येक जाति अपने उत्पादन का विनिमय दूसरी जाति के उत्पादनों के साथ करती थी—जैसे चमड़े के बदले में तेल और लोहे के बदले में लकड़ी का बना हुआ सामान, आदि। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति के परिश्रम का उत्पादन गांव में या अनेक गांवों में वितरित होता था।

लेकिन कुछ जातियां ऐसी भी थीं जो परिश्रम के द्वारा स्वयं उत्पादन नही करती थीं। इनमें वे ब्राह्मण थे जो शिक्षा देते थे, पूजा-पाठ करते थे और ऋतुओं का अवलोकन करते थे। उसके बाद क्षत्रियों की जातियां थीं। ये सैनिक परिवार थे जो राजसत्ता की सेवा में लगे रहते थे। इनके अलावा कर वसूलने वाले पदाधिकारी तथा मुंशी लोग थे जिन्हें विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। अपने काम के लिए उन्हें "वेतन" कहां से मिलता था? उन्हें यह वेतन ग्राम की श्रमिक जातियों द्वारा किये गये उत्पादन के अतिरिक्त भाग से दिया जाता था। उत्पादन न करने वाली ये जातियां उत्पादन करने वाली जातियों के उत्पादन पर जीवन-यापन करती थीं। उनका जीवन उस

भूमि कर पर निर्भर था जो उत्पादन करने वालों से वसूल किया जाता था। **इसी अर्थ में यह माना जा सकता है कि वे सामन्ती भूमि कर वसूल करने वाले थे।**

क्या भूमि पर अधिकार होने के कारण उन्हें यह भूमि कर मिलता था? नहीं, फिर भी, भूमि कर के वे अधिकारी थे।

क्या राजसत्ता की शक्ति उनके इस अधिकार की रक्षा करती थी? हां।

अन्य जातियां भी विशेष धंधों और कृषि के **उत्पादन में अपनी-अपनी जगहों से बंधी होती थीं।** उत्पादन का वह भाग भी निश्चित कर दिया गया था जिसे देने के लिए वे **बाध्य** थीं। इसकी नियंत्रक शक्ति वह राजसत्ता थी जो धर्म के आधार पर परिचालित होती थी। राजधानी तथा ग्रामीण समाज में स्थित ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शासक वर्ग इसके शासनकर्ता थे।

क्या इन सम्बंधों के आधार पैतृक परम्परा और व्यक्तिगत परावलम्बन थे, जिनको अपनाकर ही अन्य लोग उत्पादन कर सकते थे और जीवित रह सकते थे? हां। ऐसा ही था। यदि वे (इन सम्बंधों को अपनाने में) असफल होते थे तो उत्पादन करने वाली यानी भूमि कर देने वाली जातियों को शारीरिक दंड दिया जाता था।

ग्रामीण समाज की इन विशेषताओं ने ही इन सम्बंधों को स्पष्ट सामन्ती रूप प्रदान किया था। एक प्रकार की परम्परागत अर्ध-दासता इन ग्रामीण समाजों का आधार थी। इस समाज में अछूत मानी जाने वाली जातियां शासक वर्गों की सबसे अधिक शोषित अर्ध-दास थीं।

राजनीतिक शासन क्षेत्र में भी ये ही सामाजिक सम्बंध दिखायी देते थे। उत्पादन न करने वाली जातियों का राजसत्ता पर अधिकार था। वे ब्राह्मण और क्षत्रियों की जातियां थीं जिनके साथ राजस्व के पदाधिकारी (यानी कायस्थ) भी मिले हुए थे।

इन समाजों में संघर्ष यह था कि भूमि कर के अधिकारी अधिक से अधिक मात्रा में कर वसूल करने की चेष्टा करते थे। **बलि और भाग** के नियमों का यही विषय था। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं राजस्व प्राप्त करने वाले सदैव इस चेष्टा में रहते कि उत्पादक जातियों से अधिक से अधिक मात्रा में **बलि** एवं **भाग** प्राप्त किया जाय। **धर्मशास्त्र** के प्रत्येक ग्रंथ में **बलि** एवं **भाग** की मात्रा निश्चित की गयी है। कुछ ग्रंथों में विस्तृत रूप से यह भी लिखा हुआ मिला है कि पान, सुपारी तथा नारियल कितनी संख्या में देना चाहिए। इन विधियों के उल्लंघन होने पर शासक जातियां दास जातियों को दंडित करती थीं।

राजसत्ता के विरोध में गांवों के उस संघर्ष का—जो केवल उत्पादक जातियों से या कभी-कभी किसी विशेष समस्या को सुलझाने के लिए पूरे गांव के समाज के संयुक्त मोर्चे से होता था—आधार भी वह **बलि**

और भाग होता था जो राजसत्ता या राजा को मिलता था। जब इन संघर्षों से समस्या का समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं हो पाता था, तो अनेक बार सशस्त्र युद्ध भी हो जाते थे, या ग्रामीण समाज उस राज्य में चले जाते थे जहां भूमि कर की शर्तें अधिक कठोर नहीं होती थीं।

जिस समय उत्पादन न करने वाली शासक जातियां इतनी मात्रा में भूमि कर वसूल करती थीं कि कृषि एवं धंधे नष्ट होने लगते अथवा अत्यधिक मात्रा में लिये गये कर से व्यापार नष्ट होने लगते, या शासक जातियां गांवों की रक्षा लुटेरों और आक्रमणकारियों से नहीं कर पाती थीं, तब जनता विरोध-प्रदर्शन में वस्तु या श्रम के रूप में राजस्व देना अस्वीकार कर देती थी। उस समय की सामाजिक दशा को दु:ख भरे शब्दों में इस प्रकार से व्यक्त किया जाता था कि ''प्रत्येक जाति अपने **धर्मपालन** में विफल'' हो गयी है। इस ''संकट'' से निकलने का यही उपाय बताया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जाति या **धर्म** पर फिर से स्थिर किया जाय और ''शान्ति'' की रक्षा की जाय। दसवीं से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के विभिन्न प्रदेशों के भारतीय सन्त साहित्य में इन्हीं प्रश्नों का उल्लेख मिलता है।

अनेक विद्वानों ने **बलि** और **भाग** की मात्रा और उसके अधिकार के विषय में विवेचना की है। इससे भारत के सामन्ती भूमि कर सम्बंधों को स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है। लेकिन इन भूमि करों के वर्ग-नामों को स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है। शोषण के इन सम्बंधों को प्रकट न करने की प्रवृत्ति प्राय: मिलती है, जबकि इन्हीं सम्बंधों के कारण भारतीय इतिहास में अनेक युद्ध एवं विरोध-प्रदर्शन हुए हैं।

बलि और **भाग** के अन्तर को स्पष्ट करने वाली विवेचना के बारे में मैं एक शब्द और कहूंगा। इतिहास के हमारे अध्यापक यथाशक्ति **बलि** एवं **भाग** तथा अन्य करों के अन्तर की व्याख्या करने की चेष्टा में लगे हुए हैं।

बलि अतिरिक्त उत्पादन के उस भाग का प्राचीनतम रूप है जो उत्पादन न करने वालों को उत्पादन करने वालों से मिलता था। इसका आविर्भाव शारीरिक एवं मानसिक श्रम विभाजन के काल में हुआ था। इस श्रम विभाजन के अनुसार आदिम साम्यवादी समुदाय ने कुछ व्यक्तियों को समाज के हित के लिए ऋतुओं और नक्षत्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के वास्ते अवकाश दे दिया था, और उनका पालन-पोषण सामाजिक उत्पादन के एक अंश से होता था। यही अंश **बलि** था। साम्यवादी समुदाय के सैनिकों तथा उनके संचालकों को भी **बलि** का अंश मिलता था। लेकिन उन दिनों वह **भूमि कर नहीं** था।

साम्यवादी समुदाय के विभाजित होने पर वर्गों एवं राजसत्ता की उत्पत्ति हुई। जब नगर और देहात तथा खेती और उद्योग के बीच विभाजन बढ़ा और दृढ़ होता गया, तब अतिरिक्त उत्पादन को नये रूप

में, यानी **भाग** के रूप में लिया जाने लगा। **भाग** शब्द का प्रयोग उस राजस्व के लिए होता था जो राजसत्ता को दिया जाता था। उत्पादन न करने वाली शासक जातियां इसे आत्मसात करती थीं। जिन स्थानों पर मुद्रा का चलन नहीं था, वहां पर कृषि तथा दस्तकारी वस्तुओं के विनिमय को भी **भाग** कहा जाता था। दासों एवं दास-स्वामियों के बीच किसी **विनिमय** की संभावना ही नहीं थी। सामन्ती ग्रामीण समाज के अस्तित्व में आने पर भूमि कर का निश्चित एवं आदर्शगत रूप **भाग** हो गया था। पूर्व-कालीन बलि भी इसका साथी हो गया।

यहां पर हम इस विषय की व्याख्या नहीं करेंगे कि किस प्रकार से राजसत्ता एवं सामन्ती शासक जातियों की मांगें बढ़ती जाती थीं और उससे संघर्ष उत्पन्न होते थे। यहां केवल इस बात की ओर संकेत किया जा सकता है कि अगर हम गांव के अन्दर की जातियों, राजसत्ता एवं गांवों तथा राजा और **पौर सभाओं** के बीच **बलि** और **भाग** को वितरित होते देखें, तो हमें भारत के सामन्ती युग में वर्ग-संघर्ष को समझने की कुंजी मिल जायगी। लेकिन ऐसा करते समय निश्चय ही हमें उस आधार को अपनी आंखों से ओझल न होने देना चाहिए जो सार्वजनिक रूप से अधिकृत भूमि को राजा की सम्पत्ति न बनने देने के संघर्ष के रूप में वर्तमान था।

इस प्रकार की अवस्था में जनता के महान शासक या नेता कौन से व्यक्ति होते थे? उस समय में वे ही व्यक्ति महान थे जो **धर्म** को नष्ट होने से बचाते थे, यानी **बलि** और **भाग** की मर्यादा की स्थापना करते थे, भीषण शोषण और **बलि** तथा **भाग** की नाशकारी मात्रा से जनता की रक्षा करते थे और उनकी रक्षा के लिए युद्ध तक करते थे। शोषितों के हितों का सैद्धांतिक प्रचार सन्त लोग करते थे और जनप्रिय सैनिक उनके सशस्त्र रक्षक थे। भारतीय सामन्ती अवस्था में शोषित यही मांग कर सकते थे कि "**धर्म** की फिर से स्थापना हो, प्रत्येक जाति अपने धर्म पर स्थिर रहे और सामाजिक संगठन में अपना उचित स्थान और भाग प्राप्त करे।" यदि यह **संतुलन** नष्ट हो गया, तो संसार का अन्त निकट आ जायगा।

इसे बिल्कुल स्पष्ट करने के लिए **शुक्रनीति**[5] ने अपने नियमों में उन छुट्टियों की संख्या तक को निर्धारित किया जिनमें वेतन मिलना चाहिए। उस समय राजसत्ता की ओर से कर्मचारियों और नौकरों को रुग्णावस्था या दूसरी अवस्था में ऐसी छुट्टियां मिला करती थीं। अपने आरम्भ काल में आधुनिक पूंजीवाद ने भी इन नियमों का पालन उचित रूप में उस समय तक नहीं किया, जब तक कि मजदूर वर्ग ने उसे बाध्य नहीं कर दिया।

अपने इतिहास के इस काल का अध्ययन करने के लिए हमें उस व्यापारी पर भी अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए जिसने भारतीय

सामन्तवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। ग्रामीण समाज के उत्पादन को यथासंभव अधिक स अधिक मात्रा में **बिकाऊ वस्तु** म बदलना उसी के प्रयास का फल था। उत्पादक जातियों की वस्तुएं जितनी अधिक मात्रा में बिकाऊ वस्तुएं होती जाती थीं, उतनी ही अधिक मात्रा में वस्तु के रूप में भूमि कर लेने की मांग भी बढ़ती जाती थी, क्योंकि उन चीजों को व्यापारियों के हाथों स्वर्ण तथा अन्य वस्तुओं के बदले बेचा जा सकता था।

लेकिन व्यापारियों से किसी बिकाऊ वस्तु की मांग जितनी ही अधिक होती जाती थी, परम्परागत श्रम विभाजन एवं ग्रामीण समाज के अन्दर उत्पादन के अनुपात के बिगड़ने की संभावना भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती थी। इससे यह भी संभव हो सकता था कि ग्रामीण समाज के अन्दर धन सम्बंधी स्पष्ट विषमता का आरम्भ हो जाय और उसके तमाम अन्त-र्विरोध और भी तीव्र हो जायें। इसलिए वे लोग जो ग्रामीण समाज की अर्थव्यवस्था को शान्तिपूर्ण ढंग से उन्नति की ओर ले जाना चाहते थे, व्यापारी वर्ग की क्रियाशीलताओं को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते थे।

फिर भी व्यापारिक पूंजी ने अपनी भूमिका पूरी की, उसका अस्तित्व रहा और उसकी उन्नति हुई।

अगर कोई आदर्श व्यापारी-महाजन के विषय में भारत की मध्य-कालीन धारणा को जानने का इच्छुक है, तो उसे **मृच्छकटिक** में वर्णित विख्यात चारुदत्त के चरित्र को देखना चाहिए।

इस व्यापार की वृद्धि उस सीमा तक क्यों नहीं हुई जिससे पूंजीपति वर्ग की उत्पत्ति संभव होती और भारतीय इतिहास में पूंजीवाद का विकास होने लगता?

यह प्रश्न हमें आधुनिक इतिहास तक ले आता है, जिसकी विवेचना मैं यहां करने में असमर्थ हूं।

हमारे इतिहास का एक और भी अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय सामन्तवाद के अध्ययन के लिए इतिहासकारों का इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। दास व्यवस्था एवं नन्द साम्राज्य के नष्ट होने के बाद अनेक **राष्ट्रीयताओं** की रचना का मार्ग खुल गया था। ऐसा लगता था कि भारत की कुछ वर्तमान राष्ट्रीयताओं (जैसे आंध्र एवं मराठा) का आविर्भाव एवं विकास इसी समय अथवा इसके बाद के समय में हुआ था।

यह एक अकारण घटना मात्र नहीं है कि इसी समय में, जब भारतीय सामन्तवाद का जन्म हो ही रहा था, दास व्यवस्था और विशाल साम्राज्यों के नष्ट होने पर ग्रामीण समाज तथा राष्ट्रीयताओं का उदय हो रहा था और वे **प्राकृत भाषाएं**, जो साम्राज्यों के गर्भ में विकसित हो रही थीं, इतिहास में सामने आयीं और "मान्यता प्राप्त" भाषाओं के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया। उन भाषाओं का व्याकरण और

साहित्य स्वतंत्र रूप से दृढ़ता से विकसित हुआ था जैसा कि वररुचि[6] और गुणाढ्य[7] की रचनाओं से ज्ञात होता है। संस्कृत का महत्व घटने लगा और वह "राजसभा की भाषा" अथवा शासक बुद्धिजीवियों की दुर्बोध कल्पना मात्र ही रह गयी, जिसका प्रयोग धर्मशास्त्र एवं धार्मिक आदेशों को लिखने में होने लगा था। ऐसा लगता है कि राष्ट्रीयताओं का उत्थान और **प्राकृत भाषाओं** की मान्यता का आरम्भ भारतीय सामन्तवाद के आविर्भाव और विकास के साथ-साथ हुआ था। संस्कृत भाषा के विरोध में **प्राकृत भाषा** को जिस राजसत्ता ने सबसे पहले राजकीय भाषा बनाने की घोषणा की थी, वह सातवाहनों का राज्य था। यह माना जाता है कि सातवाहनों के राजवंश की उत्पत्ति कृषक जातियों से हुई थी। परम विद्वान और निपुण अशोक ने अपने **आदेशों को प्राकृत भाषा** में अंकित कराया था—इसे सनक मात्र नहीं माना जा सकता।

हमारे इतिहास के इस अत्यंत महत्व के काल में राष्ट्रीयताओं और भाषा विज्ञान के प्रश्नों के अध्ययन के लिए बहुत सामग्री मिल सकती है।

मैंने इन पंक्तियों को इस आशा से लिखा है कि हमारे मार्क्सवादी पाठकों को इस विषय पर और छानबीन तथा विचार करने में सहूलियत होगी। मुझे इस बात का खेद है कि अपनी वर्तमान परिस्थिति में मेरे पास इन प्रश्नों की विस्तृत व्याख्या करने के लिए और इतिहास के उन भागों को लिखने के लिए जिनकी योजना मैंने बनायी थी, न समय है और न शक्ति।

नयी दिल्ली,
जुलाई, १९५६

श्रीपाद अमृत डांगे

हिंदी संस्करण की भूमिका

भारत के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी मेरी इस पुस्तक का हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसे प्रकाशित करते समय प्रकाशक ने मुझसे यह कहा कि इस पुस्तक में दी गयी मान्यताओं के विषय में अब तक जितनी भी आलोचनाएं प्रकाशित हुई हैं, क्या मैं उनका उत्तर लिख सकता हूं?

अभी तो यथार्थ में मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं विषय की गहराई में पैठूं और तमाम आलोचनाओं की छान-बीन कर उनका उत्तर लिखूं। यद्यपि मैं यह मानता हूं कि इसे शीघ्र ही किया जाना चाहिए ताकि मार्क्सवादी समझ की रोशनी में भारतीय इतिहास के अध्ययन का कार्य और भी आगे बढ़ सके।

इस पुस्तक की समालोचना कई तरह के लोगों ने की है। कम्युनिस्ट विद्वानों द्वारा इस पुस्तक की की गयी समालोचनाओं को सबसे अधिक ध्यान से देखना चाहिए। उनके अलावा दूसरे बहुत से विद्वान प्रोफेसरों ने अपने विचार तथा अपनी आलोचनाएं मेरे पास लिख कर भेजी हैं और मुझसे उनका उत्तर मांगा है। परन्तु उनके साथ इस विषय पर विचार-विनिमय का कोई समान आधार नहीं मिल पाता क्योंकि ये आलोचक इतिहास को ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से नहीं परखते हैं। हां, कुछ तथ्यों और संस्कृत शब्दों के अर्थ के बारे में उनके साथ चर्चा हो सकती है।

विद्वान कम्युनिस्ट लेखकों द्वारा इस पुस्तक की जो समालोचनाएं हुई हैं, वे मेरी जानकारी में नीचे लिखे प्रकाशनों में प्रकाशित हुई हैं :

रूसी भाषा में इस पुस्तक का अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें **ए.एम. डायाकोव** और **ए.एम. ओसीपोव** ने एक भूमिका लिखी है जिसमें इस पुस्तक की समालोचना की गयी है। कुछ दिनों पहले रूसी पत्र ''बोल्शेविक'' में एक और समालोचना प्रकाशित हुई जिसे भी ए.एम. डायाकोव ने ही लिखा था।

ब्रिटेन से प्रकाशित होने वाले ''माडर्न क्वार्टरली'' के १९५० के ग्रीष्म अंक में इस पुस्तक की एक विस्तृत समालोचना प्रकाशित हुई है। इसे वहां के ''इंडोलौजिस्ट स्टडी ग्रुप'' (प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन

मंडल) ने तैयार किया था। १९५० के जनवरी महीने के 'लेबर मंथली' में **रजनी पामदत्त ने** इस पुस्तक की समालोचना की थी।

रूसी के अलावा चेक भाषा में इसका अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। चीनी भाषा में भी प्रकाशन के लिए इसका अनुवाद हो चुका है, जो शायद अब तक प्रकाशित हो गया होगा। पर मुझे इसकी जानकारी नहीं है कि इन अनुवादों में कोई समालोचनात्मक भूमिका है या नहीं।

डायाकोव, ओसीपोव, रजनी पामदत्त और **'इंडोलौजिस्ट ग्रुप'**—ये सभी समालोचक इस बात में एकमत हैं कि मार्क्सवादी अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक मूल्यवान है। आखिर मैं इस बात का उल्लेख क्यों कर रहा हूं? इसलिए कि कुछ दिनों पहले भारत के कुछ समालोचकों ने इस पुस्तक को 'हिन्दू पुनरुत्थानवादी' बता कर इसकी निन्दा की थी और कहा था कि इसमें तो मार्क्सवाद है ही नहीं। अत: प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में दिलचस्पी रखने वालों की सुविधा के लिए मैं यह बता देना चाहता हूं कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास के अध्ययन को और आगे बढ़ाने में उन्हें इस पुस्तक से बहुत सहायता मिलेगी। प्रारंभिक आदिम साम्य संघ, उसकी उत्पादन और वितरण प्रणाली, उसके विवाह और कुटुम्ब सम्बन्ध के बारे में जो बातें मैंने इस पुस्तक में कही हैं, वे किसी भी आलोचना से गलत प्रमाणित नहीं होती हैं।

विवाद का असल विषय दास-प्रथा मालूम होती है। इसका कब जन्म हुआ? भारत में क्या इसकी कोई अपनी विशेषता थी? आदिम साम्य संघ के टूटने और वर्ग-राज्य के उदय के बाद की आर्थिक व्यवस्था पर क्या वह प्रमुखता से छायी हुई थी? अन्य उठने वाले प्रश्न हैं : महाभारत युद्ध का स्वरूप क्या था? क्या 'आर्य' नाम का कोई जातीय या सामाजिक समूह था और क्या उसने भारत पर आक्रमण किया था? ये सभी प्रश्न उठाये गये हैं और उन पर विचार किया जाना चाहिए। पर मुझे खेद है कि इस संक्षिप्त भूमिका में मैं यह नहीं कर सकूंगा।

फिर भी आलोचना के इस पहलू के सम्बन्ध में मैं एक बात बता देना चाहता हूं। इस पुस्तक का उद्देश्य दास प्रथा के विकास और ह्रास पर विचार करना नहीं है। इसका **मुख्य उद्देश्य** आदिम साम्य संघ और उसका अन्त तथा वर्गों, दास प्रथा और दास-राज्य के उदय पर विचार करना है। इस पुस्तक में विशेष रूप से उत्पादन की आदिम सामूहिक प्रणाली के विकास और उसके धार्मिक तथा वैचारिक आवरण के बारे में विचार किया गया है। दास प्रथा के उदय का उल्लेख तो केवल एक निष्कर्ष के रूप में किया गया है।

भारत में दास प्रथा प्रचलित थी—इस सम्बन्ध में कुछ आदर्शवादी हिन्दुओं को छोड़ कर और कोई शंका नहीं उठाता। प्रश्न यह है कि क्या रोम और यूनान की ही तरह यहां की आर्थिक व्यवस्था में भी उसका प्रमुख स्थान था? मैंने यह बताया है कि दास प्रथा का स्वरूप यहां रोम और

यूनान जैसा ही निखरा हुआ नहीं था। इसके कई कारण हैं जिसे मैं संक्षेप में बता देना चाहता हूं। मार्क्स ने भारत के ग्रामीण समाज में शिल्प और कृषि की एकरूपता का उल्लेख किया है। लेकिन स्पष्ट है कि इस एकरूपता का यह अर्थ नहीं है कि गांवों में वर्ग बने ही नहीं और वर्ग संघर्ष हुए ही नहीं, और न जमीन का सामाजिक स्वामित्व ही दास प्रथा और अर्ध-दास प्रथा के उदय को रोक सका। पर कुछ लोग ऐसा नहीं सोचते। यथार्थ यह है कि भारतीय कृषि की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप यहां की दास-प्रथा की केवल कुछ अपनी विशेषताएं थीं। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि मार्क्स ने जिस भारतीय ग्रामीण समाज का वर्णन किया है वह आदिम साम्य संघ के युग का समाज नहीं है।

पहले यह पुस्तक जब प्रकाशन के लिए तैयार की गयी थी तो उसमें केवल तेरहवें अध्याय तक की ही सामग्री थी। बाद में मैंने दो अध्याय (१४ और १५) और जोड़ दिये। ऐसा मैंने इसलिए किया ताकि आदिम साम्य संघ के बाद आवश्यक रूप से आने वाले वर्ग समाज, दास प्रथा और अर्ध दास प्रथा के बारे में ऐतिहासिक भौतिकवाद की शिक्षा को पूरा कर दिया जाय। अत: स्वाभाविक रूप से विकास की इस दूसरी मंजिल का निरूपण इस पुस्तक में बहुत ही संक्षिप्त, अधूरा और दोषपूर्ण है।

'आर्यों' के नाम के प्रश्न पर मेरा कोई हठ नहीं है। परस्पर युद्ध में संलग्न जिन कबीलों या गणों का वर्णन पुस्तक में किया गया है, उन्हें कोई दूसरा नाम भी दिया जा सकता है। मैंने तो 'आर्य' नाम का चुनाव और प्रयोग केवल इसलिए किया है क्योंकि प्रचलित हिन्दू सिद्धांतों और पूंजीवादी इतिहासों में 'आर्य' नाम का ही प्रयोग होता है और उसे ही समझा जाता है। मैं समझता हूं कि एंगेल्स इस बारे में इंडो-योरोपियन नाम का प्रयोग करते हैं। पर इस बारे में मैं संशोधन करने के लिए तैयार हूं। यदि 'आर्य' नाम के प्रयोग से 'नस्लों की उच्चता' के सिद्धांत को अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा भी समर्थन मिलने की संभावना हो तो इस नाम का प्रयोग नहीं होना चाहिए। **ए. एम. पकालोवा** द्वारा सम्पादित "सोवियत संघ का इतिहास" नामक पुस्तक में शाकों के आक्रमण का उल्लेख है। उसकी वजह से मैंने भी 'आर्यों के प्रस्थान' की प्रचलित मान्यता को स्वीकार कर लिया गोकि उपरोक्त इतिहास में इसका उल्लेख नहीं है। पर इस वर्णनात्मक नाम को हटा देने से भी आदिम साम्य संघ के बारे में मेरे मूल्यांकन में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

मैंने मोहंजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों में निकली सामग्री और उससे निकलने वाले निष्कर्ष पर इस पुस्तक में विचार नहीं किया है यद्यपि मैंने उनका उल्लेख कर दिया है। ऐसा मैंने इसलिए किया क्योंकि मैं चाहता था कि इस विषय पर तब लिखा जाय जब तथाकथित

''प्राग-आर्यकालीन'' या ''द्राविड़-कालीन'' युग के इतिहास के सम्बंध में विचार किया जाय। इसे मैंने पुस्तक के दूसरे खण्ड के लिए रख छोड़ा है और यह बात मैंने पुस्तक के शुरू के भाग में स्पष्ट रूप से बता दी है।

यह आलोचना सही है कि नृपुरातत्व सम्बंधी नयी सामग्री का प्रयोग मैंने नहीं किया है। इसका कारण यह था कि पुस्तक मैंने जेल में लिखी थी और वहां इन सामग्रियों को मैं प्राप्त नहीं कर सका।

पुस्तक के बारे में एक आपत्ति यह भी की गयी है कि इसमें एंगेल्स के लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये गये हैं। इसका कारण यह है कि पुस्तक लिखते समय एक साथ ही दो लक्ष्यों को पूरा करने का ध्यान रखा गया था। पहला उद्देश्य यह था कि मार्क्स और एंगेल्स के विचारों को भारतीय इतिहास के उदाहरणों की सहायता से मैं आसान तरीके से पाठकों को समझा दूं; और उसके बाद मैं ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहता था। ये दोनों ही योजनाएं एक साथ मिल गयीं और इसलिए लम्बे-लम्बे उद्धरणों का प्रयोग हुआ। इसके अलावा एक कारण यह भी है कि जिस देश में मार्क्सवादी ग्रंथों का प्रचार बड़े पैमाने पर न हुआ हो, वहां ऐसी पुस्तकों में अपने सारांश या संक्षिप्त उद्धरणों को देने की अपेक्षा, मूल उद्धरणों को देना ही श्रेष्ठकर है।

आशा है, कुछ प्रश्नों के बारे में पाठकों को इतने से संतोष हो जायगा।

आदिम साम्य संघ तथा अन्य विषयों पर इस पुस्तक में जो बातें बतायी गयी हैं, पाठक उनका विश्वास के साथ अध्ययन करें और उन्हें अपनी समझदारी का एक हिस्सा बनायें। पुस्तक में इन विषयों पर ऐतिहासिक भौतिकवाद का दृष्टिकोण सही रूप में प्रतिपादित हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि पाठक इस बात से चिपके रहें कि जिन गणों या कबीलों का वर्णन इसमें है, उनका नाम 'आर्य' ही था। नाम का प्रश्न इस समय महत्वपूर्ण नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह समाज किस तरह की परिस्थिति में रहता था और उसका विकास कैसे हुआ।

यह एकदम यथार्थ है कि भारत में दास-प्रथा का उदय हुआ था और यहां वह फूला-फला था। महाभारत युद्ध के बारे में, उसमें संलग्न वर्गों और जनता के बारे में मैंने जो विश्लेषण (हिन्दी संस्करण के पृष्ठ १७५-१७७ पर) दिया है, वह मुख्यतः और सार रूप में सही है।

महाभारत युद्ध के बाद किन राज्यों और सामाजिक-सम्बन्धों का प्रादुर्भाव हुआ, उसकी यथोचित चर्चा नहीं की गयी है। इसकी वजह से बाद की सामग्री के बारे में थोड़ी गलतफहमी भी पैदा हो गयी है। असल में देखा जाय तो इस युग की ऐतिहासिक सामग्री का समावेश पुस्तक के दूसरे खण्ड में होना चाहिए। पुस्तक के दूसरे खण्ड में महाभारत युद्ध के अन्त के समय से लेकर उसके बाद १६ छोटे-छोटे राज्यों के उदय, बाद में चार बड़े राज्यों के राजवंशों में उनका विलीनीकरण और अन्त

में नन्दवंश के विशाल ''साम्राज्य'' की स्थापना के काल पर विचार किया जाना चाहिए।

इस युग का अध्ययन एक पेचीदा विषय है क्योंकि इसमें दास प्रथा, ग्रामीण समाज के गण युद्धों और बुद्ध धर्म के उदय आदि जैसे प्रश्नों का समावेश है। उदाहरण के लिए, केवल इस एक बात को ले लीजिए कि नन्दवंश के साम्राज्य में विशाल सैनिक शक्ति थी जिसमें हजारों घुड़सवार और पैदल सैनिक थे और हाथी की सेना भी थी। इससे प्रश्न यह उठता है कि इस विशाल सेना को तनखाह और भोजन कहां से दिया जाता था? इसके लिए 'रुपया' कहां से आता था? ऐसे राज्य का बोझ संभालने वाली उस समय की प्रमुख उत्पादन प्रणाली कैसी थी? उस युग में जनता की क्या स्थिति थी जो इन तमाम चीजों का भार संभालती थी?

महाभारत युद्ध के बाद इन प्रश्नों को समझने के लिए हमें जिन सामग्रियों से सहायता मिलती है, वे हैं—जातक कथाएं और दूसरा बुद्ध-कालीन साहित्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र और उसमें वर्णित वर्ग-अर्थव्यवस्था, अशोक कालीन नियम और कुछ स्मृतियां। अशोक की मृत्यु और मौर्यवंश के ह्रास के बाद दूसरा काल समाप्त हो जाना चाहिए।

समयाभाववश मैं इस कार्य को अभी तक हाथ में नहीं ले सका, इसका मुझे खेद है। लेकिन मैं आशा करता हूं कि इस क्षेत्र में कार्य करने वाले दूसरे विद्वान इसे अपने हाथ में लेंगे।

२४ अप्रैल, १९५२ *श्रीपाद अमृत डांगे*

दो शब्द

इस पुस्तक का मुख्य भाग यरवदा जेल में अक्तूबर सन् १९४२ से लेकर जनवरी सन् १९४३ तक लिखा गया था।

इसलिए विषय के निरूपण में पाठक को कुछ कमियों का अनुभव अवश्य होगा।

विषय का निरूपण जितनी पूर्णता और व्यापकता के साथ होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका है। संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रंथों और आधुनिक विद्वानों द्वारा सम्पूर्ण संकलित सामग्री का उपयोग भी नहीं हो सका है।

फिर भी आशा है कि भविष्य में मुझसे कोई अधिक योग्य विद्वान इस काम को अपने हाथ में लेगा और हमारे मेहनतकश वर्ग के लिए सफलतापूर्वक इस विषय का निरूपण कर सकेगा।

इसको लिखते समय कोई पुस्तक लिखने का मेरा उद्देश्य नहीं था। यरवदा जेल में मेरे साथ बहुत से राजबंदी थे। वे बहुत से सवाल उठाते थे और मुझसे उत्तर देने के लिए कहते थे। उन्हीं उत्तरों के फलस्वरूप इस पुस्तक की रचना हुई।

उस समय स्तालिनग्राद का युद्ध अपने संपूर्ण वेग में चल रहा था। युद्ध और समाजवाद के बारे में, वर्ग-संघर्ष और सोवियत व्यवस्था की उत्कृष्टता आदि के बारे में निरंतर प्रश्न उठाये जाते थे।

ये युद्ध क्यों होते हैं? एक युद्ध और दूसरे युद्ध में क्या अन्तर है? वर्ग की परिभाषा क्या है? शासन-सत्ता का अर्थ क्या है? एक शासन-सत्ता और दूसरी शासन-सत्ता में क्या भेद है? वह भेद क्यों होता है? युद्धों को सदा के लिए कैसे रोका जाय? क्या हर युग में मनुष्य-समाज के लिए शासन-सत्ता और सरकार की आवश्यकता बनी रहेगी? दरिद्रता के प्रश्न को कैसे हल किया जाय? आदि, आदि।

कुछ समय के लिए कांग्रेसी राजनीतिक बन्दियों से मिलने-जुलने की आज्ञा मुझे मिल गयी थी। आपस की बातचीत से मुझे ऐसा लगा कि जब तक समस्या के मूल में पैठा न पायगा, जब तक ऐतिहासिक भौतिक-वाद के दृष्टिकोण से भारतीय समाज के वर्ग तथा शासन-सत्ता की उत्पत्ति और विकास का निरूपण नहीं होगा, तब तक समस्या वहीं की वहीं

रह जायगी, और उनको कोई भी संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलेगा। वे लोग हमारे देश के नवयुवक थे और समस्या के हल को समझना तथा जानना चाहते थे।

पर जेल में शीघ्र ही कुछ ऐसी घटनाएं हो गयीं जिनके कारण अंग्रेज जेलरों ने हमारे मिलने-जुलने को एकदम बंद कर दिया।

जेल से छूटने के बाद **विश्व मजदूर संघ** के अधिवेशन में भाग लेने के लिए मुझे योरप जाना पड़ा। इस पुस्तक का काम फिर पीछे पड़ गया। मजदूरों के दिन प्रति दिन के संघर्ष वेग से उठ रहे थे और मेरा ध्यान अपनी ओर खींच रहे थे।

१४ जनवरी सन् १९४७ को फिर एक घटना हो गयी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने एक छोटी पुस्तिका **आपरेशन असाइलम** प्रकाशित की थी। इस पुस्तिका में भारत के खिलाफ ब्रिटिश सरकार की एक गुप्त फौजी योजना का भंडाफोड़ किया गया था। उस समय भारत के गृहमंत्री सरदार पटेल थे। उनकी आज्ञा से इस पुस्तिका के सिलसिले में देश-व्यापी तलाशियां ली गयीं। कम्युनिस्ट पार्टी के सब दफ्तरों तथा कम्यु-निस्ट पार्टी के प्रमुख सदस्यों के घरों की तलाशियां हुईं। उस तलाशी में इस पुस्तक के भी कुछ पृष्ठ पुलिस उठा ले गयी। संस्कृत भाषा के उद्धरणों को देखकर शायद उसे यह शंका हुई थी कि किसी संकेत-भाषा में कुछ लिखा गया है। लेकिन बाद में मुझे वे सब पृष्ठ वापस मिल गये।

परन्तु एक प्रश्न और उठता है कि इस विषय पर समय खर्च करना क्या आवश्यक है? क्योंकि पुस्तक का विषय केवल यह है कि प्राचीन भारत में परिवार, निजी संपत्ति, वर्ग और शासन-सत्ता का जन्म कैसे हुआ था।

यदि इसके उत्तर में मैं लेनिन का एक उद्धरण दूं तो पाठकों के लिए अच्छा होगा।

सन् १९१९ में 'शासन-सत्ता' के विषय पर भाषण करते हुए लेनिन ने स्वेर्दलोफ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों से यह कहा था :

"...'शासन-सत्ता' का प्रश्न बहुत जटिल है। पूंजीवादी विद्वानों और लेखकों ने इस प्रश्न को और भी उलझा दिया है। इसलिए जो कोई भी इस समस्या को गंभीरता से समझना चाहता है या इस विषय पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक है कि सतत रूप से, प्रत्येक दृष्टिकोण से इसका अध्ययन और मनन करे। अगर प्रत्येक दृष्टिकोण से इस समस्या का समाधान या अध्ययन नहीं किया जायगा तो इसको स्पष्ट रूप से समझा नहीं जा सकता। शासन-सत्ता का प्रश्न राजनीति का आधारमूलक प्रश्न है, इसलिए इसका सामना बार-बार करना पड़ता है। वर्तमान समय के उथल-पुथल और संघर्ष के दिनों में ही नहीं वरन् शांति की अवस्था में भी किसी राज-

नीतिक या आर्थिक समस्या के संबंध में यह (शासन-सत्ता का) सवाल किसी भी दैनिक पत्र में उठता हुआ पाया जायगा।''

(मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सवाद, मास्को संस्करण, पृष्ठ ४२४)

पूंजीवादी विज्ञान के प्रतिनिधियों ने शासन-सत्ता के प्रश्न को किस प्रकार उलझाया है, इसके विषय में लेनिन ने कहा है :

''आज तक इस (शासन-सत्ता के) प्रश्न को प्राय: धार्मिक प्रश्नों के साथ उलझा दिया जाता है। केवल धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिनिधि ही ऐसा नहीं करते (उनसे तो इस बात की आशा आसानी से की जा सकती है) वरन् वे लोग भी जो अपने को धार्मिक भावनाओं से मुक्त समझते हैं, प्राय: शासन-सत्ता की विशेष समस्या को धार्मिक प्रश्नों से उलझा देते हैं और सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर एक ऐसे जटिल सिद्धान्त की रचना करते हैं जिसके अनुसार शासन-सत्ता एक दैवी या अलौकिक वस्तु मानी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन-सत्ता वह शक्ति है जिसके सहारे मानव-समाज जीवित रह सका है —यह कोई ऐसी शक्ति है जो जनता को कुछ देती है या दे सकती है, यह शक्ति अपने साथ कोई दैवी या अलौकिक वस्तु लाती है—जिसको मानव-समाज में नहीं पाया जा सकता। यह शक्ति मानव-समाज को अपने अन्दर से नहीं वरन् बाहर से प्राप्त हुई है और इस प्रकार से यह शक्ति किसी दैवी-स्रोत से जन्मी है। यह कहना चाहिए कि शासन-सत्ता के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध समाज के शोषक वर्गों के स्वार्थों से सीधा जुड़ा हुआ है। सामन्त और पूंजीपति, समाज के शोषक वर्ग हैं। यह सिद्धान्त उनके स्वार्थों की सेवा करता है और इस सीमा तक सेवा करता है कि पूंजीपति सज्जनों तथा उनके प्रतिनिधियों की रूढ़ियों, विचारों और विज्ञानों में यह सिद्धान्त इतना व्याप्त हो गया है कि इसके अंश सर्वत्र दिखायी देते हैं। यहां तक कि उन 'मेन्शेविकों' और 'समाजवादी क्रान्तिकारियों' के 'शासन-सत्ता' सम्बन्धी सिद्धान्तों में भी इस सिद्धान्त की छाया मिल सकती है, जो इस बात से सर्वथा इंकार करते हैं कि वे धार्मिक भावनाओं से प्रभावित हैं और इसका दावा करते हैं कि शासन-सत्ता के प्रश्न को वे गंभीर दृष्टिकोण से देख सकते हैं। चूंकि इस समस्या का प्रभाव सीधे रूप से शासक वर्गों के स्वार्थों पर पड़ता है इसीलिए इसको इतना जटिल और उलझनों से भरा हुआ बना दिया गया है (केवल इस अंश में इस समस्या की तुलना आर्थिक विज्ञान की नीवों की समस्याओं से की जा सकती है)।''

(मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सवाद, मास्को संस्करण, पृष्ठ ४२५)

क्या हमारे देश के मेन्शेविक और सोशलिस्ट इसको ध्यान से पढ़ेंगे?

विद्यार्थियों को यह बताते हुए कि इस समस्या का समाधान किस प्रकार से करना चाहिए, लेनिन ने कहा :

''जहां तक संभव है वहां तक इस समस्या पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले राज्य की उत्पत्ति और विकास के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय। समाज-विज्ञान की किसी समस्या का विश्वस्त ढंग से समाधान करने के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु समस्या के मूल में ऐतिहासिक संबंधों को स्पष्टता से देखना है। इसके द्वारा वास्तव में समस्या को ठीक दृष्टिकोण से देखने की आदत पड़ जाती है और अपने को विवरणों की सघनता में अथवा मतभेदों की उलझनों में खोने से बचाया जा सकता है। किसी भी समस्या को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने के लिए परमावश्यक है कि उस समस्या के अन्दर निहित ऐतिहासिक संबंधों को न भूला जाय। प्रत्येक समस्या का विश्लेषण इस दृष्टिकोण से करना चाहिए कि किसी गोचर पदार्थ या तत्व (Phenomenon) का जन्म इतिहास में किस प्रकार से हुआ है, अपने विकास-पथ में इस तत्व ने कितने क्रमों को पार किया है, और तब उसकी प्रगति के दृष्टिकोण से इसकी परीक्षा करनी चाहिए कि उस तत्व का आधुनिक रूप क्या है?''

(**मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सवाद**, मास्को संस्करण, पृष्ठ ४२६)

आगे चल कर लेनिन ने फिर कहा :

''मैं आशा करता हूं कि शासन-सत्ता की समस्या का समाधान करने के लिए आप एंगेल्स की पुस्तक **परिवार, निजी संपत्ति और शासन-सत्ता की उत्पत्ति** का परिचय अवश्य प्राप्त करेंगे। आधुनिक समाजवाद की मूल पुस्तकों में से यह एक है।''

(**मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सवाद**, मास्को संस्करण, पृष्ठ ४२६)

इसलिए, जैसा पाठक देखेंगे, यह पुस्तक एंगेल्स के उपर्युक्त ग्रंथ का अनुसरण करते हुए लिखी गयी है। भारतीय इतिहास के संबंध में उन्हीं विषयों को लिया गया है जिनके बारे में दुर्भाग्य से अपने विख्यात ग्रंथ की रचना करते समय एंगेल्स को यथेष्ट सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी थी।

इन ''दो शब्दों'' में मैं न तो उन ग्रंथों के विषय में विवाद करने की इच्छा रखता हूं जिनका उपयोग मैंने किया है और न उन अनेक मित्रों को धन्यवाद देने की बात ही उठाना चाहता हूं जिन्होंने पुस्तकें आदि देकर अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है। इस काम को मैं इस ग्रंथ के 'द्वितीय भाग' के लिए स्थगित करता हूं—अगर कभी उसे समय के प्रकाश को देखने का अवसर प्राप्त हो सका।

श्रीपाद अमृत डांगे

भूमिका

भारतीय इतिहास के अध्ययन की आधुनिक प्रवृत्तियां

विश्व के उन देशों में से भारत एक है जो बहुत प्राचीन समय में ही मानव की संस्कृतियों का केन्द्र बन गया था। विश्व के उन सात देशों की एक सी संख्या द्वारा प्रतीत होती है। यह समानता इस बात से भी मालूम होती है कि तीनों गणों को बारी-बारी से गाय दी गयी थी। चौथी विशेषता यह है कि जितना भी उत्पादन इस तरह से हुआ था उसको एक साथ मिला दिया गया और तीनों गणों ने मिलकर इस उत्पादन का उपभोग किया जिसको यज्ञ कहा गया है। इससे अधिक और स्पष्ट रूप में सामूहिक यज्ञ उत्पादन और वितरण प्रणाली का वर्णन नहीं किया जा सकता।

अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि उत्पादन की इस यज्ञ-प्रणाली में पूरा साम्य-संघ दिन प्रति दिन कौन-कौन से काम या परिश्रम करता था? सत्र परिश्रम की विशेष क्रियाशीलताओं को आसानी से सोमयोग के अग्निष्टोम, षडांग क्रतु और देव सत्र के आधार पर समझा जा सकता है।

आदिम साम्य संघ एक बहुत छोटी इकाई थी। ठीक उसी तरह से जैसे हम पोलीनेशियन कबीलों के झोपड़ों की छोटी बस्तियों में या भारत के कुछ गांवों में आज भी पाते हैं। इस साम्य-संघ का प्रमुख धन पशु था। इसलिए उनकी सुरक्षा का प्रबंध खास तौर से किया जाता था। पत्थरों का बाड़ा उनके लिए बनाया जाता था। पत्थरों का बाड़ा कभी-कभी इतना बड़ा बनाया जाता कि पूरी बस्ती को वह घेर लेता था। उनको अश्मव्रज कहते थे। प्राचीन यूरोप में उसी के समान पत्थरों के बाड़े होते थे। समिध नाम की जलाई जाने वाली लकड़ी से प्रज्वलित अग्नि उनके जीवन का केन्द्र थी। लकड़ी के बने एक चतुर्भुज आकार[1] में, जिसकी लम्बाई ४८ फीट और चौड़ाई ३६ फीट थी, यह अग्नि रखी जाती थी। साम्य-संघ के लिए यह लकड़ी का बाड़ा सब की रसोई घर का भी काम देता था। उसी के निकट साम्य-संघ का एक घर और होता था जिसमें दूध के बर्तन, दही, घी, अन्न आदि रखे जाते थे। एक विशेष संस्थान की रचना भी की जाती थी जहां पर वह वनस्पति या घास रखी जाती थी जिससे सोमरस निकलता था। उसी संस्थान में सोमरस निकाला जाता था और उसे उठाया जाता था। उसको पीने के लिए विशेष बर्तन होते थे जिनको 'ग्राह' कहते थे, वे भी वहीं रखे जाते थे। साम्य-संघ के लिए उस स्थान पर सोमरस निकाला जाता था। सबके लिए एक साथ बैठने

ही नहीं हैं, वरन् संस्कृतियों का अंश बन कर आज जिन वस्तुओं का भी अस्तित्व हम देखते हैं—विज्ञान, दर्शन, राजनीति, आदि—वे सब हमारी संस्कृति में एक दिन थीं और उनको हम जानते थे। यदि कान्ट एक महान दार्शनिक था तो हमारा शंकराचार्य उससे महान दार्शनिक था। अगर साहित्य की रचना में शेक्सपियर श्रेष्ठ था तो हमारा कालीदास उससे भी अधिक महान साहित्यकार था। अगर तुम्हारे पास राजनीति में रूसो की लिखी हुई पुस्तक **सामाजिक करारनामा** (Social Contract) है तो हमारे पास भी वैसी पुस्तकें हैं। हमारे भारत में वायुयान, रेलगाड़ियां और विस्फोटक आदि सब वस्तुएं थीं। और यह सब वस्तुएं हमारे पास उस समय थीं जब अंग्रेज या योरपीय-निवासी रीछों की खालों से अपने शरीर को ढंकते थे।

था जिनका निर्माण अन्यत्र लोग नहीं कर सके—और न भविष्य में कर ही सकेंगे। इस प्रकार उसने इस बात से इंकार कर दिया कि कोई उसका नाश कर सके।

अंग्रेज-शक्ति के विरोध में संघर्ष करने के लिए भारतीय इतिहास को इस उग्र रूप में लिखना, निस्सन्देह, उपयोगी था। लेकिन भारतीय राष्ट्रवादी को जहां इस इतिहास ने एक प्रकार का नैतिक साहस दिया वहां प्राचीनता के विषय में उसने एक मिथ्या मूल्यांकन की भावना भी सौंप दी। इस कारण वह प्रत्येक पुरानी वस्तु को आदरणीय और श्रद्धेय मानने लगा—चाहे वर्तमान में वह वस्तु अहितकारी अथवा प्रगति-विरोधी क्यों न हो गयी हो।

इतिहास के विद्यार्थी आज उन लाखों शब्दों को पढ़ कर अपना मनोरंजन कर सकते हैं जिनका उपयोग इस प्रकार के विवादों में हुआ करता था—जैसे शिवाजी के हाथों से अफजल खां का मारा जाना नैतिक था अथवा अनैतिक, क्या वह एक साधारण 'हत्या' थी, अथवा किसी छल-योजना द्वारा उसे मारा गया था, अथवा युद्ध के अवसर की वह यथोचित हत्या थी? भारत के ब्रिटिश शासकों का यह मत था कि भारत वैधानिक जनवादी संस्थाओं के योग्य नहीं है। इस मत के खंडन में श्री जायसवाल ने अपना विख्यात ग्रंथ **प्राचीन हिन्दू-गणतंत्र** लिखा। उसमें उन्होंने यह सिद्ध किया कि प्राचीन भारत में 'गण-राज्यों' और 'स्वायत्त लोकतंत्रवादी राज्यों' का अस्तित्व था। अंग्रेज अपने को यूनान और रोम की प्राचीन संस्कृति का उत्तराधिकारी समझते थे, इसलिए उन संस्कृतियों को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और प्राचीन सभ्यता में अपने को तथा मिश्र और पैलेस्टाइन को सर्वप्रथम बतलाते थे। **महाभारत** में भी कोई अर्थ या तत्व है, इसको वे मानते ही नहीं थे। हिन्दुओं के **वेद** प्रामाणिक इतिहास लेख हैं, अथवा उन यूनानियों के इतिहास से भारत का इतिहास प्राचीन है जिनके सिकन्दर ने भारत के कुछ भागों पर एक दिन विजय प्राप्त की थी—यह भी वे नहीं मानते थे।

हमारे विद्वानों को कठोर तपस्या और संघर्ष करना पड़ा। अपनी संस्कृति की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए हमारे पास प्रिस्से के हस्त-लेख, गीजेट के पिरामिड, जो यथार्थ में एक भारी प्रमाण हैं, अख्नातेन और तुतनखामेन के युगों पुराने सुरक्षित शव तथा उर और बेबीलोन में खुदाई के बाद निकले हुए प्राचीन नगर नहीं थे। विदेशी शासक का नृपुरातत्व (आर्किलाजिकल) विभाग इन बातों में कोई ज्यादा रुचि नहीं रखता था। शासन सत्ता अथवा देश के धनियों से बिना किसी प्रकार की सहायता पाये हुए हमारे इतिहासकारों ने अपनी सामग्री को एकत्रित करने के लिए बहुत परिश्रम किया। राजाओं के ताम्र-पत्र जिन पर ब्राह्मणों को दिये हुए दान अंकित थे, प्रस्तर लेख, मुद्रा तथा उन लेखों—जैसे अशोक-स्तंभ में लिखे मिलते हैं—का संकलन उन विद्वानों ने किया जिससे वे अपने अतीत को प्रकाश में ला सकें। धार्मिक ग्रंथों में प्राप्त

ज्योतिष सम्बन्धी निरीक्षणों ने हमारी ऐतिहासिक स्मृति को ईसा पूर्व तीन हजार वर्षों से लेकर चार हजार वर्षों तक की प्राचीनता में पहुंचा दिया था। लेकिन इन निरीक्षणों को इतिहास का विश्वास प्राप्त नहीं हो सका था।[1]

परन्तु अन्त में एक यथार्थ नगर का पता लगा और उसे खोदा गया। यह नगर सिंध प्रदेश में मोहंजोदाड़ो स्थान पर मिला था। उसके निरीक्षण के आधार पर यूरोपीय शासकों को भी यह मानना पड़ा कि इस स्थान पर ईसा पूर्व तीन हजार वर्षों की प्राचीन संस्कृति के चिन्ह मिलते हैं। तब यह जैसे प्रमाणित हो गया कि हम लोग मिस्र, यूनान, रोम, चाल्डी आदि के निवासियों से कम प्राचीन नहीं हैं। इसलिए हमारा देश एक प्राचीन देश है, हमारी जनता प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान द्वारा वृद्धिमान है, हमारे पास एक महान स्मृति है। इसलिए हममें जीवित रहने की शक्ति है, हम संघर्ष कर सकते हैं और आगे—प्रगति के पथ पर—बढ़ सकते हैं।

हमारे लिए यह संभव नहीं है कि हम पूरे इतिहास सम्बन्धी साहित्य का निरीक्षण करें अथवा हम उन असंख्य त्यागों की चर्चा करें जिनको हमारे विद्वानों ने अपने देश के प्राचीन इतिहास की क्रमबद्ध रचना करते समय किया था। तिलक, राजवाड़े, रानाडे, जायसवाल, पओगी, कुन्ते, भण्डारकर, केतकर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने (जिनमें कुछ यूरोपीय विद्वान भी सम्मिलित हैं)—जिनकी पूरी सूची देना यहां पर संभव नहीं है—भारतीय इतिहास की रूपरेखा को लेखबद्ध करने में यथेष्ट कार्य किया है। कुछ मात्रा में प्रकृत सामग्री भी प्रकाशित हुई है। किन्तु अभी तक अधिकांश सामग्री केवल एक लक्ष्य को ही सामने रख कर उपस्थित की गयी है—यूरोपीय (अंग्रेज) लेखकों के भारतीय इतिहास सम्बन्धी मतों का खंडन करना। इस प्रकार से इतिहास-लेखन राष्ट्रीय संघर्ष का एक अस्त्र था जिसका प्रयोग उन्नीसवीं सदी के हमारे लेखकों ने लक्ष्य-परक हो कर किया।

उनके लिए इतिहास का अर्थ केवल उस निरपेक्ष यथार्थ या सत्य की खोज मात्र ही नहीं था जिसकी खोज अभी तक नहीं हो सकी थी, और अगर खोज हो भी गयी थी तो उसका गलत उपयोग हो रहा था। उदासीन

[1] तिलक लिखित **ओरायन** (Orion) और दीक्षित लिखित **वेदांग ज्योतिष** देखिए। अनेक लेखकों के वे लेख भी देखिए जिनमें महाभारत युद्ध की तिथि अथवा वेदों की तिथियों के विषय में विवाद किया गया है। यूरोपीय लेखकों ने वेदों के लिए सबसे अधिक प्राचीन समय ईसा पूर्व १५०० वर्ष और महाभारत युद्ध के लिए ईसा पूर्व १००० वर्ष बताया है। जब कि दूसरी ओर, वे लोग सुमेरी, मिस्र-देशीय तथा अन्य पुरातन संस्कृतियों को ईसा पूर्व ४००० वर्षों से लेकर ६००० वर्षों तक का मानते हैं।

भाव से यह यथार्थों की खोज भी नहीं थी। ऐसा लगता था मानो ये यथार्थ किसी सेना की सुरक्षा-पंक्ति के समान युद्ध में खड़े कर दिये गये थे। निस्सन्देह, वे सत्य और यथार्थ थे, किन्तु उनको इस प्रकार से व्यक्त किया गया था कि वे शत्रु से संघर्ष कर सकें।

अफजल खां मारे गये थे—यह एक सत्य घटना है। किन्तु इस घटना को उपयुक्त भूमिका से सम्बन्धित करते हुए अगर व्यक्त किया जाय और अंग्रेजों की भांति यह तर्क न दिया जाय कि शिवाजी एक कपटी और छली व्यक्ति थे, सब मराठे उन्हीं की तरह के थे और उनकी नैतिकता पतित थी, तभी उसका सत्य व्यक्त हो सकता है। अशोक स्तंभ एक सत्य है, एक यथार्थ है, और उसकी आयु यह व्यक्त करती है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले हम इतने अच्छे गुणों का प्रचार करते थे और इतने सुंदर साम्राज्य के निवासी थे। पांच हजार वर्ष पहले मोहंजोदाड़ो में स्नानागार थे, पक्के खपरैलों का उपयोग होता था, और एक नगर का निर्माण हो सका था। इसलिए ऐसा न कहो कि जब तक तुमने यहां आकर हम लोगों को शिक्षा नहीं दी थी तब तक हम सभ्य नहीं थे और तुम्हारे बिना हम फिर सभ्य नहीं रह सकते।

उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरंभ में हमारे विद्वानों के लिए इतिहास लेखन साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रवादी संग्राम का एक सैद्धांतिक अस्त्र था—अथवा यों कहें कि इतिहास लेखन प्राचीनता, परंपरा, पुरातन शक्ति और बुद्धि के आधार पर स्वाधीनता के अधिकार की रचना था। अपने पाठकों में विदेशी आक्रमणकारियों को चुनौती देने के लिए वह प्रेरणा भरता था और उन्हें आक्रमणकारियों के सामने कायरतावश झुकने नहीं देता था। जिस प्रकार प्राचीन युगों में हम विजयी हो कर अपने को जीवित रखने में सफल हो सके थे उसी प्रकार भविष्य में विजय प्राप्त करने और जीवित रहने का विश्वास उससे प्राप्त होता था।

लेकिन इतिहास के प्रति इस दृष्टिकोण ने विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध एक आत्मविश्वास और नैतिक साहस पैदा करने के सिवा और कुछ नहीं किया।

इस स्थान पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि ये विद्वान किन लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और किन लोगों में ये नैतिक साहस और आत्मविश्वास जगा रहे थे? इतिहास का यह एक यथार्थ है कि भारतीय जनता के प्रमुख बहुसंख्यक भाग ने प्रथम विश्व-युद्ध के बाद वाले पहले आर्थिक-संकट के समय तक कभी भी ब्रिटिश शक्ति के विरुद्ध क्रांतिकारी आन्दोलनों में भाग नहीं लिया था। सन् १६०५ के संकट तक जो बुद्धिजीवी राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे वे संघर्ष की प्रेरणा और नारों को देने के लिए जनता में प्रवेश नहीं कर सके थे। निम्न-पूंजीवादी नेतृत्व और उदार पूंजीपति—जो ऐतिहासिक कृतियों के द्वारा अपने विचार प्रकट कर रहे थे—अभी तक डोमीनियन व्यवस्था (Dominion Status)

के लक्ष्य की रचना करने में लगे हुए थे, यानी इस लक्ष्य के द्वारा वे अपने को सत्तारूढ़ साम्राज्यवादी पूंजीपति के पद तक उठाने की योग्यता और अधिकार का निर्माण कर रहे थे। उसी प्रकार की आर्थिक-व्यवस्था तथा वैधानिक धारासभा व्यवस्था आदि को अपने साथ वे भी रखना चाहते थे।

भारतीय इतिहास की शिक्षाओं का प्रयोग यहां के उठते हुए पूंजीपति वर्ग तथा उसके बुद्धिजीवियों ने अपने वर्ग और राष्ट्रीय हितों तथा उद्देश्यों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए किया——इसको उस युग के लेखकों और उनकी कुछ प्रतिनिधि रचनाओं में स्पष्टता से देखा जा सकता है। भारतीय पूंजीपति स्वयं अपने लक्ष्य को एकमत होकर समझ नहीं पाये थे——इस स्तर तक उनकी चेतना का विकास नहीं हो सका था। उनकी दुर्बलताएं, आत्मविरोध और परस्पर-विरोधी राजनीतिक लक्ष्य इतिहास संबंधी लेखों में उस समय उभर कर व्यक्त होने लगते थे जब ब्रिटिश शक्ति के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष के **साधन** और **साध्य** का प्रमुख प्रश्न उठाया जाता था। जहां तक आज की दरिद्रता और पतन की तुलना में भारत की प्राचीनता, परम्परा, प्राचीन धर्म और बुद्धिमत्ता के विषय में इतिहास के निष्कर्ष निकले थे उनको सब लोग एकमत से स्वीकार करते थे; लेकिन जब यह प्रश्न उठाया जाता कि वर्तमान संघर्ष में प्रयुक्त होने वाले सामाजिक और राजनीतिक अस्त्रों को किस ऐतिहासिक युग के शस्त्रागार से लें, तो पूंजीपति और उसके बुद्धिजीवी विभक्त होकर बिखर जाते थे। अपने प्राचीन अतीत के विषय में जो एकमत दिखायी पड़ता था वह खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाता था। ऐतिहासिक यथार्थों, व्यक्तियों और युगों को नये ढंग से अध्ययन करने के बाद दो प्रमुख दृष्टिकोणों से लिखा गया :

पहला : साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की समस्याओं को सुलझाने के संबंध में प्रत्येक पूंजीपति गुट के अपने राजनीतिक लक्ष्य के अनुसार;

दूसरा : भारत में सामंती-जमींदार और पूंजीपति के संयुक्त शोषक वर्ग का जो दृष्टिकोण देश की असंख्य शोषित जनता——जो विदेशी साम्राज्यवादी और देशी राष्ट्रवादी दोनों पूंजीपतियों के लिए बंधन में पड़े दास के समान थी——के प्रति होता था, उसके अनुसार।

अंग्रेज जाति की विजय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए साधन और क्षेत्र पाने की समस्या इस प्रश्न को भी सामने ला देती थी कि मुगलों और मराठों को पराजित करने में अंग्रेज क्यों सफल हुए? विशेष कर मराठा शक्ति को वे कैसे पराजित कर सके? मराठों के साथ ही अंग्रेजों को अन्तिम गंभीर युद्ध लड़ने पड़े थे जिनको जीत कर उन्होंने भारत पर अपना पूरा अधिकार कर लिया था। अंग्रेजों से पहले भारत पर विजय प्राप्त करने वाली शक्ति मुगलों की शक्ति थी। लेकिन मराठों ने शिवाजी के नेतृत्व में इस शक्ति को हरा दिया था। तब मराठा शक्ति अंग्रेजों के मुकाबले में क्यों असफल रही, जब कि यह मराठा शक्ति मुगलों के मुकाबले में सफल रही थी? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर यदि समुचित रूप

से दे दिया जाय तो इस बात का भी यथेष्ट और यथार्थ उत्तर मिल सकेगा कि नव-विजेताओं की पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए हम किन साधनों का प्रयोग करें? इतिहास लेखकों ने इन प्रश्नों का अध्ययन बहुत गंभीरता और उत्साह के साथ किया। मराठा-मुगल संबंधों की स्मृति अभी लोगों के मस्तिष्कों में ताजी थी क्योंकि वे संबंध समाज के यथार्थ का अभी तक अंश बने हुए थे; इसलिए मध्य-वर्गी बुद्धिजीवियों और राष्ट्रीय-पूंजीवादी अखबारों ने इस समस्या के विवाद में यथेष्ट ध्यान लगाया।

ऐतिहासिक सामग्री के अभाव और विदेशी शासकों की बाधाओं ने इतिहास के अध्ययन में काफी रुकावटें डालीं। इतिहास के विद्यार्थियों को मराठा दरबारों के प्रामाणिक लेखों तथा दूसरे प्रमाण-पत्रों को नहीं देखने दिया गया। मराठों और मुगलों के खण्डहरों पर जिनके महलों का निर्माण हुआ था, अपने नये स्वामियों में जिनकी अपार भक्ति थी, और जिन्हें दूषित उपायों द्वारा शासन का अधिकार हासिल हुआ था, उन राजघरानों ने अपने शासन के अधिकार के छिन जाने के भय से अपने पास के प्रामाणिक लेखों को दिखाने से इंकार कर दिया। बड़े सामंती जमींदार और पुराने रईस इतिहासकारों को दूर ही रखते थे। क्योंकि ये तीनों ही इस बात से भयभीत थे कि उनके अधिकार में जो सामग्री है, उसका ज्ञान कहीं जनता को न हो जाय, और उनके अतीत का सारा रहस्य कहीं प्रकाश में न आ जाय। फिर भी इतिहास के विद्यार्थियों ने धैर्य और परिश्रम के द्वारा यथेष्ट ऐतिहासिक सामग्री का संकलन किया। और तब वास्तविक संघर्षण और द्वन्द्वों का प्रारम्भ हुआ।

भारतीय इतिहास लेखकों द्वारा अपने इतिहास की प्रथम चर्चा के बहुत पहले ही अंग्रेज लेखकों ने भारतीय इतिहास को उस सामग्री के आधार पर लिखा था जो उन्हें अपनी विजय और लूट के समय प्राप्त हो गयी थी। एलफिस्टन, ग्रांट डफ, ब्रिग्स, टॉड, मोरलैण्ड आदि विद्वानों ने अपने ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की थी, उन्हीं ग्रंथों के द्वारा दुनिया के अन्य देश भारतीय इतिहास का ''ज्ञान'' प्राप्त कर रहे थे।

इन लेखकों के बाद जो भारतीय लेखक आये उनको आरम्भ ही इस बात से करना पड़ा कि अंग्रेज इतिहासकारों के मिथ्या प्रचार तथा भारतीय इतिहास और घटनाओं का गलत भूमिका में अध्ययन करने का खंडन करें। पर जब स्वयं अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने की समस्या आयी तो उनके निष्कर्ष कम जटिल और अप्रशंसनीय नहीं हुए। उनके कुछ निष्कर्ष अवश्य ऐसे थे जिनका प्रयोग उदारदलीय पूंजीपतियों ने बाद में अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए किया।

विशाल खोज-संबंधी प्रकाशित सामग्री को अलग रख कर यदि हम कुछ प्रतिनिधि ग्रंथों को उठा कर देखें तो हमें सरलता से यह मालूम हो सकता है कि पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने भारतीय इतिहास को किस दृष्टि से देखा था, जिसके संबंध में उनको यह विश्वास था कि अपने नये शत्रु के विरोध

में होने वाले भविष्य के संघर्षों में वह दृष्टिकोण उनका पथ-प्रदर्शन कर सकेगा।

बम्बई हाई कोर्ट के जज, महादेव गोविंद रानाडे ने **मराठा शक्ति का उदय** नामक ग्रंथ लिखा। इसमें उन कारणों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी थी जिनसे शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति का जन्म हुआ था। पेशवाओं की पराजय की शतवर्षी के अवसर पर सन् १९१८ में विख्यात लेखक और उदारदलीय विद्वान श्री एन.सी. केलकर ने **मराठा और अंग्रेज** नामक ग्रंथ लिखा जिसमें मराठों पर अंग्रेजों की विजय के कारणों का विश्लेषण किया गया था। श्री बी. के. राजवाड़े ने पानीपत में मराठों की पराजय, शिवाजी के उत्थान की मूल-शक्ति, मराठा दरबारों में जाति-द्वेष और व्यक्तिगत कूटनीतियां, अंग्रेजों के अस्त्र और उनका रण कौशल आदि विषयों पर विशाल सामग्री को अनेक जिल्दों में संकलित किया था। मेजर बसु ने **भारत में ईसाई शक्ति का उत्थान** नामक ग्रंथ लिखा। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के विषय में अनेक ग्रंथ लिखे गये। इन विशेष लेखकों ने जो निष्कर्ष निकाले थे उनसे हमें इसका ज्ञान होता है कि हमारे देश के उठते हुए बुद्धिजीवी इतिहास को किस दृष्टि से समझ रहे थे—वे निष्कर्ष जो भावी संघर्षों के पथ-प्रदर्शक बनने वाले थे।

महादेव गोविंद रानाडे के मतानुसार मराठों के उत्कर्ष के मूल कारण सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के साधु संत और उनके चलाये हुए पंथ थे जिन्होंने धार्मिक उत्साह से भारतीय समाज में स्थापित भ्रष्ट पुरोहितशाही पर आक्रमण किया था। रानाडे ने धर्म को इतिहास की मूल उत्प्रेरक शक्ति के रूप में देखा और उस काल के भक्ति संप्रदायों की तुलना यूरोपीय सुधार आन्दोलन से की जो कैथोलिकवाद (रूढ़िवादी धर्म—अनु.) के विरुद्ध उठा था और जिसके फलस्वरूप यूरोप में नये राज्यों और समाजों की रचना होने लगी थी। हां, यह आवश्यक था कि शिवाजी जैसी व्यक्ति-प्रतिभा का सहयोग इसे प्राप्त हो। राजवाड़े और अन्य विद्वान भी धर्म को मूल उत्प्रेरक शक्ति मानते थे किन्तु उन व्यक्तियों के विषय में मतभेद रखते थे (जैसे रामदास अथवा शिवाजी आदि) जिनसे राष्ट्र को नया जीवन प्राप्त हुआ था। मराठा जाति की विशेष प्रतिभा, जो उनके अनुसार महाराष्ट्र धर्म में व्यक्त हुई थी, को भी इतिहास की मूल उत्प्रेरक शक्तियों में से एक माना गया। परन्तु जब उन कारणों की खोज की गयी जिनसे मराठे अंग्रेजों से पराजित हुए थे तो उस समय धर्म के पतन को पराजय का मुख्य कारण नहीं माना गया। धर्म के पतन को संभवत: इसलिए कारण नहीं माना गया कि अंग्रेज भी यह विश्वास करते थे कि ईसाई धर्म की दीक्षा और ईश्वर का आशीर्वाद ऐसी शक्तियां नहीं थीं जिन्होंने उनको सागर की लहरों में उतार दिया हो और भारत देश को उनकी गोद में डाल दिया हो। श्री केलकर ने उस एकता के तत्व के अभाव को जिसे राष्ट्रीय देश-प्रेम कहते हैं और मराठा जाति की उस विशेषता को, जिसके कारण व्यक्तिगत पृथकता के प्रति उसका अत्यंत प्रेम था, इस पराजय का प्रमुख कारण

निर्धारित किया। अंग्रेजों के पास न तो राष्ट्रीय भावना का अभाव था और न वे व्यक्तिगत पृथकता से प्रेम करते थे इसलिए वे विजयी हुए। किसी ने इसको समझाने का प्रयास नहीं किया कि अंग्रेजों में ये गुण सत्रहवीं और अठारवीं सदी में कहां से आ गये जब कि इन गुणों के अस्तित्व का कोई बाहरी चिन्ह पहले की सदियों में नहीं दिखायी देता जैसा कि उनके इतिहास से प्रमाणित होता है। श्री बसु ने अपने प्रभावशाली ग्रंथ में अंग्रेजों की विजय का कारण उनमें सत्य का सर्वथा अभाव तथा भ्रष्टाचार और छल-कपट का व्यापक व्यवहार बताया। भारतीय शासक दुर्भाग्यवश इसका मुकाबला नहीं कर सकते थे। इस प्रकार से इतिहास की पूरी गति को मनुष्य के विचारों तथा नेताओं और राजनीतिज्ञों की पाप या पुण्य की भावना से बांध दिया गया। असंख्य मेहनतकश जनता तथा उसके सामाजिक संगठनों की युगों को पार करती हुई गति को इतिहास के 'महापुरुषों', 'गुरुओं' अथवा 'अवतारों' के धार्मिक विश्वासों, नैतिक विचारों तथा पूर्वाग्रहों अथवा स्वैरता के अधीन कर दिया गया। कुछ विद्वानों ने इतिहास की मूल उत्प्रेरक शक्ति को असाधारण व्यक्तिगत प्रतिभाओं में और कुछ ने किसी जाति में निहित विशेषताओं में पाया।

लेकिन इन विचारों, मान्यताओं, नैतिक मूल्यों तथा विश्वासों का उद्भव, विकास, विनाश और पुनर्जन्म आखिर कैसे संभव हुआ? और एक देश के विचारों के एक समूह ने दूसरे देश के उन्हीं विचारों के समूह को कैसे पराजित किया? इन प्रश्नों को अवसर, घटना या भाग्य के सहारे पर छोड़ दिया गया। इसलिए, अन्त में, समाज को इस आशा से रहित ही छोड़ दिया गया कि वह अपने वर्तमान और भविष्य को योजनाबद्ध अथवा नियंत्रित कर सकता है।

इस रीति का अनुसरण करने वाले हमारे इतिहास-लेखक अपने उन विदेशी गुरुओं का अनुकरण मात्र कर रहे थे जिनके ज्ञान द्वारा उनका पालन-पोषण हुआ था। वे कार्लाइल, बर्क, बेनथम, ग्रीन और हीगेल के शिष्य थे। इतिहास के जिस भाग्यवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण को पूंजीवाद के इन दार्शनिकों ने अपने देश के इतिहास की रचना करते समय अपनाया उसको हमारे इतिहासकारों ने ज्यों का त्यों लेकर अपने इतिहास पर लागू कर दिया। भारत के इन विद्वानों ने इतिहास विज्ञान के उस पूंजीवादी दृष्टिकोण को अपनाने में संकोच नहीं किया जो उनके विजेताओं का दृष्टिकोण था क्योंकि भारत का समाज स्वयं छिन्न-भिन्न होकर नये सिरे से विजयी साम्राज्यवादी पूंजीपति देशों के समाजों के अनुरूप बनने लगा था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, ब्रिटिश-युग के निकटपूर्व के इतिहास का मंथन करने से यहां के उठते हुए पूंजीपति और उसके बुद्धिजीवियों को एक सामाजिक तथा राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति हो गयी थी। जो लोग सब दोषों को साधारण जनता के ऊपर ही लाद देते हैं उनका यह मत था कि देश के पुनरुद्धार के लिए आवश्यक शर्त यह है कि जनता के अंध-विश्वासों

और जाति-पांति के संकीर्ण विचारों को दूर किया जाय। जो यह विश्वास करते थे कि सामन्तवादी पृथकता (अथवा छिन्न-भिन्नता—अनु.) ही हमारी पराजय का मूल कारण था उन्होंने सामन्ती परिवार के गर्व और स्वार्थों से ऊपर उठ कर एक संगठित राष्ट्रीय देश-प्रेम के लिए आह्वान किया। उस समय साधारण जनता निष्क्रिय, मिट्टी की भांति, इच्छाहीन और संकल्पहीन थी इसलिए किसी महापुरुष, नेता अथवा अवतार के विचारों, आदर्शों के दृष्टान्त के अनुरूप निर्मित और चैतन्य हुआ करती थी—श्रद्धा, आदेशपालन और अनुसरण करने के अतिरिक्त इतिहास में उसकी और कोई भूमिका नहीं थी।

इतिहास के द्वारा जातीय गुटों के द्वेष और संघर्षों को भी उचित ठहराया जाता था। अ-ब्राह्मण दल यह प्रमाणित करते थे कि विजयी मराठों की पराजय उस समय हुई जब उनका नेतृत्व ब्राह्मणों अथवा पेशवाओं के हाथ में था। अतएव, हर उस आन्दोलन की सफलता संदेहजनक है जिसका नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में हो। कायस्थ ब्राह्मणों के विरुद्ध लड़ बैठते थे और ब्राह्मण उनके विरोध में प्राचीन इतिहास से दृष्टांत देते थे जिसमें संस्कृत भाषा-विज्ञान को भी अस्त्र की भांति प्रयोग में लाया जाता था। परिगणित (अछूत) जातियों ने अपने लक्ष्य का निर्माण कर लिया था। कोरगांव[1] के युद्ध से उनकी भूमिका का प्रारम्भ हुआ था—और अन्त में उन्होंने हिन्दू-सामन्ती व्यवस्था के सामाजिक एवं राजनीतिक धर्मशास्त्र **मनुस्मृति** को त्याज्य ठहरा दिया था।

इस प्रकार से अतीत के इतिहास का अध्ययन राजनीतिक दलों के वर्तमान नारों और लक्ष्यों को उचित ठहराने तथा उनकी सहायता करने के लिए किया जाता था। अतीत काल की विजयों एवं पराजयों की शिक्षाओं को वर्तमान के लिए सहायक माना गया। इससे यह स्पष्ट है कि पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने उस इतिहास का अध्ययन किस प्रकार से लक्ष्यपरक होकर एक निश्चित पक्ष के दृष्टिकोण से किया था जिसमें असंख्य साधारण जनता की भूमिका इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं थी कि वह किसी न किसी 'महापुरुष' के लिए कठिन परिश्रम और युद्ध करती रहे।

लेकिन अतीत के इतिहास के हमारे पूंजीवादी दार्शनिकों को और वर्तमान इतिहास के पूंजीवादी नेतृत्व को शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि वे परस्पर एक दूसरे को यथेष्ट सहयोग नहीं दे पा रहे हैं। राजनीतिक एवं सामाजिक वास्तविकताएं, इस समय के जन आन्दोलन **इतिहास में सर्वथा नवीन तत्व थे।** अतीत के अनुभवों द्वारा उनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। बाबर और अकबर, शिवाजी और पेशवा, सोलहवीं तथा

[1] इस युद्ध में अंग्रेजों से लड़कर पेशवाओं ने हार खायी थी। अंग्रेजों की 'महर' सेनाएं इस युद्ध में बड़ी शक्तिवान थीं और उन्हीं को अंग्रेजों की विजय का कारण माना जाता है।

सत्रहवीं सदी के साधु और संत, उनकी राजनीति और उनके समाज में, तथा विक्टोरिया और पामर्स्टन, चर्चिल और वाई. एम. सी. ए., तिलक और गांधी अथवा उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के मार्क्स, लेनिन और स्तालिन में परस्पर कोई भी समानता नहीं मिलती थी। उस समय वह इतिहास कहां था जो अपने निर्माताओं को भाप के इंजन और तार, दुनिया के बाजार और आर्थिक संकट, हड़ताल और क्रान्तियों से सहायता कर सकता? यह भी सत्य है कि उन दिनों में ऐसे साहसी प्रोफेसरों की कमी नहीं थी जिन्होंने ऋग्वेद में बैंक व्यवस्था और ब्याज की दर को खोज निकाला था, बौद्ध-विहारों में विधान-सभा की परिपाटी के अनुसार मत देने की शैली का पता भी लगा लिया था, चाणक्य के अर्थशास्त्र में व्यापारिक संगठन और मूल्य-नियंत्रण को भी खोज लिया था। परन्तु सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता इन प्रयासों पर हंस देती थी। हमारे युग की विश्व-व्यापी विशाल पूंजीवादी औद्योगिक क्रांति एक ऐसी वास्तविकता थी जिसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता। मंडियों और कच्चे माल पर अधिकार करने, तथा पूंजी लगाने और ऊंचा मुनाफा कमाने के लिए विश्व भर में पूंजीपतियों के आवागमन ने पहली बार विश्व को एक इकाई के रूप में बदल दिया। आधुनिक साम्राज्यवाद और उसकी विजय, सिकन्दर, बाबर, चंगेज खां और मराठों की विजयों से सर्वथा भिन्न थीं। उसी प्रकार से प्राचीन और मध्य युग की मेहनतकश जनता ने आधुनिक युग के उस विश्व-सर्वहारा के शक्तिशाली कार्यों को स्वप्न में भी नहीं देखा होगा जो शासक-वर्ग में परिणित होने के लिए और सदा के लिए विश्व समाज को दरिद्रता से बाहर निकाल कर उसे वैभवशाली और संपन्न बना देने के लिए आगे बढ़ रहा है। सर्वथा नवीन शक्तियां, नये वर्ग और नयी जनता अस्तित्व में आ गये थे जिनका पथ प्रदर्शन करने के लिए, जिनको समझने के लिए, भारतीय या विदेशी पूंजीवादी इतिहासकारों का इतिहास-विज्ञान कोई भी नियम दे सकता था। पुराने लेखक जिस राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते थे वह प्रथम महायुद्ध के संकट के उपरान्त राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्षों में सजीव पथ-प्रदर्शक का विषय नहीं रह गया जब कि भारत विश्व-क्रांति की सीमाओं के अन्दर खिंच चुका था और उसकी मेहनतकश जनता ने लोकतांत्रिक क्रांति का झण्डा उठा लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में जितनी ऐतिहासिक सामग्री लिखी गयी उसकी तुलना में पिछले बीस वर्षों के अन्दर भारतीय इतिहास को लेकर शायद ही कोई प्रमुख इतिहास ग्रंथ लिखा गया है। इतिहास की साहसिक, वैज्ञानिक और क्रांतिकारी समझ के स्थान पर दृष्टिहीन व्यक्तियों ने यह समझा कि उन्होंने असाधारण दृष्टि पा ली है जब कि उनको अध्ययन करने के लिए केवल उलझी हुई और चपल **इतिहास की झलक** तथा 'भारत के प्राचीन गौरव' पर निश्वासें ही प्रदान की गयीं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि इतिहास-संबंधी काम बिल्कुल बंद हो गया

था। ऐसे इतिहासकार और इतिहास संबंधी संस्थाएं थीं जो सामग्री के संकलन में, खोज संबंधी काम करने में और उस सामग्री का ठीक अर्थ निकालने में परिश्रम कर रही थीं। किन्तु साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए अतीत से प्रेरणा और लक्ष्य लेने की आवश्यकता उस अध्ययन की मूल उत्प्रेरक शक्ति नहीं रह गयी थी। पूंजीपति के नेतृत्व में चलते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन ने राजनीतिक लक्ष्य के रूप में ''वैधानिक मांगों'' का और आर्थिक लक्ष्य के रूप में उसी साम्राज्यवाद की सहकारिता में राष्ट्रीय उद्योगों को विकसित करने की स्वतंत्रता को अपना लिया था। इस क्षेत्र में अशोक और अकबर के लेखों अथवा पेशवा के दफ्तर की अपेक्षा उनके लिए आयरलैंड, अमरीका और इंगलैंड के इतिहास अधिक उपयोगी थे। इतिहास-संबंधी खोज में लगे हुए दरिद्र विद्वान, बिना किसी सरकारी अथवा अपने पूंजीपतियों के सहयोग के किसी प्रकार अपनी जीविका को कठिनता से चलाते रहे।

लेकिन यदि राजनीतिक इतिहास का प्रभाव क्षीण हो रहा था, तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद और पूंजीवादी-राष्ट्रीयता के संकट से एक नयी परिस्थिति का विकास हो रहा था जो इतिहास को नये ढंग से अध्ययन करने के लिए आह्वान दे रही थी। समाज की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में वर्गों के संबंध का प्रश्न उठा कर अथवा सामाजिक क्रांति के सम्पूर्ण आन्दोलन का प्रश्न उठा कर, **सामाजिक इतिहास** इस समय पूंजीपति और उसके बुद्धिजीवियों का ध्यान अपनी ओर खींच रहा था।[1]

साम्राज्यवाद से लड़ता हुआ राजनीतिक इतिहास अपना लक्ष्य पूरा कर चुका था—उसका लक्ष्य एक सर्वमान्य राष्ट्रीय नारे का विकास करना था। यह काम बहुत सरलता से उस आदर्शवादी दृष्टिकोण से संपन्न हो सकता था जिसको इंगलैंड और यूरोप के इतिहास के दार्शनिकों ने प्रदान किया था। भारत एक प्राचीन देश था जिसके पास अपनी एक संपन्न आर्थिक व्यवस्था थी, उसके पास अपने महापुरुष और राजा, शासन-सत्ताएं, युद्ध और युगों से प्रचलित विधान भी थे। उन सबका अस्तित्व भारत में फिर होना चाहिए था।

अपने नये उद्योग-धन्धों और कृषि का तथा अपनी नयी संस्कृति और राष्ट्रीयता का निर्माण करने के लिए भारत प्रयास कर रहा था। इस निर्माण में साम्राज्यवादी शासक वर्ग को बाधा नहीं डालनी चाहिए। पर वह बाधाएं

[1] उदाहरण के लिए, वे ग्रंथ जो भारत की जातियों और उपजातियों, शासन-सत्ता की उत्पत्ति, विवाह संबंध का इतिहास, प्राचीन भारत में शिक्षा-पद्धति, महाभारत के युग में बैंकिंग, कानून, भूमि-कर और सामाजिक संगठन, प्राचीन व्यापार और उत्पादन का काम, हिन्दू और अरब निवासियों के बीच सांस्कृतिक संबंध आदि विषयों पर घुर्ये, दत्त, बेणी प्रसाद, राजवाड़े, भार्गव, अलतेकर, घोषाल, वैद्य, फिक आदि विद्वानों ने लिखे।

डाल रहा था—इसलिए नयी रीति से इसके विरुद्ध संघर्ष करना आवश्यक हो गया था।

नयी रीति यह थी कि ब्रिटिश आक्रमणकारियों के विरुद्ध देश के उन तमाम लोगों की एकता स्थापित की जाय जो इस सार्वजनिक शत्रु का सामना कर रहे थे। जब तक विदेशी साम्राज्यवादी शासन को उखाड़ नहीं फेंका जाता तब तक किसी की भी उन्नति संभव नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति तथा देश के प्रत्येक हित के पास ब्रिटेन-विरोधी होने के लिए कारण थे—इसलिए उनको ब्रिटेन विरोधी होना चाहिए था। अतएव, सब हितों और सम्पूर्ण जनता के सामने, साम्राज्यवादियों को उखाड़ फेंकने के लिए राष्ट्रीय-स्वाधीनता का एक लक्ष्य और एक स्वर होना चाहिए था। यदि साम्राज्यवादियों को उखाड़ फेंका जा सका तो अपने लोकतंत्र की छाया में सम्पूर्ण जनता, मजदूर, किसान, मध्यमवर्ग, पूंजीपति और जमींदार तथा देश के सब अन्य प्राणी सुख और स्वाधीनता से रह सकेंगे।

किन्तु, अपनी स्वाधीनता को ऐसे शत्रु के हाथों से लेने के लिए जिससे कोई समझौता नहीं हो सकता था, वे शक्तियां चाहिए जो अपने को संघर्ष के क्षेत्र में उतार सकें, अपने जीवन और सर्वस्व की बाजी लगा सकें। ऐसी शक्तियां कहां थीं?

बुद्धिजीवी और पूंजीपति तर्क देते हुए यह कहते थे कि धर्म, जाति, लिंग, वर्ग, और पेशे से निरपेक्ष प्रत्येक भारतीय को साम्राज्य-विरोधी होना चाहिए, और वह साम्राज्य-विरोधी तथा स्वाधीनता का प्रेमी है इसलिए त्याग करने के लिए भी उद्यत है। इसका अर्थ यह था कि सैद्धान्तिक रूप से इस देश का प्रत्येक निवासी एक क्रांतिकारी शक्ति था क्योंकि विदेशी साम्राज्यवाद हर एक के लिए अहितकर था।

कुछ समय के लिए भारत की मेहनतकश जनता ने राष्ट्रीयता के इस तर्क को स्वीकार कर लिया जो वर्ग-स्वार्थ, जाति-स्वार्थ तथा अन्य संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थों के परे थी।

लेकिन स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता और स्वाधीनता-आन्दोलन का यह चित्र असत्य था।

सब वर्ग और सब हित क्रान्तिकारी नहीं थे। वास्तव में कुछ ऐसे भी थे जिनकी राष्ट्रीय स्वाधीनता पा जाने से हानि हो सकती थी। इसलिए यद्यपि वे भारतीय थे फिर भी साम्राज्य-विरोधी हित उनके पास नहीं थे। कुछ हित ऐसे भी थे जो आक्रमणकारी अंग्रेजों के विरुद्ध तो आग उगलते थे पर जैसे ही मजदूर या किसान यह मांग करते कि मिल-मालिक के समान, बल्कि उससे भी अच्छे भारतीय होने के नाते अपने परिश्रम और उस संपत्ति के बदले में, जिसको वे उत्पन्न करते थे, वे भी सुघर जीवन बिताने के अधिकारी हैं तो वे ही देशभक्त 'नियम और व्यवस्था' के नाम पर अंग्रेजों की संगीनों की शरण लेते थे। उस समय उनकी देशभक्ति कहां होती थी? और उनका हित कहां होता था? अपने लाभ की रक्षा करने में अथवा राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राप्त करने में?

इतिहास के अनुभव तथा जीवन के यथार्थ ने असंख्य मेहनतकश जनता को धीरे-धीरे यह सिखा दिया कि राष्ट्र नामक सामाजिक संगठन सामंजस्य-पूर्ण नहीं है जिसमें एक भाईचारा और एक हित निवास करता हो। वह आन्तरिक विरोधों और परस्पर विरोधों से परिपूर्ण है।

इन अन्तर्विरोधों का आधार क्या था? ये किस मूल-स्रोत से उत्पन्न होते थे? क्या वे धर्म, जाति, शिक्षा आदि से उत्पन्न होते थे? नहीं! वह मूल स्रोत इस प्रकार का नहीं था। ये नये प्रकार के अन्तर्विरोध थे जो वर्ग-विभाजन के आधार पर टिके हुए थे। समाज वर्गों से बना हुआ था, जिनका स्वरूप धन के उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया में उन वर्गों की भूमिका के द्वारा नियंत्रित होता था। धन का यही उत्पादन और वितरण राष्ट्र का आधार था। इनमें से कुछ वर्ग ऐसे थे जिनका लाभ साम्राज्यवादियों के साथ मित्रता करने में था—जैसे वे जमींदार या तालुकेदार जिनकी उत्पत्ति अंग्रेजों की विजय के द्वारा हुई थी। कुछ वर्ग ऐसे थे जिनका लाभ साम्राज्यवादियों से विरोध करने में था—जैसे पूंजीपति—क्योंकि साम्राज्यवादी इस पूंजीपति के विकास में बाधा डालते थे, और वह परिश्रमी जनता का शोषण पूर्ण रूप से नहीं कर पाता था। कुछ वर्ग ऐसे थे जो ब्रिटेन और भारत दोनों के पूंजीपतियों के विरोध में अपना हित देखते थे—क्योंकि वे दोहरे शोषण में पिस रहे थे। वे तब तक पूर्ण रूप से स्वाधीन नहीं हो सकते थे जब तक हर प्रकार के शोषण का अन्त न हो जाता। इस प्रकार केवल किसान और मजदूर वर्ग ही क्रांतिकारी वर्ग थे। नगरों के बड़े उद्योग-धंधों में लगे हुए मजदूर इस सत्य का अनुभव करने लगे थे। और राष्ट्रीय-पूंजीपति, जिनका हित केवल इस बात में था कि देश के परिश्रम का सारा लाभ वे आत्मसात कर लें और अंग्रेज पूंजीपति—जो उसके विकास में बाधक था—के समान शक्तिशाली और महान हो जायें, इस उठते हुए नये वर्ग को देखकर भयभीत होने लगे थे।

इसलिए राष्ट्रीय आजादी के मोर्चे पर मजदूर वर्ग ने स्वाधीनता के स्पष्ट चित्र की मांग उठायी। सर्वतोमुखी स्वाधीनता और अपने अस्तित्व के अधिकारों की मांग को भी उसने उठाया। उसने यह जानना चाहा कि किस प्रकार से अपने देश के श्रमिकों का आर्थिक शोषण करने के लिए कुछ वर्ग विदेशियों के साथ मिल जाते हैं और शोषितों का दमन करने के लिए उन विदेशियों की संगीनों का सहयोग भी लेते हैं? क्या राष्ट्रीय-पूंजीपति, राष्ट्रीय आन्दोलन के आगे खड़े होकर अपने लाभ के अंश के लिए मोल-भाव नहीं कर रहे थे? और क्या वे इस प्रकार क्रांति के विकास को रोक नहीं रहें थे? तो क्या राष्ट्रीय-संघर्ष, वर्ग-संघर्ष का ही एक अंश था? क्या सभी राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्षों का वर्ग-आधार होता है? श्रमिक वर्ग ने पूंजीवादी बुद्धिजीवियों से और अपने बीच से निकलते हुए नये नेतृत्व से, कम्युनिस्टों से, इन प्रश्नों का उत्तर मांगा।

यूरोप महाद्वीप में, जहां पर पूंजीपति और जनता के पास राष्ट्रीय-

स्वाधीनता थी, यही प्रश्न भिन्न रूप में उठाया गया था। जब सामन्ती तालुकेदारों और राजाओं की सत्ता नष्ट कर दी गयी, स्वेच्छाचारी शासन का ध्वंस हो चुका, उत्पादन की महान शक्तियों का विकास हो गया, और मशीनों से अतुल धन की वर्षा होने लगी, तथा लोकतंत्र मत द्वारा यह निर्णय होने लगा कि शासन-सत्ता किन लोगों के हाथों में होनी चाहिए, वहां पर बेकारी का संकट जनता के ऊपर क्यों छा जाता था? उस संपन्नता और वैभव के बीच में धनिकों को छोड़ कर श्रमिक जनता और पूरे समाज पर अकाल की दशा क्यों व्याप्त हो जाती थी? इस संकट से बाहर निकलने का कौन सा मार्ग था? वहां उस समय नये इतिहासकार और इतिहास के दार्शनिक उत्पन्न हुए जिन्होंने श्रमिक-वर्ग के लिए इन प्रश्नों का उत्तर दिया। वे समस्या के मूल तक गये और उन्होंने अपने से प्रश्न किया—एक युग से लेकर दूसरे युग तक मानव-समाज ने किस प्रकार उत्पन्न होकर अपना विकास किया है? उसकी उत्पत्ति और विकास, उसकी गति और क्रांति की उत्प्रेरक मूल शक्तियां क्या हैं? पूंजीपति का विज्ञान इन प्रश्नों का उत्तर देने में असफल रहा था। वे तो यह कह चुके थे कि धनी और निर्धन, शासक और शासित, बलवान और दुर्बल, नेता और अनुयायी, महापुरुष और उनके भक्तों की समस्या चिरंतन है—और वह इसी प्रकार रहेगी। यह सब मानव का अपना भाग्य है, उसकी सृष्टि का मूल शाप है अथवा ईश्वर की इच्छा है।

श्रमिक वर्ग ने इस निष्कर्ष को अस्वीकार कर दिया। कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने सामाजिक प्रगति के इतिहास का विश्लेषण किया और उस नियम को खोज निकाला जिसके अनुसार इतिहास का विकास होता है : यह ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रसिद्ध नियम था, और इसकी इतिहास की समझ द्वंद्वात्मक तथा भौतिकवादी थी।

इस नियम अथवा सिद्धांत के अनुसार समाज का विकास, वह अवस्था जिनके बीच लोग अपने को पाते हैं या जिसका वे निर्माण करते हैं, किसी एक मनुष्य, महापुरुष अथवा अवतार के अच्छे या बुरे विचारों से नहीं पैदा होती; और न प्राकृतिक-भौगोलिक वातावरण या ईश्वर की इच्छा से ही वह (अवस्था) उत्पन्न होती है। इतिहास न तो कोई पूर्व-नियंत्रित यांत्रिक गति है और न पानी की चरखी की तरह चक्कर में घूमने वाली ही गति है, जो मानव नामक ऐतिहासिक गधे के परिश्रम द्वारा भरी या खाली की जाती हो। मानव का विकास भौतिक प्रकृति से हुआ है, और जीवित रहने के लिए उसको उससे (प्रकृति से) संघर्ष करना पड़ता है। सबसे पहले उसे भोजन, आश्रय और वस्त्रों आदि के लिए संघर्ष करना पड़ा। यह उसकी प्राथमिक क्रियाशीलता थी। इस क्रियाशीलता में उसकी अवस्था का निश्चय उत्पादक शक्तियों, औजारों तथा उत्पादन-साधनों द्वारा हुआ जिनका विकास उसने स्वयं किया था। मनुष्य सामाजिक मानव के रूप में प्रकट होने लगा और उसके समाज का ढांचा—यानी एक दूसरे के साथ उसके संबंध—मूल रूप से उत्पादक शक्तियों द्वारा नियंत्रित होने

लगे। ये संबंध उत्पादन के संबंध होते थे। एक विशेष समाज किसी विशेष युग में अपनी उत्पादन-प्रणाली के अनुसार ही पहचाना जाता है और उसी विशेषता (उत्पादन-प्रणाली की विशेषता) के आधार पर अन्य समाजों से पृथक किया जा सकता है। यही विशेषता (उत्पादन-प्रणाली) समाज की राजनीति, नैतिकता, दर्शन, भावना, कला आदि के स्वरूपों का निश्चय करती है। ये सब वस्तुएं उस आधार से जन्म लेती हैं जिसको समाज की उत्पादन-प्रणाली कहा जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक बार उत्पन्न होने के उपरांत ये वस्तुएं स्वयं आधार को प्रभावित नहीं करतीं अथवा उनकी कोई स्वतंत्र भूमिका या मूल्य नहीं होता। उनका स्वतंत्र मूल्य होता है। समाज के ढांचे को बदलने, सुधारने अथवा आमूल परिवर्तन करने में ये वस्तुएं सहायक होती हैं। लेकिन एक शर्त पर ही ऐसा हो सकता है कि यह आधार, अर्थात् उत्पादन शक्तियां, परिवर्तन के लिए परिपक्व हो चुकी हों।

''इतिहास में मुख्यतः पांच प्रकार के उत्पादन-संबंधों का उल्लेख किया जाता है—प्राचीन पंचायती, दास-प्रधान, सामंतवादी, पूंजीवादी और समाजवादी।''[1] क्रमानुसार पहली व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में प्रवेश कर मनुष्य ने प्रगति की है और अपने को जीवन और चिन्तन के अधिक ऊंचे स्तर पर ले गया है। एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में मनुष्य की प्रगति क्रांति और संघर्ष के द्वारा हो सकी है। प्रथम अवस्था में समाज वर्गों में विभक्त नहीं था, उसमें निजी संपत्ति, वर्ग-संघर्ष, धनी और निर्धन, शासन-सत्ता, राजा और आन्तरिक गृह-युद्ध नहीं थे—लेकिन कबीलों में परस्पर युद्ध बड़ी संख्या में होते थे। उत्पादन के साधनों में जैसे-जैसे वृद्धि होती गयी वैसे-वैसे निजी संपत्ति और वर्गों का उदय होता गया। उस समय से पूरा इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है जिसके द्वारा दास-समाज, सामन्ती-समाज, पूंजीवादी-समाज और अंत में समाजवादी समाज की—जिसमें उत्पादक-शक्तियों और सामाजिक संपत्ति के उच्चतम विकास के आधार पर वर्गों का सदा के लिए लोप कर दिया जाता है—स्थापना हुई! तब इतिहास एक अंध वर्ग-संघर्ष मात्र नहीं रह गया और मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का सम्पूर्ण स्वामी बन गया। उत्पादन के आधुनिक साधनों ने इसको संभव और अनिवार्य बना दिया था।

समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में आरम्भ हो गये थे। वह वर्ग जो इस ऐतिहासिक कार्य को पूरा करने में सफलता प्राप्त करेगा वह उत्पादन में अपनी प्रमुख भूमिका के कारण श्रमिक वर्ग होगा।

मार्क्सवाद ने इतिहास की उस भावना का नाश कर दिया जिसके अनुसार वह घटनाओं या विचारों का उलझा हुआ संकलन मात्र होता था

1 **सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास**, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ १३०।

और उसके स्थान पर उसे विज्ञान के स्तर तक पहुंचा दिया—उसे एक ऐसे नियम में परिणत कर दिया जिसकी परीक्षा हो सकती थी और जो मनुष्य को वर्तमान एवं भविष्य की योजनाओं को बनाने की चेतना सौंप सकता था, भाग्य और दुर्दशा को नष्ट कर सकता था।

इस सिद्धांत के अनुसार जहां शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थीं वहां यूरोपीय श्रमिक वर्ग ने अनेक देशों में क्रांति को सफल बनाया और सोवियत संघ तथा समाजवाद की स्थापना कर श्रमिक मानवता के लिए पथ-प्रशस्त किया।

इस सिद्धांत के अनुसार आधुनिक युग में यूरोपीय, अमरीकी तथा अन्य राष्ट्रों द्वारा भारत या उसके समान अन्य देशों को विजित करना उन देशों के पूंजीपतियों के हितों की विजय थी। उनको अपने उत्पादन के लिए मंडियों की तथा पूंजी का निर्यात करने और शोषण के लिए नये क्षेत्रों को प्राप्त करने की आवश्यकता थी। श्रम के आधार पर बढ़ती हुई छोटी पूंजी बाजार में अपने ही वर्ग-भाइयों को प्रतियोगिता (Competition) द्वारा नष्ट कर अपने को एकत्र कर लेती थी व साधनों का केन्द्रीकरण करते हुए विश्व-व्यापी विशाल एकाधिकारों (Monopolies) में परिणत होकर उपनिवेशों पर विजय प्राप्त करती थी। उस उपनिवेश को जीतने के बाद, जहां पर पहले से पूंजीवादी व्यवस्था न हो, वह फिर उन्हीं संबंधों को जन्म देती थी। वहां पर वह उस राष्ट्रीय पूंजीपति को जन्म देती थी जो एकाधिकारी साम्राज्यवादी विजेताओं से प्रतियोगिता द्वारा संघर्ष करते हुए "लाभ के लोक में जीवित रहने भर के लिए स्थान" के अधिकार की मांग उठाता था। उसके साथ ही क्रांति के वाहक श्रमिक-वर्ग का भी जन्म होने लगता था। इससे राष्ट्रीय संघर्ष का श्रीगणेश हो जाता था। लेकिन श्रमिक वर्ग और श्रमिक जनता अपने जीवित रहने के अधिकार को जब सामने रखती थी तब राष्ट्रीय पूंजीपति जनता को छोड़कर साम्राज्यवादियों के पक्ष में जा मिलता था और उनसे समझौता कर अपनी जनता के विरोध में खड़ा हो जाता था, यानी दासता और शोषण से वास्तविक मुक्ति पाने के लिए, और समाजवाद में प्रवेश करने के लिए किये गये विद्रोहों का वह दमन करता था।

जब किसी देश का श्रमिक वर्ग अपनी ऐतिहासिक भूमिका की चेतना के स्तर तक विकसित हो जाता है और अपने नये सिद्धांतों के अनुसार संगठित होने लगता है तब पूंजीपति हिंसा द्वारा उसका दमन करने के अलावा उसे अपनी विचारधाराओं से हर तरह से भ्रष्ट और दूषित करने का प्रयास करता है। उसको भ्रष्ट करने का एक साधन यह भी है कि उसको **असत्य या मिथ्या इतिहास** की शिक्षा दी जाय। उसके सामने इतिहास का एक ऐसा चित्र रखा जाय जो उसको पूंजीपति का पिछलगुआ बना दे, उसे इस बात पर विश्वास करने के लिए बाध्य कर दिया जाय कि पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की रक्षा इसलिए करनी चाहिए

क्योंकि वह सबसे अच्छी, अनिवार्य, शाश्वत, चिरंतन, ईश्वर द्वारा दी हुई, सबसे अधिक नैतिक और सुखी व्यवस्था है। इतिहास और भावी समाज के विषय में कम्युनिस्टों की चिन्तना को पूंजीवादी यह कह कर उपस्थित करते हैं कि यह अयथार्थ, अनैतिक, अवास्तविक, अस्वाभाविक, मानव प्रकृति-विरोधी और ध्वंसकारक है। इस काम को करने के लिए पूंजीवादी बुद्धिजीवी इतिहास के अध्ययन को फिर से आरम्भ करते हैं, सामाजिक प्रगति के आदर्शवादी चित्र से श्रमिक वर्ग को सम्मोहित करने की चेष्टा करते हैं और सामाजिक प्रगति के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी चित्र को अस्वीकार करते हैं।

सन् १९२०-३० के बाद जब भारतीय श्रमिक वर्ग राष्ट्रीय पूंजीपति के विरुद्ध अपने झण्डे, अपने नारे, अपनी पार्टी और अपने कार्यक्रम को लेकर सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष के मैदान में उतरा और उसने यह प्रश्न किया कि वास्तव में राष्ट्र का निर्माण किसने किया है और किसके लिए लोकतंत्र अथवा स्वाधीनता का अस्तित्व होगा, तब पूंजीपति और उसके बुद्धिजीवियों ने भारतीय इतिहास को लेकर उसके असत्य रूप से श्रमिकों को भ्रष्ट करने का काम संभाल लिया था।

भारत में उठते हुए कम्युनिस्ट आन्दोलन के विरोध में इस सैद्धान्तिक तर्क का प्रयोग पूंजीवादियों ने किया था कि योरप तथा अन्य देशों में कुछ भी हुआ हो लेकिन भारत और उसकी संस्कृति, उसकी जनता और उसका इतिहास अपने में विशेष वस्तुएं हैं और उनका कोई भी स्पष्टीकरण मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धांतों द्वारा नहीं हो सकता।

अपने सिद्धांत को सत्य प्रमाणित करने के लिए उन्होंने **वेद, स्मृति, उपनिषद, महाकाव्यों और पुराण** की कथाओं का प्रयोग किया जिनके अनुसार एक शक्तिशाली जाति-व्यवस्था, सिंहासनों पर सन्त राजाओं की सत्ता, और वनों में भ्रमण करने वाले राजर्षि हजारों वर्षों से भारतीय विशेषता के रूप में स्थापित थे--अन्यत्र ऐसा कभी नहीं हुआ था। इन विशेषताओं के आधार पर वे कम्युनिस्टों से प्रश्न करते थे--तुम्हारे ऐतिहासिक भौतिकवादी नियम के अनुसार ये सब वस्तुएं कहां हो सकी हैं? भारत में कोई भी पुरातन-साम्यवाद, सामूहिक संपत्ति तथा मातृ-सत्ता, और साम्य-संघ (कम्यून) नहीं थे। उन साम्य-संघों के टूटने और निजी संपत्ति, शासन-सत्ता, वर्ग, वर्ग-संघर्ष, दासता तथा सामन्तवादी व्यवस्था के उदय होने का कोई इतिहास उसके पास नहीं है, जिनको तुम ऐतिहासिक प्रगति के क्रम मानते हो। हां, यह अवश्य सत्य है कि आज हमारे इतिहास में पूंजीवाद आ गया है--जो अंग्रेजों और उनकी मशीनों द्वारा दी गयी एक दूषित व्यवस्था है परन्तु फिर भी हमारे पूंजीवाद में अपने विशेष भारतीय गुण वर्तमान हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि हम भी वर्ग-संघर्ष और क्रांति के द्वारा समाजवादी व्यवस्था को लाने का प्रयास करें। हमारे पास 'गांधीवादी समाजवाद' का एक नया सिद्धांत होगा जो तुम्हारे कम्युनिज्म अथवा ऐतिहासिक भौतिकवाद के

सिद्धांत को उसी प्रकार से भविष्य में भी मिथ्या प्रमाणित कर देगा जैसे भारत की विशेष नियति ने उसे अतीत काल में असत्य प्रमाणित कर दिया था।

और अब भारत के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास का अध्ययन और लेखन इस दृष्टिकोण से किया जाने लगा है जिससे वर्ग-संघर्ष को अस्वीकार किया जा सके और वर्ग-शांति अथवा समन्वय तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष की सान्त्वना द्वारा शोषित वर्गों को दरिद्रता और शोषण का भार उठाने के लिए बाध्य किया जा सके।

इंगलैंड और अमरीका के पूंजीपतियों ने इतिहास के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को दबाने के लिए बहुत कठिन प्रयास किया। सबसे पहले तो उन्होंने इसे मिथ्या घोषित किया। पर जब इस घोषणा को सफलता नहीं मिली तो उन्होंने इस दृष्टिकोण को भ्रष्ट और दूषित करने की कोशिश की। पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में लगातार आने वाले संकटों ने उसके बुद्धिजीवियों को मनुष्य और उसके समाज में सामाजिक-आर्थिक क्रिया-शीलता की प्रधानता को स्वीकृत करने पर बाध्य किया। सोवियत संघ में संकटों के अभाव और विश्व की पूरी जनता के ऊपर इसके प्रभाव ने पूंजीवाद को इसके लिए बाध्य किया कि वह भी वर्ग-संघर्ष और समाज-वाद को अपने इतिहास के दर्शन का एक भाग स्वीकार कर ले। किन्तु इसको स्वीकार वे इसलिए करते थे कि उसे दूषित और पराजित करने में सफल हो सकें। वे वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—यह भी मानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था अधिक कल्याणकारी है, परन्तु वे वर्ग-संघर्ष के इस तर्क-संगत निष्कर्ष को अस्वीकार करते हैं कि संघर्ष द्वारा पूंजीपति की सत्ता को नष्ट कर श्रमिक वर्ग को शासन-सत्ता पर आरूढ़ करना चाहिए—जिसका अर्थ होता है शोषक वर्गों के विरुद्ध श्रमिक वर्ग का एकाधिपत्य तथा श्रमिक जनता के लिए पूर्णतम जनवाद की स्थापना। इसी के द्वारा उत्पादन के सब साधन—भूमि और कारखाने—समाज के हाथों में आ सकते हैं और समाजवाद तथा ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना हो सकती है जो शांति और संपन्नता से पूर्ण हो।

वे वर्ग-संघर्ष के इन राजनीतिक और आर्थिक निष्कर्षों को अस्वीकार करते हैं जो इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति (Dialectics) के अनिवार्य निष्कर्ष हैं। श्रमिक वर्ग के लक्ष्य को आज वे इसलिए स्वीकार करते हैं जिससे वे उस वर्ग के मर्मस्थान में कीट की भांति प्रवेश कर व्यवहार में उसकी रणनीति और कार्यनीति को निष्फल करते हुए उसके आक्रमण से अपने वर्ग-शासन की रक्षा कर सकें। भारतीय इतिहास के आधार पर खड़े होकर वे कहते हैं कि हमारे देश में ऐतिहासिक परिवर्तन सदैव आध्यात्मिक विश्वास, शांति और सब वर्गों के द्वारा पाप तथा लोभ को तज देने के आधार पर सम्पन्न होता आ रहा है। भारतीय जनता, रूस अथवा फ्रांस की जनता नहीं है जिसके लोकतंत्र या समाजवाद की

और बढ़ते हुए संघर्षों के अनुभवों का उद्धरण आप देना चाहते हैं। इसलिए भारतीय वातावरण में यह आवश्यक नहीं है कि श्रमिक वर्ग की शासन सत्ता अथवा श्रमिक वर्ग के लोकतंत्र की स्थापना के बिन्दु तक वर्ग-संघर्ष को लगातार विकसित किया जाय। इसको सिद्ध करने के लिए वे मजदूरों और किसानों के पास हिन्दू और मुसलमानों के अतीत की उज्ज्वल और सुखदायी कथाओं को लेकर जाते हैं और कपट से उनके भविष्य को उनसे छीन लेने के लिए उनके वर्तमान अज्ञान और उनकी वर्तमान विचारधारा का उपयोग करते हैं।

इस प्रकार से अंग्रेजी युग के पश्चात् शासक-वर्ग ने इतिहास का प्रयोग फिर एक बार अपने स्वार्थ, संकीर्ण वर्ग-हित और अपने वर्ग के लक्ष्य को साधने के लिए किया।

आरम्भ में पूंजीवादियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध अपने वर्ग-हितों के लिए इतिहास का उपयोग राष्ट्र के नाम पर किया था, और ऐसा लगता था कि वे संपूर्ण जनता और उसके हितों को आगे बढ़ा रहे हैं। उठते हुए श्रमिक-वर्ग के आन्दोलन, और अपने स्वार्थी वर्ग-हितों को पाने के लिए जन-हित के साथ विश्वासघात के खुल जाने से भयभीत होकर वे इतिहास का प्रयोग सामाजिक क्रांति के विरुद्ध अपनी रक्षा करने के लिए और सामाजिक विकास के किसी गलत सिद्धांत के द्वारा उसे (सामाजिक क्रांति को) सैद्धांतिक रूप से निरस्त्र करने के लिए कर रहे हैं।

इस समय हमारा उद्देश्य आधुनिक इतिहास की उन राजनीतिक घटनाओं के विषय में विवाद करना या उनका मूल्यांकन करना नहीं है जो भारत में घटित हुई। हम इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि बदलते हुए राजनीतिक और सामाजिक वातावरण में इतिहास को किस प्रकार प्रतिक्रिया के हित में प्रयोग किया जा रहा है जब कि उसका उपयोग सामाजिक प्रगति के पक्ष में होना चाहिए था—जो उसका वास्तविक लक्ष्य है। अपने इतिहास के ही द्वारा मानव वन्य-अवस्था से सभ्य अवस्था तक पहुंचा है। और इतिहास के दर्शन का यह कर्तव्य है कि वह उस नियम का अन्वेषण करे जो युगों से चली आती हुई मानव समाज की इस प्रगति का नियंत्रण करता है, ताकि मनुष्य और अधिक ऊंचे स्तर पर उठ कर अधिक अच्छे संसार का निर्माण कर सके। भारत आज एक ऐसे युग में है जब उसके श्रमिक वर्ग को भारतीय जनता और विश्व-समाज के प्रति गम्भीर उत्तरदायित्व का सामना करना पड़ रहा है। उस उत्तर-दायित्व को पूरा करने के लिए श्रमिक वर्ग को इतिहास के पूंजीवादी दृष्टिकोण से अपने आप को तेजी के साथ इसके पहले अलग कर लेना होगा कि वह दृष्टिकोण जनता की जड़ों तक पहुंच जाय।

अभी तक ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास को लिखने की कोई गंभीर चेष्टा न तो की गयी है और न ऐसे दृष्टि-कोण का कोई गंभीर खण्डन ही हुआ है। यह सर्वविदित है कि भारतीय इतिहास के विषय में मार्क्सवादियों का अपना दृष्टिकोण है और वे उसको

ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष आदि के रूप में स्पष्ट करते हैं। किन्तु इसका कारण किसी मार्क्सवादी द्वारा लिखित भारतीय इतिहास के विषय में कोई अध्ययनशील ग्रंथ नहीं है वरन् इसका कारण मार्क्सवाद के मतों का सामान्य प्रसार और भारतीय इतिहास के आधुनिक विकास के कुछ ग्रंथ हैं।

पूंजीपति के सत्तारूढ़ होने के कारण भारतीय इतिहास को नये सिरे से भ्रष्ट करने की संभावना और बढ़ गयी है। पिछले कुछ वर्षों में पूंजीवादी विद्वानों ने प्रच्छन्न रूप से भारतीय इतिहास को भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रत्येक आक्रमण से बचाने की कोशिश की है। किन्तु दुर्भाग्य से, भारत की प्राचीनता का अस्तित्व, उसके सामाजिक संगठनों का चिर-स्थायित्व, उसकी अति प्राचीन ग्राम्य-जातियां तथा उसकी स्मृति और प्रमाण-लेखों ने इन इतिहासकारों के उद्देश्य को असफल कर दिया। विश्व में कहीं पर भी सामाजिक संगठनों के परिवर्तनों और क्रांतियों के विषय में इतने मौखिक-प्रमाण नहीं मिल सकते जितने हिन्दुओं में मिलते हैं। (विषय को समझाने और उसके प्रतिपादन की सरलता के लिए हम भारत के प्राचीन इतिहास को हिन्दुओं का इतिहास मान लेते हैं।) ये प्रमाण इतने स्पष्ट हैं और कभी-कभी उनकी स्पष्टता इतनी निर्मम हो उठती है कि भारतीय पूंजीपतियों के हिन्दू नेता उसकी सत्यता को अस्वीकार करने पर बाध्य हो जाते हैं। वे उनको मिथ्या घोषित करते हैं अथवा किसी प्रकार से उनको तोड़-मरोड़ कर अपनी रक्षा करते हैं। असंख्य विधियां, घटनाएं, उदाहरण, रूढ़ियां और नियम जो हिन्दू समाज के धार्मिक-सामाजिक साहित्य में लिखे मिलते हैं उनको स्पष्ट रूप से समझाने में पूंजीवादी इतिहासकार चकरा जाता है। विवाह के नियम, विचित्र लगने वाले वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा आदरणीय महापुरुषों और पवित्र पुरुषों की उत्पत्ति, संपत्ति, उत्तराधिकार और संपत्ति पर सार्वजनिक अधिकारों के नियम; राजाओं के आचरण; हिन्दू धर्मग्रंथों के अनुसार राज्य, संपत्ति और परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त पूंजीवादी इतिहासकारों को इस सीमा तक चक्कर में डाल देते हैं कि वे बहुत से धर्मग्रन्थों को काल्पनिक अथवा रूपक मात्र मानने पर बाध्य हो जाते हैं। ऐसे सामाजिक यथार्थों (केवल धर्म कथाएं ही नहीं) के सामने आ जाने के कारण, जो पूंजीवादी आदर्शवादी विचारों से मेल नहीं खाता, अनेक विद्वानों ने सम्पूर्ण महाभारत को काल्पनिक और रूपक कह कर अस्वीकार कर दिया है। यह मेरा दृढ़ मत है कि यदि हिन्दू धर्मकथाओं तथा धर्मशास्त्रों की विशाल सामग्री का अध्ययन और वर्गीकरण ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर किया जाय तो उससे भारत के प्राचीन इतिहास का नियमबद्ध और प्रमाण-संगत चित्र प्राप्त किया जा सकता है—यद्यपि वह चित्र हिन्दू पुराणपंथियों और पूंजीपति दर्शन की रुचि के अनुकूल नहीं होगा। तब यह स्पष्ट हो जायगा कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का नियम—वह नियम जिस के अनुसार युगों से चले आये मनुष्य के इतिहास

का निश्चय उत्पादक-शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों द्वारा होता है—भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य के लिए भी सत्य है।

भारतीय इतिहास के उस युग का प्रतिपादन करना और समझना सबसे अधिक कठिन है जिसमें पुरातन साम्यवादी व्यवस्था का अस्तित्व और उसका विभाजन हुआ था। उस युग के बाद ही निजी संपत्ति, वर्ग, वर्ग-संघर्ष, परिवार और शासन-सत्ता का उदय हुआ था। उसके बाद दासता के युग का प्रारंभ हुआ। इस युग की अवस्था से निकल कर विख्यात पूर्वीय ग्रामीण जातिगत-समाज और जातियों के आधार पर रचे गये एशियाई सामंतवाद के युग में प्रवेश करने के संक्रांति काल का उद्घाटन करना इससे अधिक सरल है। इन युगों का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने के पहले ऐतिहासिक भौतिकवाद की अत्यंत गंभीर समझ और मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा विस्तृत खोज की आवश्यकता है। हिन्दुओं के धर्मग्रंथों में इन प्राचीन युगों का जो वर्णन मिलता है उसका अध्ययन पूंजीवादी विद्वानों ने अत्यंत कष्ट सह कर भी किया है। उस युग के सामाजिक संगठन के विषय में परिचय देने के लिए उन्होंने धार्मिक-विधियों और धर्मकथाओं का ''समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण'' से अध्ययन किया। किन्तु, जिस प्रकार से वे विद्वान यूनानियों, रोमवासियों और ट्यूटन के विषय में उस समय तक असफल रहे जब तक कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने आकर पूरी सामग्री पर अधिकार कर इतिहास को उसके पैरों पर नहीं खड़ा कर दिया, उसी प्रकार से भारत में भी वे इतिहासकार असफल रहे हैं।

प्राचीन प्रामाणिक लेखों का समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने की चेष्टा में भी हिन्दू पुराणपंथियों और भारतीय पूंजीपतियों (हिन्दू-मुसलमान दोनों) ने बाधाएं डालीं, क्योंकि कुछ सामाजिक यथार्थ उनकी नैतिकता और आचार-शास्त्र के आधुनिक विचारों के प्रतिकूल पड़ते थे और इसलिए वे उनको अतीत के इतिहास का अंग नहीं मान सकते थे। वे इस बात की 'लज्जा' सहन नहीं कर सकते थे कि इस प्रकार की वस्तुओं का अस्तित्व उनके इतिहास में कभी था। जब प्रसिद्ध इतिहास-लेखक राजवाड़े ने **वेद, महाभारत, पुराण** तथा वर्तमानकालीन आदिवासियों के समाज में योरपीय लेखकों द्वारा की गयी खोज के आधार पर हिन्दू-जाति में विवाह और परिवार के विकास पर एक विशाल ग्रंथ लिखना आरंभ किया था तब महाराष्ट्र में हिन्दू-मराठी पत्रों और हिन्दू पुराण-पंथियों ने उस ग्रंथ के प्रकाशक और लेखक के विरुद्ध अपना कोप प्रकट किया था। वह ग्रंथ कभी पूरा नहीं हुआ और एक वर्ष बाद लेखक की मृत्यु हो गयी। वे न तो मार्क्सवादी थे, न भौतिकवादी थे और न अधार्मिक व्यक्ति ही थे। वे स्वयं एक परंपरावादी हिन्दू थे, परन्तु ऐतिहासिक यथार्थों और मतों को सबसे ऊंचा स्थान देते थे, यहां तक कि उनको

ईश्वर की अभ्रांतता से भी अधिक ऊंचा समझते थे।[1] वेदों को पूरी तरह से समझने का काम अभी पूरा नहीं हुआ है। जब तक विधि-शब्दों का अर्थ विधि-क्रियाओं द्वारा स्पष्ट न किया जाय तब तक वेदों को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता। विधि-क्रियाओं का ज्ञान परंपरा द्वारा केवल ब्राह्मणों को ही प्राप्त है और कुछ ही ब्राह्मण उनको जानते हैं। धीरे-धीरे उन ब्राह्मणों की संख्या भी कम होती जा रही है। जिनके पास साधन हैं उनके द्वारा इस पूरी सामग्री को एकत्रित कराना एक कठिन काम है।

ऐसी अवस्था में द्वंद्वात्मक भौतिकवादी पद्धति के अनुसार भारतीय इतिहास की सर्वांगीण रूपरेखा को उपस्थित करने की चेष्टा करना संभव नहीं है। लेकिन एक स्थूल रूपरेखा दी जा सकती है। वर्तमान में प्रकाशित ग्रंथों में उसके लिए यथेष्ट सामग्री उपलब्ध है।

पुस्तक के इस भाग में हम उस युग का वर्णन करेंगे जिसमें पुरातन साम्यवाद का अस्तित्व था, उसका विभाजन हुआ था और आर्यों के समाज में निजी संपत्ति, वर्ग, दासता तथा शासन-सत्ता का उदय हुआ था।

[1] 'प्राचीन भारतीय गण-संघ और लोकतंत्र राज्य' के विषय पर जायसवाल द्वारा लिखे गये प्रसिद्ध ग्रंथ की हस्तलिपि की चोरी और उसके प्रकाशन में डाली जाने वाली बाधाओं की कथा इतिहास के विद्यार्थियों को भली-भांति ज्ञात है।

अध्याय १

आर्यों का मूल-स्थान

आज जब हम भारतीय इतिहास के विषय में कुछ कहते हैं तो सबसे पहले निश्चित सीमाओं से घिरे हुए एक देश को जिसे भारत कहते हैं और उस देश के अन्दर निवास करने वाली संपूर्ण जनता को——उसका धर्म, जाति, पेशा या दर्शन कुछ भी हो——ध्यान में लाते हैं। भारत और उसकी जनता की वे सीमाएं जिनका अस्तित्व अंग्रेजों के शासन-काल में था, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के विभाजन के उपरांत नहीं रह गयी हैं। फिर भी भारतीय इतिहास उसी भारत का अर्थ व्यक्त करता है जो उत्तर, पूर्व और पश्चिम में तीन पर्वत-मालाओं से और नीचे की ओर पूर्व, पश्चिम और दक्खिन में दो महासागरों से घिरा हुआ है। आधुनिक भारत के इतिहास का आरंभ साधारण रूप से ब्रिटिश युग के प्लासी के युद्ध से माना जाता है। उससे पहले अथवा उसके साथ-साथ इतिहासकार मराठों के विषय में बातें कहते हैं। उसके पहले, लगभग १००० ईसा पश्चात् से मुगलों और मुसलमानों के आक्रमणों की बात उठती है। इन सब युगों में भारत के मानचित्र में हम उस पूरे भौगोलिक क्षेत्रफल को शामिल करते हैं जिसका अस्तित्व आज भी है। फिर भी लगभग सम्पूर्ण देश पर शासन करने वाली किसी केंद्रीय शासन-सत्ता का यथार्थीकरण अठारवीं सदी के मुगल और मराठा राज्यों के पहले नहीं हो सका था जिसके कारण यहां की जनता वास्तव में एक हिन्दुस्तान की बात कह सकती। अपनी पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक प्रणाली को लेकर अंग्रेजों ने एकता के इस विचार और भावना को यथार्थ में पूर्णता प्रदान की, यद्यपि यह यथार्थ बहुत सीमित और दूसरे आत्म-विरोधों से भरा हुआ था जिनका उल्लेख करने की यहां पर आवश्यकता नहीं है।

जैसे-जैसे हम उसके प्राचीन युगों में गहरे पैठते हैं, भौगोलिक और राजनीतिक दृष्टि से एक भारत का चित्र लगभग मिट-सा जाता है। अन्त में हम एक ऐसे युग में आ जाते हैं जहां पर जनसमूहों के विषय में तो चर्चा उठायी जा सकती है पर किसी देश के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह वह युग है जहां पर हम आदिम इतिहास की बात उठाते हैं। उस युग में मनुष्य गणों या कबीलों के रूप में संगठित हो कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता था। किसी प्रदेश पर अपना

अधिकार जताते हुए और बहुधा किसी भी प्रदेश पर अपना अधिकार न जताते हुए वे जाति संगठनों के रूपों में रहते थे और किसी विशेष देश के निवासी के नाम से वे अभिहित नहीं होते थे। यूनान और रोम के निवासियों का आरम्भिक इतिहास ऐसे ही गुणों और जनसमूहों का इतिहास है जो बाद में यूनान और इटली के इतिहास में परिणत हो गया—जिस रूप में उसे हम आज समझते हैं। उसी प्रकार से भारत का आरंभिक इतिहास, जैसा कि हम आज समझ सके हैं, मुख्य रूप से आर्य कबीलों और जनसमूहों का इतिहास है—बाद में जिनकी कथाएं एक देश के रूप में भारत का इतिहास बन गयीं।

एक या दो अपवादों को छोड़कर सभी इतिहासकार इसको मानते हैं कि आर्य भारत से बाहर किसी सामान्य प्रदेश से चल कर भारत में आये थे। आर्य जाति की कुछ शाखाएं पश्चिम में यूरोप, एशिया माइनर की ओर गयीं और कुछ पंजाब और कश्मीर के मार्ग से हिमालय को पार करके भारत में आयीं।

उनका वह एक सामान्य प्रदेश कहां पर था? कुछ लोगों का यह मत है कि वह प्रदेश उत्तरी ध्रुव के निकट आधुनिक साइबेरिया में कहीं पर था (इस मत का प्रतिपादन बाल गंगाधर तिलक ने किया था)। कुछ विद्वानों ने यह कहा कि यह प्रदेश वोल्गा नदी के तट पर, कैस्पियन सागर के आसपास कहीं था। आर्यों की धार्मिक कथाओं के कश्यप मुनि का तादात्म्य वे कैस्पियन सागर से करते हैं। कुछ लोग आर्यों के एक सामान्य गृह-प्रदेश के सिद्धांत को ठीक नहीं मानते। परन्तु यूरोप और एशिया की आर्य-भाषाओं के विभिन्न वर्गों में अति प्राचीन मूल शब्दों की समानता का प्रमाण तथा आरंभिक धर्म कथाओं की एकरूपता का आधार—जो मूल रूप में आरंभिक सामान्य जीवन और चिन्तना के प्रमाण लेख हैं—आर्यों के उस एक सामान्य गृह-प्रदेश के सिद्धांत का समर्थन करते हैं जहां से चल कर आर्यों ने अपना प्रसार किया था।

लेकिन किन कारणों से उनको अपना प्रसार करना पड़ा था? कुछ लोगों का मत है कि किसी महान प्राकृतिक उत्पात के कारण—जैसे जल-प्लावन, जिसका वर्णन प्राचीन यहूदियों, इसाइयों, यूनानियों, रोमनों और हिन्दू आर्यों की धर्म कथाओं में किया गया है—आर्यों का यह प्रसार हुआ होगा। इस जल-प्लावन के अलावा, स्वयं सामाजिक प्रगति की आवश्यकता, अन्न और चरागाहों की खोज में यायावरीय (घुमक्कड़) जीवन का विकास तथा युद्धरत गणों द्वारा एक-दूसरे का निष्कासन भी इस प्रसार के कारण थे।

यह प्रसार किस युग में हुआ था? कुछ विद्वानों के अनुसार ६००० ईसा पूर्व से लेकर ४००० ईसा पूर्व के बीच में यह घटना हुई होगी। इस समय को निर्धारित करने में बहुत अधिक मतभेद हैं। हम इस विषय में निश्चित होना चाहते हैं किन्तु वर्तमान ज्ञान के आधार पर यह सम्भव नहीं है।

इसके सिवा आदिम इतिहास अथवा प्रागैतिहासिक अज्ञात युग इतना विशाल है कि हजार अथवा उससे अधिक वर्षों का अनुमान-भेद हो सकता है। उन युगों की चर्चा हम शिवाजी की जन्मतिथि अथवा स्तालिनग्राद के युद्ध के समय की भांति नहीं कर सकते।

नृतत्व-वैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य का विकास एक आदिम-मानव-पशु से लगभग पांच लाख वर्ष पहले हुआ था। विभिन्न स्थानों में पाये गये अति-प्राचीन कंकालों और अस्थियों की सहायता से वे लोग उस विकास की पूरी रूपरेखा तैयार कर रहे हैं। संभवत: उष्ण कटिबंध के वनों में निवास करने वाले पशु को किसी प्राकृतिक संकट अथवा परिवर्तन के कारण वनों को छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा होगा। एक बार भूमि पर आ जाने के उपरान्त, अपने को जीवित रखने की आवश्यकता ने उसके शरीर को पिछले पैरों के बल सीधी मुद्रा में खड़े होने के लिए प्रेरित किया; और हाथों को रक्षा अथवा काम करने तथा भोजन छीनने आदि के लिए उन्मुक्त कर दिया। हाथों से उसने औजारों को बनाने की चेष्टा की। सीधे खड़े होने की मुद्रा को अपनाकर, औजारों को बनाने में हाथों को अभ्यस्त करते हुए तथा औजारों के द्वारा अपनी जीवन-अवधि की शक्ति और प्रगति को बढ़ाते हुए उसने अपनी मानसिक शक्तियों को विकसित कर लिया और वाणी को जन्म देने में सफल हुआ। इस प्रकार से वह आदिम-मानव-पशु, जो शिंपांजी या गुरिल्ला न होकर भी उनके समान ही रहा होगा, पूरे मानव में विकसित हुआ जो आज इस पृथ्वी का निवासी है। इस मानव-पशु के प्रारंभिक रूपों का नाश हो गया और वे विलीन हो गये। इधर-उधर अनेक स्थानों पर उनकी अस्थियां प्राप्त हो जाती हैं जिनकी सहायता से नृतत्ववेत्ता विकास की रूपरेखा तैयार करने की चेष्टा करते हैं।

उस प्राचीन युग और आर्यों के उद्गम के बीच इतिहास के हजारों वर्ष व्यतीत हुए होंगे। उस कहानी को लिखने के लिए अभी तक हमें कोई सामग्री नहीं मिल सकी है।

हिन्दुओं के प्रामाणिक लेखों में जिन आर्यों का वर्णन मिलता है वे निस्सन्देह रूप से वन्य-अवस्था के निवासी हैं—इस अवस्था के अर्थ को हम बाद में देखेंगे। परन्तु प्राचीनतम वन्य अवस्था के मनुष्यों से वे बहुत आगे थे। यद्यपि उस प्राचीन अवस्था की स्मृतियों के संकेत हमें उन धर्म-कथाओं में मिलते हैं जिनमें उस युग को याद करने की चेष्टा की गयी है।

यहां पर हम जिन आर्यों का अध्ययन करने जा रहे हैं वे मध्य एशिया में संघर्ष करते हुए अपने को भारत की दिशा में फैला रहे थे और आगे बढ़ा रहे थे। अन्त में उन्होंने भारत पर विजय पायी और वहां बसने लगे। वन्य-अवस्था से सभ्य-अवस्था तक उन्होंने किस प्रकार प्रगति की—इसको हम स्पष्ट करने की चेष्टा यहां करेंगे।

इस स्थान पर एक प्रश्न और उठता है जिसका उत्तर दे देने के बाद हम भारत में आर्यों के प्रवेश के विषय में लिखना आरंभ करेंगे।

क्या आर्यों के आने से पहले भारत में अन्य कोई जाति या जनसमूह

निवास करता था? उनकी क्या सभ्यता थी? और अगर आर्यों को उनसे युद्ध करना पड़ा था तो पराजितों की क्या दशा हुई थी? इसका अर्थ यह हुआ कि क्या भारत का कोई आर्य-युग से पहले का इतिहास भी है?

हां, भारतीय इतिहास का आर्यों से पहले का भी एक युग है। परन्तु उस युग के विषय में कोई स्वतंत्र प्रमाण लेख प्राप्त नहीं हैं। आर्यों की पूर्ववर्ती भारतीय जातियों के विषय में अधिकांश ज्ञान का संकलन आर्यों द्वारा अपने पूर्वागतों और शत्रुओं के वर्णनों से प्राप्त किया गया है। पंजाब में हड़प्पा और सिंध में मोहंजोदाड़ो की खुदाई में जो अवशेष मिले हैं उनको आर्य-पूर्व भारतीय सभ्यता का चिह्न माना जाता है। पर उसमें प्राप्त प्रामाणिक सामग्री का अर्थ इस सीमा तक स्पष्ट नहीं किया जा सका है जिसके द्वारा उनके विषय में कोई निश्चित ऐतिहासिक-विवरण प्राप्त हो सके।

कुछ लोगों का यह मत है कि भारत में आर्यों के बसने से पहले 'द्रविड़' नामक एक जाति इस देश में निवास करती थी। ये लोग भौतिक उत्पादन-साधनों में आर्यों से अधिक उन्नत थे। ऐसा लगता है कि आर्यों के विरुद्ध वे अपनी शक्ति भर लड़े थे, किन्तु बाद में पराजित करके पूर्व और दक्षिण की ओर भगा दिये गये थे। पराजित द्रविड़ों में कुछ लोग दास बना लिये गये थे और कुछ लोगों को अन्य रीतियों से अपने में मिला लिया गया था। द्रविड़ों ने अपनी भाषा के मूल-स्वरूप को जीवित रखा। आंध्रवासी, तमिल देश के निवासी, मलयाली, टोडा और कन्नडी आदि जातियां पुराने द्रविड़ों की उत्तराधिकारी मानी जाती हैं। इन जातियों ने परवर्ती काल के इतिहास में आर्य सभ्यताओं पर भी अपना प्रभाव डाला, जिसका वर्णन हम पुस्तक के इस भाग में नहीं करेंगे।

इस बात की ओर यहां पर संकेत किया जा सकता है कि कुछ लोग इस मत को भी मानते हैं कि द्रविड़ों के पहले यहां पर एक आदिम जाति और रहती थी जिसको हम द्रविड़-पूर्व जाति कह सकते हैं। या तो ये लोग द्रविड़ों के साथ-साथ रहते होंगे अथवा द्रविड़ों ने इनको हरा कर भगा दिया होगा। इस जाति के अवशेष अब कौन लोग हैं? ऐसा अनुमान किया जाता है कि मध्य प्रदेश और बंगाल में रहने वाली मोन-खमेर जाति का जनसमूह इस प्राचीन जाति के वर्तमान अवशेष हैं। जिनकी वंशज मुंडा, नागा और, संथाली जातियां मानी जाती हैं। बलात् निकाले जाने पर ये लोग पूर्व की ओर चले गये थे। ये लोग उस जनसमूह या जाति के वंशज हैं जिनको नृतत्ववेत्ता प्रागैतिहासिक 'पोलीनेशियन' जनसमूह के नाम से पुकारते हैं और जो मलाया, इंडोनेशिया, हिंद-चीन और आस्ट्रेलिया तक फैले हुए हैं। इन क्षेत्रों में सबसे अधिक प्राचीन जाति मोन-खमेर समूह है जो आर्यों और द्रविड़ों दोनों के पहले भारत में निवास करती थी। भूमि पर अधिकार करने के लिए आर्यों को इनसे भी संघर्ष करना पड़ा था।[1]

1 द्रविड़ों के विषय में पहला सर्वांगीण वर्णन काल्डवेल की पुस्तक द्रविड़

आर्य अपने मूल-स्थान में किस तरह से रहते थे, किस तरह से गणों के द्वारा वे उन्नत हो रहे थे और किस प्रकार भौगोलिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में वे आगे बढ़ रहे थे, इन सब बातों की ओर अब हम अपना ध्यान देंगे। इस समय जो कुछ भी हम देखेंगे उसका आधार वह लेख-सामग्री है जिसको आर्यों ने स्वयं लिखा था। हम उन प्राथमिक लेखों को उस दृष्टि-कोण से नहीं देखेंगे जिस दृष्टिकोण से वे लिखे गये थे पर अपने सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण से देखेंगे।

उन्हीं के लेखों के आधार पर हम आर्यों के इतिहास का अध्ययन करेंगे इसलिए इस दशा में यह जरूरी है कि उस लिखी हुई सामग्री के बारे में थोड़ा-बहुत जान लिया जाय।

आर्यों की लेख-सामग्री अपने में विचित्र है। इस पृथ्वी पर ऐसा जन-समूह कोई नहीं है जिसके पास इतनी अधिक ऐतिहासिक सामग्री लिखी हुई मिलती हो। जो जाति आदिम संस्कृति से लेकर आधुनिक सभ्यता तक चली हो और आज भी चली जा रही हो उसके पास अपने प्राचीनतम समाज की स्मृति इतनी अच्छी तरह से सुरक्षित हो, यह असंभव सा है। किसी सीमा तक शायद यूनानी लोगों के पास प्राचीन इतिहास के बारे में इतनी सामग्री मिल सके। मिस्र का इतिहास उसके पिरामिडों द्वारा जाना जाता है जिनमें प्राचीन बादशाहों की कब्रें बनी हैं अथवा घास के कागज की परतों से जाना जाता है जिनकी भाषा तस्वीरों में लिखी हुई है। सुमेरी, असीरी और इनके द्वारा हिट्टी प्राचीन संस्कृति का पता मध्य-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में खुदाई करने के बाद पायी गयी मिट्टी की टिकियों से मिलता है जिन पर एक खास रूप के (Cunei form) अक्षरों में लिखा हुआ है। लगभग ईसा के १००० वर्ष पहले के यूनान का इतिहास होमर के द्वारा और आधुनिक युग में की गयी आइओनियन और दूसरे अवशेषों की खुदाई से मालूम हो सकता है।

भारत के आर्यों ने अपने प्राचीनतम सामाजिक जीवन की स्मृति वेद के मंत्रों या ऋचाओं से तथा उस पूरे साहित्य से बांध दी थी जो वेदों से निकला था। वैदिक साहित्य के बाद महाकाव्य लिखे गये और उसके बाद सूत्र और स्मृतियां आदि लिखी गयीं जो वेद और महाकाव्य की तुलना में अधिक आधुनिक हैं। कम से कम चार हजार वर्षों तक वेद के ये मंत्र अपने स्वर-पाठ और विधि के साथ आर्य-समाज के ब्राह्मणों में परंपरा से चले आये हैं। गुरु-शिष्य परंपरा में बंधा वेदों का यह साहित्य

व्याकरण में मिलता है। यह पुस्तक १८५६ में लिखी गयी थी। 'आर्यों और द्रविड़ों के पहले' की जाति का वृतान्त जानने के लिए इसी शीर्षक (आर्यों और द्रविड़ों के पहले) के अन्तर्गत लिखे हुए निबंध संग्रह को देखिए जिसका अनुवाद सन् १९२९ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय के डाक्टर पी. सी. बाग्ची ने किया था। इस निबंध संग्रह में ज्यूल्स ब्लाक, सीलवान लेवी और प्रजीलास्की के लेख सम्मिलित हैं। **गाथा सप्तशती** को भी देखिए।

एक दिन लिपिबद्ध किया गया और उस पर भाष्य भी किये गये। इस तरह से उसको नाश होने से बचा लिया गया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वेद-साहित्य की रक्षा, उसका अध्ययन, और आगे आने वाली पीढ़ी को उसे सौंपना मानवजाति या इतिहास के कल्याण को ध्यान में रख कर नहीं किया गया था। ईसा से लगभग १५०० वर्ष पहले पूरे हिंदू समाज के लिए वेद-साहित्य मुख्यत: धार्मिक कर्मकांड का साहित्य ही रह गया था, और इतिहास के उस युग में ब्राह्मण पुरोहितों के लिए वे जीविका का साधन बन चुके थे। इसी वजह से युग-युगों में उनकी रक्षा की गयी, यहां तक कि उस वेद-साहित्य में जब सामाजिक यथार्थ का कोई भी प्रतिबिम्ब अवशेष नहीं रह गया था तब भी उनको सुरक्षित रखा गया। फिर भी जो विशेषता है वह इसमें नहीं है कि विधि कर्म को सुरक्षित रखा जा सका वरन् भारत के हिंदू आर्यों का यह भी सौभाग्य था कि वे लगभग दो हजार वर्षों से अधिक समय तक सामाजिक संगठन के एक अविच्छिन्न आधार पर रहते आये हैं—उसके शिखर पर चाहे जो परिवर्तन होते रहे हों। अनेक आक्रमणों और संकटों में यह जाति उस समय तक अविचलित खड़ी रही जब तक करोड़ों की संख्या में हिंदू लोग और वे सब, जो इतिहास द्वारा उनके साथ मिल जुल चुके थे या उनमें विलीन हो गये थे, अपने प्राचीन अस्तित्व से विच्छिन्न, क्षुभित तथा आमूल रूप से परिवर्तित होने के लिए आधुनिक पूंजीवादी अथवा औद्योगिक क्रांति के युग को सौंप नहीं दिये गये। इस समय ये लोग जिस सामाजिक क्रांति का अनुभव कर रहे हैं वैसी वस्तु को उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होगा। अतएव उनके सामाजिक-धार्मिक विधि कर्म और संस्कार, जो प्राचीन क्रान्तियों को सजीव रह कर सहते चले आये थे, अब इस अवस्था में नहीं हैं कि पहले की भांति अपने को जीवित रख कर आगे बढ़ा सकें। इसलिए पुराने रूपों में उनका विनाश अनिवार्य हो गया है। इतिहासकारों को अब उन्हें स्मृति-लेख के रूप में लिख कर छोड़ जाना होगा। वह समाज, जातियां, स्वार्थ एवं हित जो उनको कण्ठस्थ करते हुए पढ़ते थे सदा के लिए विलीन होकर समाजवादी समाज की उच्चतर और अधिक संपन्न अवस्था में परिणत होने जा रहे हैं। कुछ हजार वर्ष पहले जो हिंदू आर्य वोल्गा के तट से अलग होकर चले आये थे उनके समकालीन प्रागैतिहासिक लोगों को इतिहास ने यह भूमिका नहीं सौंपी थी।

जिस साहित्य के आधार पर हम प्रागैतिहासिक अथवा पुरातन साम्य-संघों के युगों का परिचय प्राप्त करेंगे वह चार वेदों और महाभारत का साहित्य है। उसमें भी वेद-साहित्य मुख्य है।

चारों वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद अपने सारतत्व में अर्थात् अपने विषय और रूप में एक ही हैं। वास्तव में प्राचीनतम परंपरा के अनुसार वेद तीन हैं—ऋग्, यजुस् और साम। इस पवित्र 'त्रयी' में चौथे वेद को बाद में मिलाया गया था। यद्यपि सामवेद का नाम पृथक् लिया जाता है परन्तु वह ऋग्वेद की प्रतिलिपि मात्र है,

जिसमें उसकी ऋचाओं को छंद या राग के रूपों में लिख दिया गया है। सामवेद से यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद को संगीत के अनुसार किस भांति पढ़ना चाहिए। यह भी कहा जा सकता है कि सामवेद ऋग्वेद का संगीत रूप है।

इन वैदिक मंत्रों का उपयोग विधि-कर्म के अर्थात् बलि-कार्य या यज्ञ कार्य के अवसर पर किया जाता है। ब्राह्मण परंपरा के अनुसार यज्ञ-कर्म का एक विशेष अधिकारी विशेष वेद-मंत्रों का पाठ करता है। इतिहासकार के लिए यह जानना महत्वपूर्ण नहीं है कि कौन किस वेद-मंत्र का गायन करता था वरन् महत्वपूर्ण यह है कि जब तक यज्ञ की प्रक्रियाएं विधि रूप अथवा कर्मकांड के रूपों में परिणत नहीं हो गयी थीं उस समय तक यज्ञ-प्रक्रिया में विशेष मंत्र का पढ़ने वाला किस विशेष काम को करता था? मंत्र कोई भी हो परन्तु क्या कोई समाज के लिए ऐसा उपयोगी काम था जो उसका पाठ करते हुए वह व्यक्ति करता था? आज के ब्राह्मण जिन स्वरूपों में यज्ञ की विधियों को जानते हैं—और वैसे ब्राह्मण पूरे भारत में एक दर्जन से अधिक नहीं हैं—उन स्वरूपों से यह ज्ञात होता है कि यज्ञ वह प्रक्रिया है जिसमें प्राचीनतम सामाजिक जीवन को सर्वांगीण रूप में पुनर्निर्मित करने की चेष्टा की जाती थी। यज्ञ-विधियों में दो लकड़ियों को रगड़ कर आग बनानी पड़ती है। एक ऐसी कुटी बनायी जाती है जिसमें लोहे का उपयोग नहीं किया जा सकता—एक प्रकार की विशेष लकड़ी और घास से वह कुटी बनायी जाती है। गाय को दुहना पड़ता है। दही जमाना पड़ता है। पत्थर के टुकड़े से (चक्की से नहीं) अन्न को पीसना पड़ता है। पशु को मार कर उस की खाल अलग करनी पड़ती है। उसको उबालना या पकाना पड़ता है। नाचना, गाना, प्राचीन रीति से प्रेम करना, लड़ना, विजय पाना आदि काम भी करने पड़ते हैं। यदि यज्ञ-विधि-कर्म का कोई अध्ययन करे तो वह इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि **यज्ञ विधि-कर्म के रूप में प्राचीन आर्य जीवन की पुनरोत्पत्ति की चेष्टा मात्र है।** इन सब विधि-कर्मों को करने की शिक्षा, विश्व, मनुष्य और पशु की उत्पत्ति के विषय में कथाएं , ऊषा के सुन्दर वर्णनों के गीत, उस महान धन की स्तुति, जो समाज के नेताओं द्वारा साधारण लोगों को दिया जाता था (दानम्), रोगों को और भूत प्रेतादि को डरा कर दूर भगाने के लिए मंत्र घोष आदि इन वेदों और उनके सूक्तों के विषय हैं। इस बात को सभी विद्वान मानते हैं कि यज्ञ अथवा वैदिक विधि-कार्य अपने तत्व-रूप में आर्य जीवन के किसी ऐतिहासिक युग को प्रतिबिंबित करते हैं।

आज हमें वेद जिन रूपों में प्राप्त हैं उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि वे ब्राह्मण विधि-कर्मों के विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा संग्रहीत संस्करण अथवा संहिताएं हैं। ऋग्वेद केवल एक संस्करण या संहिता में उपलब्ध है। इसमें १०२८ सूक्त हैं। यजुर्वेद छः संहिताओं में है। उनमें से चार संहिताओं को मिलाकर कृष्ण यजुर्वेद और शेष दो संहिताओं को मिलाकर शुक्ल यजुर्वेद के नाम से पुकारते हैं। सामवेद तो

ऋग्वेद की दूसरी प्रतिलिपि के समान है जिसमें १५४९ छंद हैं। अथर्ववेद में ६,००० छंद और ७३१ सूक्त हैं (छंदों या ऋचाओं का एक विशेष समूह 'सूक्त' कहलाता है)। इस वेद का लगभग सातवां भाग ऋग्वेद की प्रतिलिपि मात्र ही है।

दूसरे साहित्यों से जो सामग्री हमें प्राप्त होती है उसकी तुलना में वेद के ये मंत्र बहुत प्राचीन ठहरते हैं। इन मंत्रों में भी कुछ मंत्र पहले और कुछ बाद में रचे गये हैं। आर्यों के विकास की एक अवस्था में वेद की ऋचाएं अथवा उनका रचा जाना एकदम रुक गया था। जितना कुछ भी रचा गया था वह उन ब्राह्मणों की परंपरागत पुण्य संपत्ति में बंध कर रह गया जिनका उन वेदों पर अधिकार था। सामाजिक इतिहास की भूमिका में इसका क्या अर्थ होता है इसको हम बाद में देखेंगे।

लेकिन इन अत्यन्त प्राचीन मंत्रों के साथ-साथ प्रत्येक वेद के साथ एक-एक ब्राह्मण भी जुड़ा हुआ है। प्रत्येक ब्राह्मण का सम्बन्ध एक अरण्यक से होता है। और प्रत्येक अरण्यक एक उपनिषद् से संलग्न होता है। वेदों की शाखाएं या संहिताएं अनेक हैं अतएव ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् भी अनेक हैं। ब्राह्मण और अरण्यक का विषय परम्परा, कथाएं, रहस्यमय प्रश्न और रहस्यमय उत्तर हैं। ब्राह्मण ग्रंथ गद्य शैली में लिखे गये हैं और उनमें बहुत सी ऐसी सामग्री मिल सकती है जिसके द्वारा समाज के प्राचीन संगठन और उनके संघर्षों का वर्णन ज्ञात हो सकता है। उपनिषदों में दार्शनिक वाद-विवाद लिखे गये हैं, जिनको आज हिंदू इतिहास अथवा दर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। वेद साहित्य के साथ उपनिषदों का साहित्य बहुत बाद में जोड़ा गया है अतएव यथार्थ में उनको वेदों का अंग नहीं माना जाता यद्यपि उनका वर्गीकरण किसी न किसी वेद के अन्तर्गत ही किया जाता है। वेद की प्रत्येक संहिता का संबंध सूत्र-साहित्य से भी जुड़ा हुआ है। इन सूत्रों के अनेक वर्ग हैं। श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्व सूत्रों के मुख्य वर्ग हैं। इस सूत्र-साहित्य तक आते-आते मूल वेदों और उनके समाज से हम काफी दूर निकल आते हैं। क्योंकि इस सूत्र साहित्य में हम नियम और दंड, परिवार-संबंधी कर्मकांड और संस्कार, संपत्ति और उस समाज की सभी समस्याओं को पाते हैं जिनका रूप गण-समाज का रूप नहीं रह गया है।

हम इस साहित्य में वर्णित विधियों, परंपराओं और कथाओं आदि का अध्ययन करके, यज्ञ के उन सब कर्मों को एकत्रित करते हैं जो अति प्राचीन और आधार-स्वरूप हैं—और फिर इनके आधार पर आर्यों के प्राचीन समाज की रूपरेखा का निर्माण करने की चेष्टा करते हैं। इससे पहले भी वैदिक साहित्य के अनेक धुरंधर विद्वानों[1] ने इस काम को पूरा

[1] यहां पर विद्वानों की सूची देने की आवश्यकता नहीं है। विषय के प्रतिपादन के साथ-साथ हम उनका हवाला देते रहेंगे।

करने की चेष्टा की है। उन्होंने लगभग आवश्यकीय सामाजिक तत्वों की पूरी सामग्री को संग्रहीत करने के उपरांत उसको लेख-बद्ध कर दिया है। पर वे तत्व को ग्रहण नहीं कर सके, अतएव हमारे सामने वे लोग प्राचीन आर्यों के साम्य-संघ की रूपरेखा उपस्थित नहीं कर सके। वास्तव में, इन विद्वानों के पास ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त का अभाव था। उन्होंने इस साहित्य को उन्नीसवीं सदी के पूंजीवादी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा इसलिए वे ऐसी उलझन में फंस गये जिस में उन्हें नहीं फंसना चाहिए था। लेकिन उनका दृष्टिकोण एक धार्मिक कर्मकांडी का न होकर सामाजिक था इसलिए वे बहुत सी ऐसी सामग्री का संकलन कर सके जो हमारे लिए भी उपयोगी है। विशेषतया इसी सामग्री के आधार पर हम आर्यों के सामाजिक स्वरूपों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं यदि हमें उसे ठीक तरह से समझने के लिए कोई कुंजी मिल जाय। यह कुंजी 'यज्ञ' को ठीक-ठीक रूप में समझना है। वेद और ब्राह्मणों में ऐसी विधियां और कथाएं मिलती हैं जो स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आतीं। महाभारत की भी बहुत सी इसी प्रकार की अस्पष्ट सामग्री है। इस सम्पूर्ण अस्पष्ट सामग्री का रहस्य 'यज्ञ' के यथार्थ-ज्ञान द्वारा खुल सकता है। सामाजिक-स्मृति, परंपरा, धार्मिक विधि-कार्य ये सब ब्राह्मण और यज्ञ के युग्म द्वारा नियंत्रित होते हैं। आर्यों की विचारधारा के अनु-सार सृष्टि, स्थिति और प्रलय इन्हीं दोनों, ब्राह्मण और यज्ञ, के अन्तर्गत होते हैं। इन्हीं के द्वारा सृष्टि होती है, उसका पालन-पोषण होता है और उसका नाश होता है। यदि हम 'यज्ञ' को समझ लें, उसका ब्रह्म और मनुष्य से क्या संबंध है, इसको वेदों, ब्राह्मणों और महा-भारत की सहायता से जान लें तो हमें प्राचीन आर्यों के यथार्थ स्वरूप का पता लग सकता है। और उस समय 'यज्ञ' और 'ब्रह्म' जैसे निरर्थक लगने वाले शब्दों की सहायता से हम कुछ ऐतिहासिक सामग्री का संकलन कर सकेंगे। अतएव हम पहले यज्ञ के स्वरूप का विश्लेषण और उसकी रूपरेखा के निर्माण की चेष्टा करेंगे—उस यज्ञ के प्रमाणों द्वारा आर्य मनुष्य की उत्पत्ति और उस विराट ब्रह्म का वर्णन और विश्लेषण करेंगे जिसके अन्दर वह निवास करता था।

अध्याय २

प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक अवस्थाएं

इतिहास की कोई भी पाठ्य-पुस्तक हम लें जिसमें मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता के विषय में लिखा हो अर्थात् मनुष्य किस तरह से रहता है, सोचता है और जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करता है, तो उसमें यह भी अवश्य लिखा होगा कि किस अवस्था या युग में किन साधनों द्वारा उसने अपने जीवन की आवश्यकताओं का उत्पादन किया था। समाज के लगभग समस्त इतिहासकारों और नृतत्व के वैज्ञानिकों का यह सर्व सम्मत अभ्यास रहा है कि विशेष रूप से जब प्राचीन समाजों की संस्कृतियों के विषय में वे लिखते हैं तो उनके (उत्पादन के) साधनों का वर्णन भी अवश्य करते हैं। वे हमें बताते हैं कि किसी विशेष युग का मनुष्य आखेट अथवा मछली पकड़ने के साधनों का प्रयोग कर रहा था अथवा उसके पास हल था जिससे वह खेती करता था। वे समाज के इतिहास का विभाजन तक इन्हीं साधनों के आधार पर करते हैं जैसे--मनुष्य का प्रस्तर-युग, कांस्य (Bronze) युग, लौह-युग आदि।[1] इतिहास के विषय में उनका सिद्धांत या मत कुछ भी हो पर वे इस यथार्थ से विमुख नहीं रह सके कि सामाजिक मनुष्य के जीवन में उत्पादन के साधन अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। किन्तु यही वह सीमा है जिसके आगे पूंजीवादी इतिहासकार नहीं जा सकते हैं अथवा नहीं जाना चाहते थे।

मार्क्सवादी यह मानते हैं कि समाज के पास जितनी उत्पादन-शक्ति एक विशेष युग में होती है वही उस समाज की अवस्था या दशा को निश्चित करती है। इससे पहले कि मनुष्य विचार कर सके अथवा कोई दूसरा काम कर सके उसको सबसे पहले अपने को जीवित रखने के लिए अन्न, वस्त्र, आश्रय-स्थान आदि के लिए प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। इस काम को पूरा करने के लिए वे सब साधन जिनका वह निर्माण करता है, वे सब व्यक्ति जिनको इस काम के लिए वह संगठित करता है तथा इन संगठित व्यक्तियों की योग्यता, कुशलता अथवा निपुणता सब मिल कर उस समाज की कुशल उत्पादन-शक्तियां होती हैं। इन

[1] **कैपिटल**, जिल्द १, पृष्ठ १५६।

शक्तियों के होने पर ही भौगोलिक और प्राकृतिक वातावरण अन्य सह-योगियों के रूप में सहायक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

उत्पादन की इन शक्तियों के आधार पर तथा इन शक्तियों की प्रकृति के अनुरूप समाज का संगठन बनता है। उत्पादन-शक्तियों पर यह भी निर्भर करता है कि कोई समाज अपने पारस्परिक संबंध को और उत्पादन-साधनों से अपने संबंध को किन रूपों में संगठित करे। प्राचीन युग के शिकारी, जिनके हाथों में पत्थर की बनी कुल्हाड़ी होती थी, पूंजीवादी संबंधों अथवा समाज का निर्माण नहीं कर सकते थे। उसी प्रकार से मजदूरी कमाने वाला मजदूर और पूंजीपति—जिनके पास भाप के इंजन आदि वस्तुएं साधनों के रूप में वर्तमान हैं—आदिम साम्य-संघ के संबंधों को नहीं अपना सकते।

समाज जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलता है तो उत्पादन के साधन ही क्रान्तिकारी तत्व होते हैं। उत्पादन के साधनों की विशेषता यह है कि वे कभी भी एक ही रूप में स्थिर नहीं रहते—उनमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। वे सदैव बदलते रहते हैं। क्योंकि मनुष्य की सामाजिक क्रियाशीलताएं और उसकी आवश्यकताएं निरंतर बदलती हुई आगे की ओर बढ़ती रहती हैं।

समाज के ढांचे अथवा स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए उत्पादन-साधनों और उत्पादक-शक्तियों का परिवर्तन मूल आधार है।

वन्य-अवस्था से लेकर अर्ध वन्य-अवस्था तक और अर्ध वन्य-अवस्था से लेकर सभ्यता की अवस्था तक मनुष्य के विकास-क्रम की विशेषताओं का वर्णन सबसे अच्छे रूप में एंगेल्स द्वारा बनायी गयी रूपरेखा के अनुसार किया जा सकता है। इसी रूपरेखा के आधार पर हम आर्यों के ऐतिहासिक विकास का चित्रण भली-भांति कर सकते हैं।

वन्य अवस्था

१. **निम्न-युग** : मनुष्य-जाति का यह शिशुकाल है। इस युग में मनुष्य अपने मूल स्थान में रहता था। उष्ण कटिबंध अथवा अर्ध-उष्ण-कटिबंध के वनों में आंशिक रूप से वृक्षों पर निवास करने के कारण हिंसक पशुओं का सामना करते हुए भी वह जीवित रह सका था। कंद, मूल (जड़) और फल उसका भोजन था। इस युग में मनुष्य की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने स्पष्ट वाणी की रचना कर ली थी। इतिहास के युगों में जिन जनसमूहों का परिचय अथवा ज्ञान हमें मिलता है उनमें से कोई भी इस आदिम-व्यवस्था में रहते हुए नहीं मिलते। यद्यपि यह युग हजारों वर्षों तक चला होगा फिर भी इसके अस्तित्व का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता। किन्तु जब हम

एक बार यह मान लेते हैं कि मनुष्य का विकास पशु-लोक से हुआ है तो इस संधि-युग को मानना अनिवार्य हो जाता है।

२. **मध्य-युग** : इस युग का आरंभ उस समय से होता है जब मनुष्य ने मछली को अपने भोजन के रूप में (इसके अन्तर्गत हम केकड़े, घोंघे और दूसरे जल-जन्तुओं को भी गिन लेते हैं) स्वीकार कर लिया था और 'अग्नि' का प्रयोग करना उसे ज्ञात हो गया था। ये दोनों वस्तुएं एक दूसरे की पूरक हैं। बिना आग का उपयोग किये हुए मछली पूरी तरह से मनुष्य का भोजन नहीं बन सकती थी। किसी हद तक इस नये भोजन ने मनुष्य को जलवायु और स्थान के प्रभावों से मुक्त कर दिया था। अपनी इस वन्य-अवस्था में ही नदियों और समुद्र के तटों के किनारे चलता हुआ मनुष्य भूमि के विस्तृत प्रदेशों में फैल गया था। मनुष्य जाति के इस प्रसार के प्रमाण स्वरूप पत्थर के बने हुए सीधे-सादे और खुरदरे औजार, जिनका निर्माण अधिकांश रूप में इस युग में हुआ था, तमाम देशों में बिखरे हुए मिलते हैं। प्रस्तर-युग के प्रारम्भ में इन औजारों की रचना की गयी थी। नृतत्ववेत्ता इनको ''पेलियोलिथिक'' औजारों के नाम से पुकारते हैं। इन नये प्रदेशों में रहने के कारण, नयी चीजों की खोज में तत्पर और रगड़ द्वारा आग बनाने की कला में निपुण होने के कारण मनुष्य ने अपने भोजन के लिए नयी-नयी वस्तुओं को भी खोज निकाला था—जैसे गांठदार जड़ें और कंद, जिनको वह या तो गर्म राख में या आग के गढ़ों (भट्ठी) में पकाता था। कभी-कभी शिकार में मारे गये पशु का मांस भी उसके भोजन में शामिल हो जाता था। लेकिन यह तभी संभव हुआ होगा जब उसने आखेट के अस्त्रों—गदा और भाले—का निर्माण कर लिया होगा। पूर्णत: शिकारी जातियां, जिनका वर्णन साधारण रूप से पुस्तकों में मिलता है—यानी वे जातियां जो केवल शिकार पर ही जीवित रहती हों कभी भी नहीं थीं, क्योंकि शिकार का फल काफ़ी परिश्रम और संकट के बाद मिलता था। भोजन की लगातार चलती हुई अनिश्चितता के कारण ऐसा लगता है कि नरमांस-भक्षण इसी युग में शुरू हो गया था और बाद में बहुत समय तक चलता रहा था। आस्ट्रेलिया के आदि निवासी और पोलीनेशियन जाति के बहुत से लोग वन्य-अवस्था की मध्ययुगीन दशा में आज भी रह रहे हैं।

३. **उन्नत युग** : इस युग का आरम्भ धनुष और बाण के निर्माण से होता है। जंगली पशुओं का आखेट करना और उसके मांस को भोजन में शामिल करना प्रतिदिन होने लगा। और आखेट करना एक साधारण पेशा बन गया। धनुष, डोरी और बाण मिल कर एक असरल और मिश्र (Complex) औजार का निर्माण करते हैं। इस अस्त्र को बनाने के पहले मनुष्य के पास बहुत से अनुभव संग्रहीत हो चुके थे और उसकी मानसिक शक्तियां तीव्र हो उठी थीं। इसलिए बहुत सी दूसरी वस्तुओं की रचना वह कर चुका होगा। अगर हम इन मनुष्यों की तुलना उनसे करें

जो धनुष और बाण की कला तो जानते थे पर मिट्टी से बर्तनों को बनाना नहीं जानते थे (मिट्टी के बर्तनों को बनाने से मॉरगन के मतानुसार मनुष्य जाति अर्ध वन्य-अवस्था में प्रवेश करती है) तो भी इस पहली अवस्था में ही हम उसे गांवों में बसते, जीवन सामग्रियों के उत्पादन-साधनों पर किसी सीमा तक अधिकार करते, लकड़ी के बर्तन आदि बनाते, उंग-लियों से (बिना करघे के) बुनाई का काम करते, पेड़ों की कोमल छाल से सूत निकालते, लचकीले लम्बे बेंतों से अथवा कोमल छाल से टोकरियों और पत्थर के चिकने (Neolithic) औजारों को बनाते हुए पाते हैं। अधिकांश अवस्थाओं में अग्नि तथा पत्थर की कुल्हाड़ी ने उसके लिए गहरी नाव को बनाने में सहायता दी थी। लकड़ी और तख्तों का उपयोग वह अपने घरों को बनाने के लिए करने लगा था। उदाहरण के लिए, हम इन सब प्रगतियों की ओर उत्तरी पश्चिमी अमरीका के आदिवासियों को (जिन्हें इंडियन कहा जाता है) बढ़ते हुए देखते हैं। वे धनुष और बाण कला का तो जानते थे पर अभी तक मिट्टी से बर्तन बनाने का ज्ञान उनको नहीं हो सका था। जिस प्रकार से अर्ध-वन्य-अवस्था में लोहे की तलवार और सभ्यता की अवस्था में अग्नि के अस्त्र (बंदूक, तोप, बम आदि) निर्णायक अस्त्र सिद्ध हुए उसी प्रकार से वन्य-अवस्था के लिए धनुष और बाण निर्णायक अस्त्र था।

अर्द्ध वन्य-अवस्था

१. **निम्न-युग :** इस अवस्था का प्रारंभ मिट्टी के बर्तनों को बनाने से होता है। मिट्टी के बर्तनों को बनाने के पहले उन्हें आग से बचाने के लिए लोग टोकरियों और लकड़ी के बर्तनों पर मिट्टी थोप देते थे। इस बात से धीरे-धीरे उन लोगों को यह ज्ञान हो गया था कि सांचे में ढली हुई मिट्टी से—बिना भीतरी बर्तन अथवा टोकरी के—काम निकल सकता है। इस बात को कुछ स्थानों में प्रत्यक्ष रूप से दिखाया जा सकता है और शेष स्थानों में अनुमान किया जा सकता है।

मानव-विकास के इस मार्ग को हम इस अवस्था की सीमा तक लोगों में कुछ समय के लिए एक सा पाते हैं। विशेष स्थानों अथवा प्रदेशों का प्रभाव इस विकास पर पड़ता हुआ नहीं दिखायी देता। लेकिन अर्ध-वन्य-अवस्था का प्रारम्भ ज्यों ही होने लगा त्यों ही हम यह देखते हैं कि दो महाद्वीपों की प्राकृतिक देनें मानव-विकास में अपने विशेष अस्तित्व का प्रभाव डालने लगीं। अर्ध-वन्य-अवस्था की दो सबसे मुख्य विशेषताएं यह हैं—एक तो बच्चे देने वाले पशुओं को पालना और दूसरे पौधों को उगाना। पूर्वी महाद्वीप में—जिसको पुरानी दुनिया भी कहते हैं—पाले जाने योग्य बहुत से पशु मिल जाते थे और बोने तथा उगाने के लिए एक आध खाद्यान्न पौधों को छोड़ कर बाकी सभी प्राप्त थे जब कि पश्चिमी महाद्वीप अमरीका में केवल एक ही पशु ऐसा था जिसको पाला

जा सकता था---उसको लामा या ल्यामा कहते थे और एक ही खाद्यान्न, मक्का, था जिसको बोया जा सकता था। इन भिन्न प्राकृतिक दशाओं के कारण इन महाद्वीपों के निवासियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ा और विभिन्न अवस्थाओं की सीमाओं के रूप भी एक से नहीं रहे। अलग-अलग गोलार्धों में निवास करने वाली जनता अपने विशेष विकास-पथ पर आगे बढ़ने लगी।

२. **मध्य युग :** इस युग का आरम्भ पूर्व में पशुओं को पालने और पश्चिम में सिंचाई के सहारे खाद्यान्न की खेती करने तथा सूर्य की धूप में ईंटों को पकाने से या इमारतों में पत्थर के प्रयोग करने से होता है।

पूर्वी देशों में यह मध्य-युग तब शुरू हुआ जब लोगों ने उन पशुओं को पालना आरंभ किया जो उनको भोजन के लिए दूध या मांस देते थे। बहुत समय तक पौधों का उगाना उनको नहीं मालूम हो सका था। ऐसा लगता है कि आर्य और सेमाइट जाति के लोगों ने अपने को दूसरी अर्ध-वन्य जातियों से चौपायों को पालने, उनकी नस्ल बढ़ाने और उनको बड़े-बड़े झुण्डों में चराने के कारण भिन्न कर लिया था। योरप और एशिया के आर्यों में पशुओं के नामों के रूप तो समान हैं पर उगाने के योग्य पौधों के नाम आपस में नहीं मिलते।

जिन स्थानों पर पशुओं के झुण्ड बनाने की ज्यादा सुविधा थी वहां पर चरागाहों का जीवन आरंभ होने लगा था। सेमाइट लोगों ने यूफरेटिस और टिगरीस (दजला और फरात) नदियों के घास के मैदानों में यह जीवन आरम्भ किया। आर्यों ने भारत के मैदानों में, अम् दरया और सर दरया, डान और नीपर नदी के मैदानों में इस जीवन को शुरू किया। इन्हीं घास वाले मैदानों की सीमाओं पर सबसे पहले चौपायों का पालना संभव हुआ होगा। मानव-जाति की बाद वाली पीढ़ियों को ऐसा मालूम हुआ कि चरागाहों में जीवन बिताने वाले लोगों का आरंभ ऐसे स्थान पर हुआ था जहां पर वन्य-अवस्था का मनुष्य या अर्ध-वन्य-अवस्था के निम्न-युग का मनुष्य निवास नहीं कर सकता था। दूसरी ओर, यह भी था कि एक बार मध्ययुगीन अर्ध-वन्य अवस्था के लोग चरागाह के जीवन में प्रवेश करने के बाद यह नहीं सोच सकते थे कि घास से हरे उन कोमल मैदानों को छोड़ कर वे फिर उन जंगलों में वापस चले जायें जहां पर उनके पूर्वज रहते थे। यहां तक कि जब आर्य और सेमाइट जाति के लोग और अधिक उत्तर-पश्चिम की ओर भगाये गये तो योरप और एशिया के पश्चिमी जंगलों में निवास करना उनके लिए असंभव हो गया। इस प्रदेश की भूमि ज्यादा अच्छी नहीं थी। फिर भी उन्होंने वहां पर पशुओं के खाने योग्य चारा बोया, जिससे उनके पशु जीवित रह सकें। इस प्रदेश में जाड़ा बिताना उनको और भी कठिन लगा। यह बहुत संभव है कि खाद्य अन्न का उपजाना सबसे पहले इन्हीं प्रदेशों में शुरू हुआ हो। सबसे पहले तो इनका पशुओं के भोजन के लिए इसे उगाना जरूरी हो

जो धनुष और बाण की कला तो जानते थे पर मिट्टी से बर्तनों को बनाना नहीं जानते थे (मिट्टी के बर्तनों को बनाने से मॉरगन के मतानुसार मनुष्य जाति अर्ध वन्य-अवस्था में प्रवेश करती है) तो भी इस पहली अवस्था मे ही हम उसे गांवों में बसते, जीवन सामग्रियों के उत्पादन-साधनों पर किसी सीमा तक अधिकार करते, लकड़ी के बर्तन आदि बनाते, उंग-लियों से (बिना करघे के) बुनाई का काम करते, पेड़ों की कोमल छाल से सूत निकालते, लचकीले लम्बे बेंतों से अथवा कोमल छाल से टोकरियों और पत्थर के चिकने (Neolithic) औजारों को बनाते हुए पाते हैं। अधिकांश अवस्थाओं में अग्नि तथा पत्थर की कुल्हाड़ी ने उसके लिए गहरी नाव को बनाने में सहायता दी थी। लकड़ी और तख्तों का उपयोग वह अपने घरों को बनाने के लिए करने लगा था। उदाहरण के लिए, हम इन सब प्रगतियों की ओर उत्तरी पश्चिमी अमरीका के आदिवासियों को (जिन्हें इंडियन कहा जाता है) बढ़ते हुए देखते हैं। वे धनुष और बाण कला का तो जानते थे पर अभी तक मिट्टी से बर्तन बनाने का ज्ञान उनको नहीं हो सका था। जिस प्रकार से अर्ध-वन्य-अवस्था में लोहे की तलवार और सभ्यता की अवस्था में अग्नि के अस्त्र (बंदूक, तोप, बम आदि) निर्णायक अस्त्र सिद्ध हुए उसी प्रकार से वन्य-अवस्था के लिए धनुष और बाण निर्णायक अस्त्र था।

अर्द्ध वन्य-अवस्था

१. निम्न-युग : इस अवस्था का प्रारंभ मिट्टी के बर्तनों को बनाने से होता है। मिट्टी के बर्तनों को बनाने के पहले उन्हें आग से बचाने के लिए लोग टोकरियों और लकड़ी के बर्तनों पर मिट्टी थोप देते थे। इस बात से धीरे-धीरे उन लोगों को यह ज्ञान हो गया था कि सांचे में ढली हुई मिट्टी से––बिना भीतरी बर्तन अथवा टोकरी के––काम निकल सकता है। इस बात को कुछ स्थानों में प्रत्यक्ष रूप से दिखाया जा सकता है और शेष स्थानों में अनुमान किया जा सकता है।

मानव-विकास के इस मार्ग को हम इस अवस्था की सीमा तक लोगों में कुछ समय के लिए एक सा पाते हैं। विशेष स्थानों अथवा प्रदेशों का प्रभाव इस विकास पर पड़ता हुआ नहीं दिखायी देता। लेकिन अर्ध-वन्य-अवस्था का प्रारम्भ ज्यों ही होने लगा त्यों ही हम यह देखते हैं कि दो महाद्वीपों की प्राकृतिक देनें मानव-विकास में अपने विशेष अस्तित्व का प्रभाव डालने लगीं। अर्ध-वन्य-अवस्था की दो सबसे मुख्य विशेषताएं यह हैं––एक तो बच्चे देने वाले पशुओं को पालना और दूसरे पौधों को उगाना। पूर्वी महाद्वीप में––जिसको पुरानी दुनिया भी कहते हैं––पाले जाने योग्य बहुत से पशु मिल जाते थे और बोने तथा उगाने के लिए एक आध खाद्यान्न पौधों को छोड़ कर बाकी सभी प्राप्त थे जब कि पश्चिमी महाद्वीप अमरीका में केवल एक ही पशु ऐसा था जिसको पाला

जा सकता था—-उसको लामा या ल्यामा कहते थे और एक ही खाद्यान्न, मक्का, था जिसको बोया जा सकता था। इन भिन्न प्राकृतिक दशाओं के कारण इन महाद्वीपों के निवासियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ा और विभिन्न अवस्थाओं की सीमाओं के रूप भी एक से नहीं रहे। अलग-अलग गोलार्धों में निवास करने वाली जनता अपने विशेष विकास-पथ पर आगे बढ़ने लगी।

२. **मध्य युग :** इस युग का आरम्भ पूर्व में पशुओं को पालने और पश्चिम में सिंचाई के सहारे खाद्यान्न की खेती करने तथा सूर्य की धूप में ईंटों को पकाने से या इमारतों में पत्थर के प्रयोग करने से होता है।

पूर्वी देशों में यह मध्य-युग तब शुरू हुआ जब लोगों ने उन पशुओं को पालना आरंभ किया जो उनको भोजन के लिए दूध या मांस देते थे। बहुत समय तक पौधों का उगाना उनको नहीं मालूम हो सका था। ऐसा लगता है कि आर्य और सेमाइट जाति के लोगों ने अपने को दूसरी अर्ध-वन्य जातियों से चौपायों को पालने, उनकी नस्ल बढ़ाने और उनको बड़े-बड़े झुण्डों में चराने के कारण भिन्न कर लिया था। योरप और एशिया के आर्यों में पशुओं के नामों के रूप तो समान हैं पर उगाने के योग्य पौधों के नाम आपस में नहीं मिलते।

जिन स्थानों पर पशुओं के झुण्ड बनाने की ज्यादा सुविधा थी वहां पर चरागाहों का जीवन आरंभ होने लगा था। सेमाइट लोगों ने यूफरेटिस और टिगरीस (दजला और फरात) नदियों के घास के मैदानों में यह जीवन आरम्भ किया। आर्यों ने भारत के मैदानों में, अमू दरया और सर दरया, डान और नीपर नदी के मैदानों में इस जीवन को शुरू किया। इन्हीं घास वाले मैदानों की सीमाओं पर सबसे पहले चौपायों का पालना संभव हुआ होगा। मानव-जाति की बाद वाली पीढ़ियों को ऐसा मालूम हुआ कि चरागाहों में जीवन बिताने वाले लोगों का आरंभ ऐसे स्थान पर हुआ था जहां पर वन्य-अवस्था का मनुष्य या अर्ध-वन्य-अवस्था के निम्न-युग का मनुष्य निवास नहीं कर सकता था। दूसरी ओर, यह भी था कि एक बार मध्ययुगीन अर्ध-वन्य अवस्था के लोग चरागाह के जीवन में प्रवेश करने के बाद यह नहीं सोच सकते थे कि घास से हरे उन कोमल मैदानों को छोड़ कर वे फिर उन जंगलों में वापस चले जायें जहां पर उनके पूर्वज रहते थे। यहां तक कि जब आर्य और सेमाइट जाति के लोग और अधिक उत्तर-पश्चिम की ओर भगाये गये तो योरप और एशिया के पश्चिमी जंगलों में निवास करना उनके लिए असंभव हो गया। इस प्रदेश की भूमि ज्यादा अच्छी नहीं थी। फिर भी उन्होंने वहां पर पशुओं के खाने योग्य चारा बोया, जिससे उनके पशु जीवित रह सकें। इस प्रदेश में जाड़ा बिताना उनको और भी कठिन लगा। यह बहुत संभव है कि खाद्य अन्न का उपजाना सबसे पहले इन्हीं प्रदेशों में शुरू हुआ हो। सबसे पहले तो इनका पशुओं के भोजन के लिए इसे उगाना जरूरी हो

गया था। बाद में इसका उपयोग मनुष्य अपने भोजन के लिए भी करने लगा।

आर्यों और सेमाइट लोगों के पास भोजन के लिए दूध और मांस बड़ी मात्रा में था। इन भोजनों का प्रभाव उनके बच्चों के स्वास्थ्य पर भी बहुत पड़ता था। शायद इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्य और सेमाइट जाति के लोगों का विकास और लोगों से ऊंचे स्तर पर कैसे हुआ था। अर्ध-वन्य अवस्था के निम्न युग में अगर हम मेक्सिको के निवासी प्यूब्लो-इंडियन जाति के लोगों को देखें, जिनका भोजन बिल्कुल निरामिष हो गया था तो उनके मस्तिष्क को हम इंडियनों से छोटा पाते हैं जो अधिक मांस या मछली खाते थे। फिर भी इस अवस्था में नर-मांस-भक्षण धीरे-धीरे मिट चुका था। अगर कहीं-कहीं चल भी रहा था तो धार्मिक कर्म-कांड की एक विधि मात्र ही रह गया था जिसे हम धार्मिक इन्द्रजाल (अभिचार) का एक दृष्टांत भी मान सकते हैं।

३. **उन्नत युग** : लोहे को पिघलाने से इस युग का आरम्भ होता है। इस युग के अन्तिम भाग में जिसे हम अर्ध-वन्य अवस्था और सभ्य अवस्था का संधिकाल कह सकते हैं, अक्षरों को लिखने का अन्वेषण हो चुका था और उसका प्रयोग साहित्य को लिखने में होने लगा था। हम कह चुके हैं कि अर्ध-वन्य अवस्था के इस युग को पूर्वी गोलार्ध के निवासियों ने ही अपने बल पर पार किया था। इस युग में उत्पादन इतना अधिक हुआ कि अगर उसकी तुलना बीती हुई सब अवस्थाओं के तमाम उत्पादन से की जाय तो भी वह अधिक ठहरेगा। वीर-युग के यूनानी, रोम की नींव पड़ने से कुछ पहले के कबीले, टैसिटस के जर्मन निवासी और वाइकिंग्स काल के नॉरमन लोग इस युग की अवस्था में रहते थे।

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हम पहली बार लोहे के हल को पशुओं की मदद से भूमि जोतते पाते हैं। इस साधन के द्वारा विस्तृत भू-भाग पर खेती करना—**खेतों के रूप में कृषि**—संभव हो गया था। और उन दिनों की अवस्था में जीवन-सामग्रियों का उत्पादन व्यावहारिक रूप में असीमित ढंग से बढ़ गया था। इसके साथ-साथ हम जंगलों को कटता हुआ भी पाते हैं। जंगलों को काट कर उनको खेतों या चरागाहों में बदल दिया जाता था। अगर लोहे की कुल्हाड़ी और फावड़ा उस युग के मनुष्य के पास न होता तो इतने बड़े पैमाने पर यह काम नहीं हो सकता था। लेकिन इसके साथ-साथ जनसंख्या भी तेजी से बढ़ने लगी थी, तथा छोटे-छोटे क्षेत्रों में घनी बस्तियां बसने लगी थीं। जब तक कि खेतों के रूप में कृषि का आरम्भ नहीं हुआ था तब तक शायद ही कुछ ऐसी दशाएं उत्पन्न हुई हों जिनमें पांच लाख व्यक्ति एक केन्द्रीय शासन में बंधे हों। शायद पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था।

होमर की कविताओं में, और विशेषतया **इलियड** (Iliad) में हम अर्ध-वन्य अवस्था के उन्नत युग को अपने चरम शिखर पर पाते हैं। लोहे के

बने हुए अच्छे औजार, धौंकनी या निगाली, हाथ से चलने वाली चक्की, कुम्हार का चाक, लट्ठों और तख्तों से बना हुआ पानी का पोत, शराब और तेल, धातु के काम का कला के रूप में विकसित होना, सवारी और युद्ध के रथ, भवन-निर्माण का एक कला के रूप में विकास, मीनारों से युक्त और चहारदीवारी से घिरे हुए सुरक्षित नगर, होमर के युग के महाकाव्य तथा समस्त पौराणिक कथाएं—इन विशेष वस्तुओं को लेकर यूनानियों ने अर्ध-वन्य अवस्था से सभ्यता की अवस्था में प्रवेश किया था। यूनानियों की इस अवस्था की तुलना अगर हम उन जर्मनों से करें जिनका वर्णन सीजर और टैसिटस ने किया है तथा जो उस अवस्था के आरंभ में थे, जिनके चरम शिखर पर पहुंचकर होमर-काल के यूनान-निवासी सभ्यता की अगली अवस्था में प्रवेश करने को तत्पर थे, तो हमें मालूम होगा कि अर्ध-वन्य अवस्था के उन्नत युग में उत्पादन का कितना विस्तृत और अधिक विकास हो चुका था।

> "मॉरगन द्वारा की गयी वैज्ञानिक खोजों के आधार पर वन्य और अर्ध-वन्य अवस्था से होकर सभ्यता की अवस्था के आरंभ तक के मानव-जाति के विकास का जो चित्र हमने उपस्थित किया वह नयी विशेषताओं से भरा हुआ है और इससे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन विशेषताओं पर शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि इन विशेषताओं को सीधे उत्पादन से लिया गया है। फिर भी यह चित्र उसकी तुलना में धुंधला और छोटा ही लगेगा जो सब से बाद में हमारी यात्रा के अन्त में स्पष्ट होगा। उसी समय यह संभव होगा कि अर्ध-वन्य अवस्था से सभ्य अवस्था तक आने का पूरा चित्र और उन दोनों के बीच के महान अन्तर को दिखाया जा सके। इस समय मॉरगन के युग-विभाजन को सामान्य रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है : वन्य युग—इस युग की विशेषता यह थी कि सिर्फ उन्हीं खाद्य-सामग्रियों को अपनाया गया जो प्रकृति में तैयार मिलती थीं। मनुष्य ने इस युग में केवल कुछ औजारों का निर्माण किया जिनसे इस खाद्य-सामग्री को अपनाया जा सका था। अर्ध-वन्य युग—यह वह युग था जिसमें पशुपालन और खेती का ज्ञान प्राप्त किया गया। इस युग में वे तरीके भी प्रयोग में लाये गये जिनसे मानव-परिश्रम या क्रियाशीलता द्वारा प्रकृति का उत्पादन बढ़ाने का ज्ञान प्राप्त हो सका था। सभ्य युग—इस युग में प्राकृतिक उत्पादन को दूसरे रूपों में बदलने का, उद्योग का और कला का ज्ञान प्राप्त किया गया।"
>
> (**परिवार की उत्पत्ति**, एंगेल्स, पृष्ठ ४१)

सभ्य अवस्था

मनुष्य-समाज ने जब सभ्य अवस्था में प्रवेश किया तो इसका मतलब यह था कि आदिम साम्य-समाज का अन्त हो चुका था। अर्ध-वन्य अवस्था और सभ्य अवस्था के अन्तर को एंगेल्स ने इस प्रकार से बताया है :

''सभ्य अवस्था समाज की वह दशा है जहां पर श्रम का विभाजन, उसके द्वारा प्राप्त वस्तुओं का विनिमय और विनिमय के लिए चीजों का बनाना, जिसके द्वारा दोनों (श्रम-विभाजन और विनिमय) का मिलन होता है, अपने सबसे ऊंचे शिखर पर पहुंच जाते हैं, और युगों से चले आते हुए वर्तमान समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन पैदा कर देते हैं।'' **(उपरोक्त, पृष्ठ २४७)**

विनिमय और विनिमय के लिए चीजों का उत्पादन निजी संपत्ति को जन्म देता है। उसी से अमीर और गरीब का अन्तर पैदा होता है। वर्ग का और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण, दासता, नारी के ऊपर पुरुष का शासन, नगरों और गांवों का आपसी विरोध और अन्त में, शासन-सत्ता का जन्म होता है। यह शासन-सत्ता शोषक वर्ग का एक अस्त्र होती है, जिससे वह शोषित वर्ग को निरन्तर दबाये रखता है।

''इस मूल विधान को लेकर सभ्यता ने वे काम किये हैं जिनके लिए प्राचीन परिवार समाज बिल्कुल अयोग्य था। लेकिन उन कामों को सभ्यता ने मनुष्य की सबसे गंदी वासनाओं और इच्छाओं को उकसा कर पूरा कराया है। उसकी अन्य शक्तियों का नाश करके उसने इन वासनाओं और इच्छाओं को बढ़ावा दिया। जिस दिन सभ्यता का जन्म हुआ उस दिन से लेकर आज तक नग्न लोभ उस सभ्यता की आत्मा बन कर उसे चलाता आ रहा है। धन और धन, फिर उससे भी अधिक धन!! ऐसा धन जिस पर पूरे समाज का अधिकार नहीं बल्कि किसी तुच्छ व्यक्ति की सेवा में लगना जिसका लक्ष्य हो। इस लक्ष्य को पूरा करने में यदि विज्ञान की उन्नति और बार-बार आये कलामय युग उसकी गोद में गिरते गये तो इसलिए कि बिना उसके (कला और विज्ञान के--अनु.) धन के गुणों का उपयोग हमारे युग में नहीं किया जा सकता था।'' **(उपरोक्त, पृष्ठ २५१-५२)**

इसलिए जब हम आर्यों के प्राचीन इतिहास को देखते हैं तो सबसे पहले हमें उन औजारों को देखना होगा जो उनके पास थे और जिनसे वे उत्पादन करते थे। उन्हीं से उनके सामाजिक संगठनों का ज्ञान हो सकता है—यानी इस बात का ज्ञान हो सकता है कि उस समाज में उत्पादन के संबंध क्या थे? उन्हीं के आधार पर उनके आचार-विचार, उनके नैतिक सिद्धांत, परिवार के संबंध आदि भी ज्ञात हो सकते हैं।

अध्याय ३

"यज्ञ"—आर्य साम्य-संघ की सामूहिक उत्पादन-पद्धति

वेद-साहित्य और महाभारत महाकाव्य में सृष्टि की उत्पत्ति और भूमि पर प्राचीन मनुष्य-जीवन के बारे में बहुत सी कथाएं मिलती हैं। वन्य-अवस्था के मनुष्य में उत्पन्न कल्पनाओं और स्वप्नों को छोड़ कर, वैदिक परंपरा ने अपने पूर्वजों की आरंभिक जीवन-प्रणाली, उनके रहन-सहन, क्रिया-कलाप और उनकी प्रगति की स्मृति को जीवित रखा है। आगे चल कर हिन्दू आर्यों ने सामाजिक (आर्यों के) विकास के बारे में तथा मनुष्य और तमाम सृष्टि के बारे में स्वयं अपने सिद्धांत बना लिये थे। इस गति को समझने के लिए उन्होंने युग और मन्वंतरों के सिद्धांत की रचना की थी। यह सिद्धांत केवल कल्पना या स्वप्न ही नहीं थे। समाज में चली आती हुई स्मृतियों द्वारा उन्हें सामाजिक परिवर्तनों का ज्ञान हुआ होगा। उस ज्ञान को उन्होंने वन्य या अर्ध-वन्य अवस्था की कल्पनाओं के रूपों में उपस्थित किया था। उस अवस्था में मनुष्य का यह स्वभाव था कि वह हर वस्तु को, हर प्राकृतिक घटना को, जीवन और बुद्धि या चेतना का रूप प्रदान कर दिया करता था। अपनी चेतना के अनुरूप ही वह दुनिया को देखता था। प्रकृति से अभी तक उसका आंतरिक संबंध नहीं छूटा था। वह अभी तक पूरी प्रकृति का ही एक अंग था। इसलिए उसने सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, ऋतुओं, वृक्ष, पत्थर, नदी, भूमि इन सबको अपने ही समान जीवन और चेतना सौंप कर उनका व्यक्तीकरण कर उन्हें शक्ति, देवता और देवी के रूपों में देखा। मृत व्यक्ति को वे अभी तक मरा हुआ नहीं मानते थे, यद्यपि उसको जमीन में दफना दिया जाता था या जला दिया जाता था फिर भी वे मानते थे कि भोजन करते समय वह उनके साथ बैठ कर खा रहा है। उस काल में विज्ञान, प्रकृति और समाज का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण इस प्रकार की चिन्तनाएं, सिद्धांत और कल्पनाएं अनिवार्य रूप से उठती थीं। इस तरह के सिद्धांत प्रत्येक आदिम समाज में उठे हैं। लेकिन इसके सिवा सामाजिक जीवन, उत्पादन की प्रणाली, उत्पादन-शक्तियों का स्तर और उत्पादन-संबंध भी इस प्रकार के सिद्धांतों के कारण थे। प्राचीन कथाएं और पौराणिक कहानियां इन सामाजिक-संबंधों को बिना अपने में व्यक्त किये हुए नहीं चल सकती थीं। वास्तव में, ये सामाजिक-संबंध ही इन कथाओं के तत्व हैं।

इतिहास को अथवा पूरे विश्व को हिन्दू सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से देखता है कि वह इनको कभी एक स्थान पर रुका हुआ नहीं मानता बल्कि हमेशा बदलता हुआ और गतिशील देखता है। इन परिवर्तनों के साथ-साथ संघर्ष और ध्वंस भी तब तक चलता रहता है जब तक एक ऐसी नयी व्यवस्था का उदय न हो जाय जो कुछ समय के लिए स्थिर रह सके। ये परिवर्तन मनुष्य और उसके सामाजिक जीवन पर मुख्य रूप से प्रभाव डालते हैं। ये प्रभाव इस सीमा तक बढ़ जाते हैं कि एक युग की विशेषता दूसरे युग में उसकी विरोधिनी बन जाती है। इस विषय का हम यहां ज्यादा विस्तृत वर्णन नहीं करेंगे लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि परिवर्तन और इतिहास के बारे में यह गतिशील दृष्टिकोण धीरे-धीरे अपनी सारी महत्ता उस समय खो बैठा जब उस गति को ईश्वर या भाग्य से नियंत्रित एक न टूटने वाले चक्कर में यंत्र के समान घूमने वाली वस्तु मान लिया गया। इस तरह के अंधविश्वास के अपनाने के पहले हिन्दू इतिहासकारों ने उन परिवर्तनों का बड़ी सच्चाई से उल्लेख किया जिनको सामाजिक स्मृति के द्वारा उन्होंने जाना था।

सम्पूर्ण काल अथवा सामाजिक इतिहास को चार युगों में बांटा गया है। इन युगों के नाम हैं—कृत (सत्), त्रेता, द्वापर और कलि। मानव या आर्यों के समाज का आरंभ कृत युग (या सत् युग) से होता है। दूसरे दो युगों को पार करके महाभारत की लड़ाई के बाद उसने कलियुग में प्रवेश किया था—जिस युग का अन्त अभी नहीं हुआ है।

इस प्रकार से हिन्दू इतिहासकारों के मतानुसार मानव-समाज अथवा उसके समाज ने विकास के चार निश्चित और पृथक युगों को पार किया है। इन चार युगों में से हर एक के अपने सामाजिक संगठन के अलग नियम होते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि हर एक युग में संपत्ति का उत्पादन और वितरण, सामाजिक संबंध, विवाह, परिवार और आचार-विचार के तथा पूजा के नियम अलग-अलग होते थे।

हिन्दू साहित्य इस बात पर खास जोर देता है कि हर युग में मनुष्य के अंदर जिस वस्तु का परिवर्तन होता है, वह धर्म है। और धर्म क्या है? धर्म उसके रहन-सहन का ढंग, उसकी सत्ता का नियम है (धृ धारयति इति धर्मः)। और इस सत्ता का विशेष लक्ष्य क्या है? धन की उत्पत्ति और अपने आपको उत्पन्न करना (सन्तान उत्पन्न करना—अनु०) यानी यौन-संबंध या विवाह। हिन्दू इतिहासकार इनको 'अर्थ' और 'काम' कहते हैं।

आदर्शवादी हिन्दू कुछ भी उपदेश दिया करें पर प्राचीन पूर्वज मनुष्य के जीवन और समाज की सत्ता के लिए भौतिक तत्व को आधार मान कर उसे गौरव प्रदान करते थे।

इतिहास के हिन्दू दार्शनिक सामाजिक विकास के इन चार युगों का वर्णन इस प्रकार करते थे :

एतरेय ब्राह्मण में इस तरह से लिखा है (७-१५)

कृत युग चलता है। *
त्रेता युग खड़ा रहता है।
द्वापर युग धीरे-धीरे चलता है।
कलि लेट जाता है या सो जाता है।

पहले तीन युगों और चौथे का अन्तर बहुत स्पष्ट है। क्योंकि लेखक की आंखों के आगे यही कलि युग चल रहा है इसलिए उस पर विशेष ध्यान दिया गया है और उसका वर्णन विशेष रूप से विस्तार के साथ किया गया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

इन युगों को पार करते हुए मनुष्य के विकास को वेदों ने किस तरह से दिखाया है? क्या उन्होंने समाज में उत्पादन के औजारों और उत्पादन के सामाजिक संबंधों को बदलते हुए दिखाया है? इन सवालों के जवाब में वेद के लेखकों ने क्या सामाजिक विकास को उत्तर के रूप में उपस्थित किया है?

पूरा वेद साहित्य सिर्फ एक मांग को उपस्थित करता है। और उस मांग को पूरा करने के लिए उपायों को खोजता है। वह मांग धन है। इस धन के दो रूप हैं। एक है, अन्न और दूसरा है, प्रजा---मनुष्य। धन या अन्न उस समाज के उत्पादन के साधनों, आर्थिक उत्पादन की क्रियाशीलता का द्योतक है जिसका सीधा संबंध प्रजा से जुड़ा हुआ है। इन दो प्रश्नों पर सभी वेदों की संहिताओं में बहुत मात्रा में सामग्री मिल जाती है।

अन्न के लिए संघर्ष उन दिनों में बहुत कठिन था। पत्थर के औजारों के कारण इस संघर्ष को इतना अधिक कठिन होना पड़ा था। आर्य लोग वन्य अवस्था के लोगों की दशा याद करके कांप उठते होंगे जो संकट में पड़े हुए अपने जीवन को लिये हुए इधर-उधर भटका करते थे, भोजन के लिए जिनके पास कोई निश्चिन्तता नहीं थी, जिनके पास रहने के लिए घर नहीं थे, आग नहीं थी और प्रकृति तथा जंगली पशुओं से बचने के लिए जिन के पास कोई साधन नहीं थे। समाजों के अनेक गिरोह भोजन पाने के इस संघर्ष में नष्ट हो गये। और कभी-कभी मनुष्य को यह सोचना पड़ जाता था कि उसकी पूरी जाति तो इस संघर्ष में खत्म नहीं हो जायगी? वेद के दार्शनिकों ने इस भय को अपनी भाषा में व्यक्त किया है। भोजन के लिए. अपनी सत्ता के लिए और उत्पन्न करने के लिए (सृष्टि---अनु.) वे जो परिश्रम या संघर्ष करते थे वह किसी सृष्टिकर्ता या प्रजापति के परि-

* कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

श्रम या संघर्ष से कम नहीं था। आर्यों के प्रजापति के सामने भी यही समस्या और यही संघर्ष था। सृष्टि करते समय प्रजापति को अनेक बार गर्भपात हुआ और उनको यह भय भी हुआ कि अन्न या भोजन की कमी से उनका नाश हो जायगा।

लेकिन तब दूध की उत्पत्ति हुई। प्रजापति को दूध पिलाया गया। जिससे उनकी जीवन शक्ति फिर लौट आयी। तब उन्होंने चुने हुए ग्यारह पशुओं को आग पर सेंक कर खाया।[1] इस तरह से विश्व पैदा हुआ और जीवित रहा। अगर यह दशा सृष्टि करने वाले ईश्वर की थी तो आप मनुष्य की दशा की कल्पना कर सकते हैं।

इसलिए आर्यों के देवताओं ने अपने नेता इन्द्र से कहा था कि वह पत्थर और हड्डियों के हथियारों से—वज्र और अस्थि से—युद्ध करें। वे पैनी हड्डियां दधीचि की थीं। वृत्र या विश्व रूप के विरोध में इन हथियारों की सहायता से लड़ने के लिए उनसे सब देवताओं ने कहा था। क्योंकि वह वृत्र दूसरों को जीवित रहने के साधन नहीं दे रहा था।

कृत युग की वन्य अवस्था में हजारों वर्षों तक मनुष्य जाति इधर-उधर भूमि पर घूमती रही। वे बहुत से प्रदेशों में गये। कहीं पर भोजन की कमी के कारण, कहीं पर रोगों के कारण, कहीं पर शत्रुओं के हमलों के कारण उन्हें उन प्रदेशों से बाहर निकलना पड़ा। इस विषय में एक बहुत प्राचीन संकेत **वेन्दीदाद** में है। उसमें सोलह प्रदेशों के नाम गिनाये गये हैं जिनमें आर्यों को एक स्थान पर स्थिर होने के पहले घूमना पड़ा था। **वेन्दीदाद** में जिस यात्रा का वर्णन मिलता है उसका संबंध सिर्फ वन्य अवस्था के युग से ही नहीं है वरन् उसके बाद के युगों की यात्राओं से भी उनका संबंध है। हां, कलियुग या सभ्य अवस्था के विषय में उसमें कुछ नहीं लिखा है।

ऐसी दशा में निजी संपत्ति के ऊपर अधिकार करने की समस्या नहीं उठती। दासों को रखना, शासन सत्ता को बनाना संक्षेप में, ऐसे समाज की रचना करना जिसका आधार शोषक और शोषित वर्गों पर हो—इसका भी प्रश्न नहीं उठ सकता था। उस समय में जो कुछ भी पैदा किया जाता था या जिस पर अधिकार किया जाता था वह सामूहिक परिश्रम द्वारा ही उत्पन्न होता था। इसलिए उसका उपभोग भी सामूहिक होता था। प्रकृति के विरोध में संघर्ष करने और जीवित रहने के लिए व्यक्ति व्यष्टि रूप में दुर्बल था।

विकास की दूसरी अवस्था वह है जहां पर मनुष्य ने आग का पता लगाया और पशुओं को पालने की कला को अपना लिया था। सबसे प्राचीन वन्य अवस्था के मनुष्य को न तो आग का पता था और न उसे पशुओं को

[1] **ऋगवेद** ३-९-१-१; २-५।

पालना ही आता था। अग्नि के आविष्कार और पशुपालन ने मनुष्य के सामाजिक संगठन और जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिये थे।

''इन दोनों प्रगतियों ने मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप से मुक्त करने में सहायता दी थी।''[1]

अग्नि का ज्ञान अवश्य ही जंगल में हुआ होगा। बादलों से बिजली वृक्षों पर गिर कर किस प्रकार उसको नष्ट कर देती थी, यह उन्होंने देखा होगा। अग्नि को मनुष्य ने पहले एक नाशकारी भयंकर प्राकृतिक शक्ति के रूप में देखा था, जो हर वस्तु का नाश भीषण क्रोध में आकर कर देती थी।[2] लेकिन समस्या यह थी कि इसको अपनी इच्छा के अनुसार कैसे बनाया जाय? किस प्रकार से मानव के हित में इसका प्रयोग एक नियंत्रित शक्ति या साधन के रूप में किया जाय? आर्य जाति में इस समस्या का समाधान अंगिरस नाम के व्यक्ति या अंगिरस नाम के गोत्र ने किया था। अंगिरस आर्य जाति के उन प्राचीन पूर्वजों में से एक थे जिनको प्रवर कहा जाता है। अंगिरस ने अग्नि की खोज सबसे पहले की थी। इसका पता ऋग्वेद के अनेक मंत्रों से लगता है।*

अग्नि का ज्ञान हो जाने से आर्यों के पास एक ऐसा साधन हो गया जिसने उनके पूरे जीवन को तेजी से बदल दिया, मानो उनके जीवन में कोई महान क्रांति आ गयी थी। यह क्रांति इतनी महान थी कि आर्यों का इसके बाद का पूरा जीवन मानो अग्नि से ही उत्पन्न हुआ था, उसी के चारों ओर घूम रहा था और वही अग्नि उनका आधार थी। सृष्टि, अस्तित्व (सत्ता), उन्नति, धन, सुख, आदि सब वस्तुएं अग्नि से पैदा होती थीं। अग्नि के द्वारा दो महत्वपूर्ण परिवर्तनों का जन्म हुआ। एक तो पशुओं में धन की उत्पत्ति और दूसरे मनुष्य की जनसंख्या में धन की उत्पत्ति (प्रजा पशवाः)।

आग के द्वारा यह संभव हो सका कि शिकार में मारे गये पशु के मांस और मछली को भून कर या पका कर आसानी से पचाया जा सके। इसलिए महान देवता अग्नि को 'अमद' या कच्ची वस्तुओं को खाने वाला कहा गया है। उसे ''क्रव्यद'' भी कहा गया है जिसका अर्थ होता है—मृत का मांस खाने वाला। अग्नि जंगली पशुओं, शत्रुता करने वाले भूत-प्रेतादि को दूर भगाती है।[3] जलती हुई लकड़ी या मशाल के रूप में जंगली

1 ''प्रकृति का द्वंद्ववाद'', एंगेल्स, पृष्ठ २८८.

2 ऋगवेद : १-१४३-५; १-६५-४.

* त्वाम् अग्ने अंगिरसो गुहाहितम् अन्वविन्दन् शिश्रियाणं वने वने।
स जायसे मथ्यमानः सनो महत्तमाहुः।।
ऋगवेद : ५-२-८; १०-३२-६; ५-११-६.

3 ऋगवेद : ३-१५-१.

पशुओं[1] या उन शत्रुओं के विरुद्ध जिनके पास अग्नि नहीं थी, अग्नि द्वारा हथियार का काम भी लिया जा सकता था, और उनके ऊपर फेंका जा सकता था। ऋतुओं के कष्टों से अग्नि ने मनुष्य को छुटकारा दिलाया। रात के अंधकार में भी इसके कारण मनुष्य की गति संभव हो सकी। साइबेरिया के क्षेत्रों में यह रात बहुत लम्बी और बहुत ठंडी भी हो सकती थी।

अग्नि की सहायता के साथ-साथ पशुओं को पालने की कला भी मनुष्य ने अपना ली। नियमित भोजन के कठोर प्रश्न को उसने बहुत सीमा तक हल किया।[2] शिकार खेलना और मछली मारना इतना दुष्कर था कि मनुष्य को नर-मांस भक्षण का सहारा लेना पड़ता था। लेकिन एक बार जैसे ही स्वर्ग से अग्नि मनुष्य के घर में आ गयी और मनुष्य ने पशुओं को पालना शुरू कर दिया—जो उसे दूध और मांस देते थे, वस्त्रों के लिए अपनी खाल और रोम देते थे, जिनसे मनुष्य गरमी का अनुभव करता था, जिनकी हड्डियों और सींगों से उपयोगी औजार बनते थे—वैसे ही मनुष्य का जीवन एक नये और अधिक ऊंचे युग में आ गया। युग में परिवर्तन हो गया।

इन सब परिवर्तनों की नेता फिर वही अग्नि थी। इसी अग्नि ने आगे चल कर कच्चे लोहे को पिघलाना संभव बनाया जिससे मानव समाज में एक और नयी क्रांति हुई—लेकिन यह घटना बाद में संभव हुई थी, इस काल में नहीं। इसलिए ऋग्वेद में अग्नि को बस्तियों का नेता और रक्षक कहा गया है। अग्नि विशपति है—विश का अर्थ है बस्ती। केवल अग्नि ने ही गृहस्थ-जीवन को संभव बनाया था। देवताओं ने उसे मनुष्यों के लिए भेजा था। वह मनुष्य जाति की सबसे पुरानी और सबसे महान सखी थी (संस्कृत भाषा में 'अग्नि' शब्द पुल्लिंग है इसलिए उसे मित्र कहा गया है—अनु.) वास्तव में अग्नि के ही द्वारा देवता भी अपना भोजन पाते थे।

"व्यावहारिक रूप में यांत्रिक गति को ताप में परिणत करने का अन्वेषण इतना प्राचीन है कि यह माना जा सकता है कि इसका आरंभ मनुष्य के इतिहास के साथ-साथ हुआ होगा। औजारों को बनाने और पशुओं के पालने के रूप में इस आविष्कार के पहले चाहे जितने और आविष्कार हुए हों लेकिन रगड़ द्वारा आग पैदा करना पहला आविष्कार था जिसने प्रकृति की एक जड़ शक्ति को मनुष्य की भलाई के लिए, उसके अधिकार में दिया था। मनुष्य जाति की इस महान प्रगति का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर बहुत पड़ा। आज तक इस प्रभाव के चिन्हों को हम साधारण जनों के काल्पनिक विश्वासों में देख सकते हैं। ब्रांज

1 ऋगवेद : ३-१५-१.
2 ऋगवेद : ६-६६-२; ५-२६-७; १-५८-४, आदि।

और लोहे को प्रयोग में लाने के बहुत बाद भी लोग पत्थर के चाकू को नहीं भूल गये थे। प्राचीन युग का एक औजार होने के नाते उसकी प्रतिष्ठा की पूजा सभी धार्मिक बलिदानों में की जाती थी। धार्मिक बलिदानों में लोग उसी का प्रयोग करते थे। एक यहूदी कहानी के अनुसार जोशुआ ने यह आज्ञा दी थी कि जिसका जन्म धर्म के अनुसार न हुआ हो उसका खात्मा पत्थर के चाकू से करना चाहिए। केल्ट और जर्मन जब नर-बलि देते थे तो खास तौर से पत्थर का चाकू काम में लाते थे। लेकिन इन सब बातों को बहुत दिनों पहले लोग भूल गये थे। परन्तु रगड़ कर आग बनाने वाली बात दूसरी थी। आग बनाने के अनेक उपायों को जान लेने के बहुत बाद भी प्रत्येक जाति में पूजा की अग्नि या पवित्र अग्नि को रगड़ कर ही पैदा किया जाता था। यहां तक कि आज भी यूरोप के बहुसंख्यक देशों में जन-साधारण के काल्पनिक विश्वास इस बात का हठ करते हैं कि चमत्कारपूर्ण शक्ति वाली अग्नि (जैसे जर्मनी में संक्रामक रोगों को दूर करने के लिए पवित्र उत्सव-अग्नि) को रगड़ कर ही पैदा करना चाहिए। इस तरह से हम यह देखते हैं कि हमारे युग तक प्रकृति के ऊपर मनुष्य की पहली महान विजय जाने-अनजाने स्मृति के रूप में काल्पनिक विश्वासों में चली आ रही है। इस स्मृति के चिन्ह पौराणिक कथाओं और दुनिया के सबसे ज्यादा शिक्षित लोगों में भी मिलते हैं।''

(**प्रकृति का द्वंद्ववाद**, एंगेल्स, पृष्ठ ७९-८०, लारेंस व विशर्ट, १९४६ सं.)

इस प्रकार आर्यों ने अपने नये जीवन का निर्माण अग्नि और पशुओं को केन्द्र बना कर किया। उत्पादन के नये साधनों द्वारा समाज की रचना की गयी थी जिसमें उत्पादन की शक्तियां नये स्तर पर पहुंच गयी थीं। एक ऐसी उत्पादन-प्रणाली का जन्म हुआ जिसने मनुष्य के इतिहास में पहली बार बीते युगों की अपेक्षा सम्पत्ति और बहुत ज्यादा धन पैदा किया था। इसके पहले युग में जीवन आधार दुर्बल और अस्थिर था, लोग एक जगह से दूसरी जगह पर घूमते-फिरते थे, नाश और मृत्यु फैले हुए थे। सृष्टि और सृष्टिकर्ता का ''गर्भपात'' हो रहा था। उत्पादन की नयी प्रणाली, और नयी शक्तियों ने मनुष्य को वन्य अवस्था से निकाल कर अर्ध-वन्य अवस्था में ला खड़ा कर दिया था। कृत युग से मनुष्य समाज त्रेता युग में आ गया। घूमने का जीवन छोड़ कर वह बस्तियों में रहने लगा। भुखमरी और कभी-कभी होने वाले नर-मांस भक्षण को छोड़ कर वह नियमित भोजन, आश्रय और गरक्षा का जीवन बिताने लगा। नंगे रहने के स्थान पर उसके पास वस्त्र हो गये। प्रकृति के सामने जिस दुर्बलता और निस्सहायता का अनुभव वह कर रहा था उसको छोड़ कर वह शक्तिवान और उन्नत अवस्था की ओर बढ़ने लगा। पहले वह घूम रहा था और थकावट के कारण लम्बी-लम्बी सांसें

ले रहा था, लेकिन अब वह विश्वास के साथ खड़ा था और आनन्द, मुस्कराहट तथा गीतों से दीप्त हो उठा था।

उत्पादन की इस नयी प्रणाली, इस नये सामाजिक संगठन, इस नयी हासिल कला को उन्होंने किस नाम से पुकारा?

वैदिक परम्परा कहती है कि अग्नि, पशुपालन तथा बस्तियां (विश् या व्रज) के निर्माण के साथ-साथ यज्ञ की उत्पत्ति हुई। त्रेता युग * में ब्रह्म ने—जो सृष्टिकर्ता था—मनुष्य**को यज्ञ प्रदान किया। यज्ञ कृत युग में नहीं था। परंपरा का यह भी कहना है कि ब्रह्म ने मनुष्य को जितनी वस्तुएं भेंट की हैं, यज्ञ उन सब में श्रेष्ठ है। इसने मनुष्य को एक युग से निकाल कर दूसरे युग में पहुंचा दिया था।

अग्नि का पता लगने के बाद यज्ञ उत्पादन की नयी प्रणाली बन गयी, जिसमें आर्यों के समाज ने प्रवेश किया। इस यज्ञ प्रणाली में नयी रीति से रहता हुआ मनुष्य ब्रह्म को विकास और वैभव की ओर ले गया था। जब यज्ञ किया जाता था तो ब्रह्म, यानी सृष्टि का अस्तित्व होना आरंभ हो जाता था। वह ब्रह्म बिना इस यज्ञ के नहीं रह सकता और न इस यज्ञ के बाहर ही रह सकता था, उसके अस्तित्व का रूप ही यज्ञ था। इसलिए हम आरंभ के यज्ञ और ब्रह्म की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं: **आर्यों के साम्य-संघ का नाम ब्रह्म है और यज्ञ उस समाज की उत्पादन प्रणाली है—आदिम साम्य-संघ और उत्पादन की सामूहिक प्रणाली का यही रूप था।** उत्पादन की इस प्रणाली तथा विराट ब्रह्म के जीवन अथवा साम्य-संघ का ज्ञान वेद है। हिन्दू परंपरा ने इतिहास को इसी तरह से लेखबद्ध किया है। और आर्य इतिहास के सबसे प्राचीन युग—आदिम साम्यवाद के युग—को समझने के लिए यही एक कुंजी है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद का यह मत है कि आदिम साम्यवाद, सामाजिक मनुष्य के ऊपर, उसकी उत्पादक शक्तियों के बहुत अधिक पिछड़े होने के कारण, बहुत ही कम उत्पादन के कारण अनिवार्य रूप से लादा जाता है। उत्पादन की अधिकता के कारण आदिम साम्यवाद की स्थापना नहीं होती। वहां पर (आदिम साम्यवादी व्यवस्था में—अनु.) जो भी उत्पादन होता है वह सामूहिक परिश्रम से ही संभव होता है—निजी उत्पादन, निजी उपभोग तथा निजी गृहस्थी का जीवन वहां संभव नहीं होता है। इसी आवश्यकता (उत्पादन की आवश्यकता—अनु.) के आधार पर मनुष्यों के परस्पर संबंध नियंत्रित होते हैं। आदिम साम्यवादी व्यवस्था के ये विशेष गुण हैं। यज्ञ की उत्पादन प्रणाली में क्या ये

* त्रेतायुगे विधिस्तुएष यज्ञानाम्
न कृतयुगे—महाभारत, शांति पर्व (२३८-१०१)
त्रेतादौ यज्ञाः—महाभारत शांति पर्व (२४४-१४)

** सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा।

विशेषताएं मिलती हैं? जिस तरह से सब प्राचीन जनसमूहों के इतिहासों में आदिम साम्यवाद या सामूहिकतावाद की अवस्था में विशेषताएं रहीं हैं क्या उसी प्रकार की विशेषताएं ब्रह्म या आदिम साम्य-संघ के जीवन, संस्कृति, दर्शन, आचारशास्त्र और नैतिकता में रहीं हैं? यज्ञ की उत्पादन प्रणाली और ब्रह्म में क्या हमें आदिम साम्यवादी व्यवस्था के वे मूल तत्व मिलते हैं जिनको मॉरगन ने लिखा है, जिनको मार्क्स और एंगेल्स ने समझाया है और जिनको वे पूंजीवादी विद्वान भी थोड़ा बहुत मानने पर मजबूर हो जाते हैं जो ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को नहीं मानते? हां, वे मूल तत्व मिलते हैं। आगे हम इसे दिखाने की कोशिश करेंगे।

आदिम साम्यवादी व्यवस्था की उत्पादन प्रणाली, उसके जीवन के मूल तत्व इस प्रकार हैं—उस व्यवस्था में सामूहिक परिश्रम और सामूहिक उपभोग होता था। निजी संपत्ति नहीं थी। आरम्भ में श्रम-विभाजन नहीं था पर बाद में उत्पादन-शक्तियों के बढ़ने पर वह प्रकट होने लगा था। वर्गों का अस्तित्व नहीं था—सामाजिक संगठन का रूप 'गण' संगठन होता था जिसका आधार मातृसत्ता थी, उसके सब सदस्य आपस में संबंधी होते थे। व्यक्तिगत कुटुम्ब और विवाह का वह अर्थ जो बाद की सभ्यताओं में लगाया जाता है उस समय नहीं था। जितनी भी क्रियाशीलताएं थीं वे साम्य-संघ के मतानुसार होती थीं। उस व्यवस्था में उत्पादन के संबंधों को या सम्पत्ति के संबंधों को जबर्दस्ती लादने के लिए कोई ऐसी शासन-सत्ता नहीं थी जिसके पास सेना और पुलिस हो या जो कर लगाती हो, इसलिए शासन-सत्ता के किसी कानून को लागू करने के लिए सत्ता के यंत्र का अस्तित्व नहीं था।

जब इन चीजों का अस्तित्व होता है तो साम्य-संघ टूट जाता है और उसकी सामूहिकता नष्ट हो जाती है।

वैदिक साहित्य में ये सब विशेषताएं—हिन्दू आर्यों के समाज के अनेक यज्ञों का वर्णन करते हुए—अपनी शैली में कही गयी हैं। वेद की संहिताओं में अनेक युगों की स्मृतियां और तत्व संकलित हैं। जब देवता यज्ञ करते थे, यज्ञ में रहते थे और यज्ञों द्वारा जीवित रहते थे तब यज्ञ वह तत्व था जो संपूर्ण जीवन का नियंत्रण करता था। उनमें यज्ञों का भी वर्णन मिलता है जो किसी युग में आकर विधि-मात्र ही रह गये थे। इन विधियों को राजा, धनी तथा दरिद्र गृहस्थ, ब्राह्मण-पुरोहितों की सहायता से करते थे। इनके द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर वे अपनी मनोकामना पूरी करने की चेष्टा करते। यह हमारा काम है कि हम प्राचीनतम यज्ञ को, जिनमें पुरातन जीवन और उस युग की उत्पादन प्रणाली के रूपों की यथार्थता प्रतिबिंबित होती थी, बाद की विधियों से अलग करके देखें। कहने का मतलब यह कि हमें जीवित यज्ञ और मृत विधि-कर्म के भेद को सदैव ध्यान में रखना होगा।

वेद-साहित्य के विद्वानों ने किसी हद तक इस भेद को देखा है पर इतिहास में उसको समुचित स्थान नहीं दे सके हैं। यह स्वाभाविक है कि सबसे ज्यादा उलझन उस रहस्यमय यज्ञ के विषय में है जिसके बारे में यह कहा जाता है कि उसे देवताओं ने किया था। यह सत्य है कि यह यज्ञ सबसे अधिक रहस्यमय है। साहित्य में इसका वर्णन इस तरह से मिलता है जिससे ऐसा मालूम होता है कि जिस समय वैदिक विधि-कर्म लिखा गया उस समय इसका अस्तित्व नहीं था। ये रहस्यमय यज्ञ 'सत्र' और 'क्रतु' हैं। ये सत्र और क्रतु क्या हैं? किस समय इनका अस्तित्व था और इनकी विशेषताएं क्या थीं?

सत्र और क्रतु यज्ञ उस समय अपने चरम शिखर पर थे जिस समय देवता यज्ञ करते थे। उसके बाद आर्य लोग शायद ही कभी इन यज्ञों की नकल कर सके। लेकिन अपने यज्ञों का लगातार विकास वे इस प्राचीन यज्ञ से अवश्य करते रहे थे। आर्यों की धार्मिक कथाओं में देवता उनके पूर्वज माने जाते हैं। वैसे देवता प्राकृतिक शक्तियों के व्यक्तिरूप भी हैं। इन दोनों प्रकार के देवताओं को किसी सीमा तक पहचाना जा सकता है। **देवताओं द्वारा किया गया सत्र यज्ञ, प्राचीन आर्यों का सामूहिक रूप में किया गया परिश्रम है।**

सत्र यज्ञ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस यज्ञ में भाग लेने वाले सभी लोग ऋत्विज और यजमान होते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ ? बाद के विधि-कर्म वाले यज्ञों में भाग लेने वाले लोग विभिन्न ऋत्विज श्रेणियों में बंटे हुए थे—गृहस्थ लोग उनसे यज्ञ करवाते थे। जो यज्ञ कराते थे उनको यजमान कहा जाता था। यजमान यज्ञ करने के उपलक्ष में ऋत्विजों को दक्षिणा देते थे। पर सत्र यज्ञ में यह सब कुछ नहीं होता था। प्राचीन प्रणाली के अनुसार यह यज्ञ एक सामूहिक आयोजन होता था। सामूहिक परिश्रम के रूप में सभी लोग इसमें भाग लेते थे। उनमें कोई श्रेणी-विभाजन अथवा श्रम-विभाजन नहीं होता था। परवर्ती आर्यों के समय में ऋत्विजों का जो विभाजन सत्रह श्रेणियों में हुआ था, उसका अस्तित्व इस युग में नहीं था।

सत्र यज्ञ की दूसरी विशेषता जो बाद के अन्य यज्ञों में नहीं पायी जाती 'यज्ञ-फल' है। यज्ञ में किये गये सामूहिक परिश्रम का फल 'यज्ञ-फल' कहलाता था। यह यज्ञ-फल समान रूप से सब लोगों में बांटा जाता था और समान रूप से सभी लोग उसका उपभोग करते थे। 'समाख्या' नामक विधि इस समान उपभोग की प्रतीक है। एक ही बर्तन से सोमरस का पान करना समाख्या का अर्थ था। सोमयाग यज्ञ के अग्निष्टोम में यह समाख्या की जाती थी। और किसी दूसरे यज्ञ में यह समाख्या नहीं होती थी। इसलिए सत्र यज्ञ की यह विशेषता अपना एक गंभीर अर्थ रखती है।

सत्र यज्ञ की तीसरी विशेषता यह है कि उसमें भाग लेने वाले सभी

लोग एक ही गोत्र के होते थे—उन सब लोगों में एक खून का संबंध होता था। अन्य यज्ञों में ऐसा नहीं होता था। इसका मतलब यह था कि साम्य-संघ के सभी सदस्य एक ही रक्त से संबंधित होते थे और कोई ऐसा व्यक्ति जो उससे बाहर होता था उसमें भाग नहीं ले सकता था। सत्र श्रम या सामाजिक काम को आरंभ करने के पहले सब लोग (वेदी पर ?—अनु.) अपने हाथों को रख कर प्रतिज्ञा करते थे कि निष्पाप होकर एक मन से अन्त तक सब लोग साथ देंगे। इस विधि को तानून-पत्रप्रचार कहा जाता था।

प्रत्येक साम्य-सांघिक परिश्रम में इस बात की आवश्यकता रहती थी कि एक व्यक्ति को अलग बैठा दिया जाय जो योजना के अनुसार परिश्रम की प्रक्रियाओं का संगठन कर सके और उन्हें ठीक रास्ते पर ले जा सके। इसलिए सत्र यज्ञ की चौथी विशेषता यह थी कि किसी विशेष कार्य को संपन्न करने के लिए कुछ समय के लिए व्यक्तियों का चुनाव किया जाता था। यह विधि तब प्रयोग में आयी होगी जब कार्य के अनेक रूप हो गये होंगे और उत्पादक शक्तियां समुन्नत हो गयी होंगी। इसी से प्रवरण-विधि या चुनाव का जन्म हुआ होगा। जब काम पूरा हो जाता था तो साम्य-संघ की साम्यता में सभी प्रमुख कार्यकर्ता मिल कर एक हो जाते थे।

सत्र यज्ञ की पांचवीं विशेषता यह थी कि पुरुष और स्त्रियां दोनों ही सत्र यज्ञ या परिश्रम में भाग लेते थे। बाद के यज्ञों में यह विधि नहीं मिलती।

सत्र यज्ञ या सत्र परिश्रम की ये सब विशेषताएं इस बात को बताती हैं कि प्राचीन आर्यों में आदिम साम्य-संघ का अस्तित्व था।

वेद-साहित्य के कुछ विद्वान यहां पर यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या सत्र यज्ञ केवल गृहस्थ लोगों का सामान्य यज्ञ नहीं था जिसके विषय में वैदिक परम्परा के अनुसार सत्र साहित्य में इतना सब लिखा हुआ मिलता है ? नहीं, ऐसा नहीं था। सत्र यज्ञ की पहली, तीसरी, चौथी और पांचवीं विशेषता गृहस्थ यज्ञों में किसी में भी नहीं पायी जाती थी।

कुछ लोग यह प्रश्न भी कर सकते हैं कि क्या सत्र यज्ञ किसी खास अवसर के लिए कोई विशेष उत्सव तो नहीं होता था ? बाल गंगाधर तिलक ने अपने ग्रंथ 'वेदों में उत्तरी ध्रुव का प्रदेश' (आर्कटिक होम इन दि वेदाज) में इन सत्र यज्ञों की ओर ध्यान दिया है। वे इन यज्ञों को सबसे अधिक प्राचीन मानते थे। वे यह भी मानते थे कि सत्र यज्ञ उन यज्ञों के समूह का नाम है जिनको आर्य लोग अनेक दिनों में और महीनों में बार-बार करते थे। बाल गंगाधर तिलक आदिम साम्य-संघ के जीवन की सामूहिक उत्पादन-प्रणाली को नहीं मानते हैं। लेकिन उन सभी वेद साहित्य के विद्वानों के, जो यज्ञ के

विषय में कुछ भी सामाजिक दृष्टिकोण रखते हैं, विवादों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने जीवन की रक्षा और उसकी रचना करने के लिए साम्य-संघ जिन क्रियाओं को दिन-प्रतिदिन करता था उन क्रियाओं के समूह को सत्र कहते थे। इसीलिए संस्कृत भाषा में 'सत्र' शब्द का अर्थ 'एक साथ', 'मिल कर', 'समूह' (साकं सत्रा समं सह इति अमरः) लगाया जाता है।

उदाहरण के लिए हम त्रिरात्रक्रतु को लें, जिसको करने से देवताओं ने बहुत साधन पा लिया था। इस क्रतु से हमें यह पता लगता है कि सबसे अधिक प्राचीन काल में आर्य लोग अपने पशु-धन को कैसे उत्पन्न करते थे और उसे बढ़ाते थे। यज्ञ-कथा अथवा आख्यायिका द्वारा हमें यह मालूम होता है कि इस यज्ञ का जन्म किस तरह से हुआ और उसको किन विधियों से किया गया था। त्रिरात्रक्रतु की विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत तीन क्रतु सम्मिलित हैं। एकता में आबद्ध होकर उनको सामूहिक रीति से किया जाता है। इस यज्ञ की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है :

देवताओं में तीन देव-गण (देव साम्य-संघ) थे। उनके नाम वसु, रुद्र और आदित्य थे। प्रजापति ने इन तीन गणों (समूहों) को उत्पन्न किया था। आख्यायिका में इन तीन समूहों के लिए गण और संघ शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रजापति ने उन तीनों को एक-एक अग्नि दी और उसकी पूजा करने के लिए कहा। उन तीनों ने मिल कर उस अग्नि की पूजा एक वर्ष तक की और उसमें से एक गाय को उत्पन्न किया। उनके इस महान परिश्रम से प्रजापति बहुत प्रसन्न हुए और उस गाय को 'वसु गण' को दे दिया जिससे वे उत्पादन कर सकें। उस एक गाय से उन्होंने तीन सौ तैंतीस गायों को पाला। तब प्रजापति ने पहली गाय को 'वसु गण' से ले लिया और उसे 'रुद्र गण' को दे दिया। उस एक गाय से उनके पास भी तीन सौ तैंतीस गायें हो गयीं। तब प्रजापति ने उस पहली गाय को रुद्र से लेकर 'आदित्य गण' को दे दिया। उस गण के पास भी तीन सौ तैंतीस गायें हो गयीं। तब उन्होंने उन नौ सौ निन्यानवे गायों को और पहली एक गाय को मिला कर एक हजार गायों से यज्ञ किया। और उन सब को दक्षिणा के रूप में भेंट कर दिया (जैसा कि बाद के भाष्यकार कहते हैं)।

आर्य गणों में प्राचीन काल में सामूहिक उत्पादन-प्रणाली किस तरह से होती थी उसके मूल तत्वों को इस कथा (आख्यायिका) में स्पष्ट और सरल शैली में कहा गया है। इस उत्पादन-प्रणाली की पहली विशेषता यह है कि जो क्रतु यज्ञ को करते हैं वे गण-संघ के देवता हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे देवता प्राचीन जनवादी आदिम साम्य-संघ या गण-संगठन के सदस्य हैं। दूसरी विशेषता यह है कि तीन अग्नियों को लेकर उन्होंने

मिल कर एक साथ सामूहिक परिश्रम किया जिससे यह ज्ञात होता है कि उन दिनों में व्यक्तिगत वितरण अथवा व्यक्तिगत अधिकार असंभव था। कथा में एक गाय को धन के उत्पादन का कारण कहा गया है। अगर वे इससे आगे धन उत्पन्न करना चाहते थे तो इस एक गाय को तीन भागों में नहीं बांट सकते थे। तीसरी विशेषता यह है कि गण-संघों के पास जब धन हो जाता है तो एक तरह की उत्पादन की समानता गायों की एक सी संख्या द्वारा प्रतीत होती है। यह समानता इस बात से भी मालूम होती है कि तीनों गणों को बारी-बारी से गाय दी गयी थी। चौथी विशेषता यह है कि जितना भी उत्पादन इस तरह से हुआ था उसको एक साथ मिला दिया गया और तीनों गणों ने मिलकर इस उत्पादन का उपभोग किया जिसको यज्ञ कहा गया है। इससे अधिक और स्पष्ट रूप में सामूहिक यज्ञ उत्पादन और वितरण प्रणाली का वर्णन नहीं किया जा सकता।

अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि उत्पादन की इस यज्ञ-प्रणाली में पूरा साम्य-संघ दिन प्रति दिन कौन-कौन से काम या परिश्रम करता था? सत्र परिश्रम की विशेष क्रियाशीलताओं को आसानी से सोमयोग के अग्निष्टोम, षडांग क्रतु और देव सत्र के आधार पर समझा जा सकता है।

आदिम साम्य संघ एक बहुत छोटी इकाई थी। ठीक उसी तरह से जैसे हम पोलीनेशियन कबीलों के झोपड़ों की छोटी बस्तियों में या भारत के कुछ गांवों में आज भी पाते हैं। इस साम्य-संघ का प्रमुख धन पशु था। इसलिए उनकी सुरक्षा का प्रबंध खास तौर से किया जाता था। पत्थरों का बाड़ा उनके लिए बनाया जाता था। पत्थरों का बाड़ा कभी-कभी इतना बड़ा बनाया जाता कि पूरी बस्ती को वह घेर लेता था। उनको अश्मव्रज कहते थे। प्राचीन यूरोप में उसी के समान पत्थरों के बाड़े होते थे। समिध नाम की जलाई जाने वाली लकड़ी से प्रज्वलित अग्नि उनके जीवन का केन्द्र थी। लकड़ी के बने एक चतुर्भुज आकार[1] में, जिसकी लम्बाई ४८ फीट और चौड़ाई ३६ फीट थी, यह अग्नि रखी जाती थी। साम्य-संघ के लिए यह लकड़ी का बाड़ा सब की रसोई घर का भी काम देता था। उसी के निकट साम्य-संघ का एक घर और होता था जिसमें दूध के बर्तन, दही, घी, अन्न आदि रखे जाते थे। एक विशेष संस्थान की रचना भी की जाती थी जहां पर वह वनस्पति या घास रखी जाती थी जिससे सोमरस निकलता था। उसी संस्थान में सोमरस निकाला जाता था और उसे उठाया जाता था। उसको पीने के लिए विशेष बर्तन होते थे जिनको 'ग्राह' कहते थे, वे भी वहीं रखे जाते थे। साम्य-संघ के लिए उस स्थान पर सोमरस निकाला जाता था। सबके लिए एक साथ बैठने की जगह अलग थी। बैठने के लिए मिट्टी के छोटे-छोटे चबूतरे उस स्थान

[1] जो प्रज्ञांश-मंडप कहलाता था।

पर बने होते थे। इन चबूतरों को 'चत्वल' कहते थे। इन पर बर्हि घास बिछा दी जाती थी। इस विस्तृत भूमि पर सब लोग एकत्र होते थे। इस भूमि को महा-वेदी कहा जाता था। यहीं पर मिल कर सब लोग दिन भर काम करते, भोजन करते और अग्नि देवता की प्रसन्नता से जो कुछ मिल जाता उसका उपभोग करते थे।

ऐसा लगता है कि जनसंख्या काफी थी क्योंकि उनको उतने विस्तृत भूखण्ड की आवश्यकता पड़ती थी जिसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम १०८ फीट, पूर्वी कोने पर उत्तर-दक्षिण की चौड़ाई ७२ फीट और पश्चिम कोने पर ६० फीट होती थी। उसके पास ही कुछ जगह ऐसी अलग बनी थी जहां पर कूड़ा-करकट डाला जाता था।

प्रातःकाल में ''होता'' (होतृ) का यह काम था कि वह देवताओं और मनुष्यों को पुकार कर एकत्र करे। तब हर एक को काम बांट दिया जाता था। कुछ लोग सोम-वनस्पति को लेने जाते थे। उनका काम उनको पीस कर उसमें से रस निकालना होता था। कुछ लोगों को उस घास को काटने के लिए भेजा जाता था जिस पर बैठा जा सके अथवा जिसका प्रयोग वस्त्र के स्थान पर अथवा सर को ढंकने के लिए किया जा सके। उस घास को भी लोग लाने जाते थे जिससे पशुओं को बांधने के लिए रस्सियां बनती थीं। उस घास की भी जरूरत पड़ती थी जिससे मकानों को ढंका जाता था। कुछ लोग अग्नि के लिए लकड़ियां काटने जाते थे। दुहिता गायों और भेड़ों के दूध को दुहती थीं। शमिता भोजन के लिए पशुओं को काटती थी, उसकी खाल अलग करती थी और उसके मांस को पकाने के लिए आग पर रखती थी। अन्न को पत्थर पर पीसा जाता था जिसके चारों ओर लकड़ी का बर्तन लगा होता था। चक्की का निर्माण अभी नहीं हुआ था। मिट्टी से बर्तनों को बनाना पड़ता था। अभी तक धातुओं के पिघलाने का आविष्कार नहीं हुआ था। बेंत, लकड़ी या घास की टोकरियां बनायी जाती थीं। गृहपति चुना हुआ व्यक्ति होता था। वह पुरुष और नारियों को अपने-अपने कामों पर नियुक्त करता था। अनेक अध्वर्यु काम देखते थे, उसे कैसे करना चाहिए यह बताते थे और काम में स्वयं भाग भी लेते थे। ब्रह्म हर काम का निरीक्षण करते थे और जो गलती इधर-उधर होती थी उसकी ओर संकेत करते रहते थे। उग्दाता गीत गाते थे और काम करने वालों में उत्साह भरा करते थे। प्रत्येक सामूहिक परिश्रम एक तरह का लय या ताल चाहता था। उग्दाता के गीतों में वह ताल या लय रहती थी। परिश्रम आसान नहीं था फिर भी उसमें नीरसता नहीं थी। परिश्रम आसान नहीं था, यह इस बात से मालूम होता है कि चक्की के न होने के कारण अन्न को पीस कर आटा नहीं निकाला जा सकता था और घास काटने के लिए घोड़े की पसली के कोनों को तेज करके काम में लाना पड़ता था। उन दिनों पशु को तलवार जैसे हथियार से मारा नहीं जा सकता था और

न चाकू से उसकी खाल ही खींची जा सकती थी क्योंकि तब तक लोहे को पिघलाना लोग नहीं जानते थे। इसलिए या तो उसे डंडे से मारते थे या गला घोंट कर मारते थे। उसकी खाल अलग करने के लिए हड्डी को काम में लाना पड़ता था। इस तरह से उत्पादन के औजारों का पिछड़ापन ज्ञात होता है, और इसी से यज्ञ परिश्रम और उस साम्य-संघ का पिछड़ापन मालूम हो जाता है।

इस रीति से जो कुछ उत्पन्न होता था उसका उपभोग करने के लिए उसे महा-वेदी पर लाया जाता था। धर्म की ऐसी ही आज्ञा थी। देवताओं और पितरों को उनका भाग दे देने के बाद (इसे 'हवि' कहते थे जिसके बिना देवता और पितर जीवित नहीं रह सकते—अवश्य ही यह उस यज्ञ में होता था जिसका संबंध मनुष्यों से था) जो कुछ बचता था और जिसे हुताशेष कहते थे, वह सबके उपभोग के लिए होता था। प्रतिदिन जो हवन होता था वह भोजन के वितरण की प्रणाली के सिवा और कुछ नहीं था। सामूहिक ढंग से भोजन का उत्पादन किया जाता था और वह पूरे साम्य-संघ में बांटा जाता था। इसलिए हवन, यज्ञ का ही एक अभिन्न अंग होता था।

यह सब काम आरंभ होकर आनन्ददायक सोमरस के पीने के साथ खत्म हो जाता था। सोमरस के साथ-साथ आटे के पके हुए पुरोडाश, उबले हुए जौ और चावल जिसमें दूध और दही मिलाया जाता था—वे खाते थे। दिन का सब से ज्यादा आनन्द देने वाला और प्रमुख भोजन मांस का सह-भोज होता था। इस मामले में आर्य लोग कोई संकोच नहीं करते थे। मांस खाने के विषय में वे शायद ही किसी पशु को छोड़ देते हों। यद्यपि साधारण रूप से वे बकरा, भेड़ और हिरन का मांस खाते थे। गाय और बैल का मांस भी खाया जाता था। पर गाय और बैल बहुत मूल्यवान होते थे इसलिए उनकी बारी बहुत दिनों के बाद आती थी। इस तरह से खूब खा-पीकर वे लोग आग के चारों ओर लेटते थे। बहुत पहले तो अनियमित संभोग की प्रथा थी पर बाद में जब युग्म परिवार का जन्म हो गया तो एक स्त्री और एक पुरुष अपने अपने झोपड़ों में सोने के लिए चले जाते थे। मनुष्य और अग्नि दोनों प्रसन्न थे। इस प्रकार से ब्रह्म या साम्य संघ रहता था, काम करता था, आनन्द मनाता था और अपनी संख्या बढ़ाता था।

अध्याय ४

यज्ञ, ब्रह्म और वेद

यहां पर यदि हम 'यज्ञ' शब्द के अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति की ओर ध्यान दें तो अनुचित नहीं होगा। 'यज्ञ' शब्द वास्तव में एक शब्द नहीं है वरन् एक वाक्य है। इस वाक्य के तीन अंश हैं—य, ज और न। य अथवा 'इ' धातु का अर्थ जाना या एकत्र होना है। 'ज' का अर्थ पैदा करना या उत्पादन है। 'न,' 'अन् - अन्त,' ये तीन प्रत्यय धातुओं के अन्य पुरुष बहुवचन के रूप में लगाये जाते हैं। सब मिला कर वाक्य का यह अर्थ है कि 'वे आपस में मिलते हैं और उत्पन्न करते हैं'। क्या उत्पन्न करते हैं? वस्तुएं और सन्तान उत्पन्न करते हैं। उसी तरह से 'यजुर्वेद' में यजुस् अथवा यजुर् शब्द भी एक वाक्य है—यज्ञ और उस् या उर। यह 'उर्' भी अन्य पुरुष बहुवचन के रूप का प्रत्यय है। पूरे वाक्य का अर्थ फिर यह होता है 'वे एकत्र होकर मिलते हैं और उत्पन्न करते हैं।' बाद में यह वाक्य केवल संज्ञा मात्र ही रह गया। यज्ञ संज्ञा है। उसका अर्थ हुआ वस्तुओं और सन्तानों को सामूहिक रूप से उत्पन्न करने की प्रणाली। इस प्रणाली का ज्ञान वेद है।

इसलिए आर्यों ने जब तक निजी संपत्ति, वर्ग और शासन सत्ता को जन्म नहीं दिया था, उस समय तक की उनकी प्राचीन सामूहिक उत्पादन प्रणाली का नाम 'यज्ञ' है। और जैसे ही निजी संपत्ति, वर्ग और शासन सत्ता का जन्म हो गया वैसे ही सत्र और क्रतु यज्ञ का अस्तित्व मिट गया। उसके बाद में जिस यज्ञ का अस्तित्व रहा वह सिर्फ शुद्ध विधि-कर्म, पूजा अथवा सामाजिक स्मृति का एक रूप मात्र थी। परवर्ती आर्यों ने यज्ञ पर जिस तरह से विश्वास किया उससे यह मालूम होता है कि उनका समाज यज्ञ के कारण समुन्नत हुआ था। यज्ञ और आदिम साम्य संघ से ही बाद के समाज का जन्म हुआ था जिसमें वर्ग और जातियां थीं। उस समाज का यथार्थ, उसकी विचारधारा और उसके विश्वास सामाजिक परंपरा के अंग बन गये थे। इसलिए जब यथार्थ नहीं रहा तब विचारधारा केवल एक विधि-कर्म या संस्कार के रूप में रह गयी। और जो नया वर्ग उत्पन्न हो गया था उसने इन विधि कर्मों या संस्कारों के विश्वास को अपना अस्त्र बना लिया। इन विश्वासों के बल पर उस वर्ग ने अपनी उस शक्ति का संचय किया जिससे वह उन साधा-

रण लोगों को दबा सका जिनका शोषण वह नयी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में करने लगा था। तब साधारण लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि अगर प्राचीन आर्यों द्वारा किये गये किसी यज्ञ का विधिवत, हूबहू अनुकरण किया जाय तो उसी प्रकार का वैभव और धन प्राप्त हो सकता है। विधि-कर्म का यज्ञ, असली यज्ञ का नकल मात्र रह गया। आगे चल कर हम देखेंगे कि यह कैसे संभव हुआ था। यहां पर विशेष बात देखने की यह है कि वैदिक साहित्य के यूरोपीय और भारतीय विद्वान यह तो साधारण रूप से मानते हैं कि यज्ञ के विधि-कर्मों में कुछ ऐसे अंश हैं जो प्राचीन आर्यों के जीवन को व्यक्त करते हैं[1]। फिर भी वे इसको साफ तौर पर बता नहीं सके कि सत्र और ऋतु क्या हैं? बाद के विधि-कर्मों में आर्यों का विशेष जीवन कैसे व्यक्त हुआ? और भी दूसरी बातों को वे स्पष्ट नहीं कर सके। जैसे कि गोत्र और प्रवर में जो उलझन है उसको भी सुलझाने में वे असफल रहे (इन समस्याओं के बारे में हम आगे लिखेंगे)। वे इसलिए असफल रहे क्योंकि यज्ञ को वे मूलत: या तो देवताओं की पूजा समझते थे या प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व सौंप कर उनकी अर्चना करना मानते थे जिनके अन्दर सामाजिक व्यवहार और अवस्था का थोड़ा बहुत अंश प्रतीकों के रूप में आ जाया करता था। अगर यज्ञ कर्म-कांड में हड्डी से घास काटी जाती थी या पत्थर से अन्न पीसा जाता था तो वे इस निर्णय पर पहुंच जाते थे कि तब खुरपा और चक्की नहीं रही होगी। केवल इतना ही ''सामाजिक'' निष्कर्ष ये विद्वान निकाल पाते थे। पर इस तरह से उस यज्ञ के अर्थ को स्पष्ट नहीं किया जा सकता जिसका आर्य-जाति पर इतना महान अधिकार था, जिसको आर्य लोग जीवन और धन का जन्मदाता समझते थे, जो आर्यों के जीवन में पूरी तरह से व्याप्त हो गयी थी; जब तक कि यह न मान लिया जाय कि अर्द्ध-वन्य अवस्था के लोग अलौकिक शक्तियों पर इसी तरह से विश्वास करते थे। हमारे वैदिक इतिहासकार इस बात को नहीं समझ सके कि हड्डी और पत्थर के औजारों ने, अग्नि और पशु-पालन के नये आविष्कारों ने समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया था और उससे उत्पादन की सामूहिक-प्रणाली का विकास हो गया

[1] श्री कुन्ते ने एक पूरा अध्याय इस बात को समझाने के लिए लिखा है कि किस तरह से सोमयाग में अपने मूल प्रदेश से आर्यों की यात्रा व्यक्त की गयी है। इस विषय को प्रमाणित करने के लिए वे जिस प्रमुख बात का प्रमाण देते हैं वह यह है कि आज की यज्ञ-विधि में वह पंडाल जिसके नीचे अग्नि की स्थापना की जाती है, चार पहियों के ऊपर बनाया जाता है और यूप (लकड़ी का वह खम्भा जिसमें बलि-पशु बांधा जाता था) जमीन में नहीं गाड़ा जाता, बल्कि एक चौड़े आधार पर उसकी रचना की जाती है जिस पर वह आसानी से खड़ा रहता है और सरलता से अपने स्थान से हटाया जा सकता है।

था। वे यह भी नहीं समझ सके थे कि इन दो आविष्कारों ने साम्य-संघ पर अपना बहुत बड़ा प्रभाव डाला था और इसलिए स्वाभाविक तौर से लोगों में उसकी विचारधारा व्याप्त थी। हम आर्यों के प्राचीन इतिहास को तभी स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं जब यज्ञ का अर्थ 'उत्पादन की प्रणाली' मान लें। वन्य अवस्था से अर्ध-वन्य अवस्था तक और अर्ध-वन्य अवस्था से सभ्य अवस्था तक के विकास का एक अर्थ है यद्यपि उसमें अलौकिक अर्थ-हीनता को मिला दिया गया है। केवल कल्पना के स्वप्नों और पूजा की विधियों पर सामाजिक जीवन का निर्माण नहीं हुआ करता। और हमारा काम यह है कि कर्म-कांड और कल्पना की धुंध को पार कर हम सामाजिक जीवन तक पहुंचे।

दूसरी चीज जो हमारे विद्वानों को विचलित कर देती थी वह 'ब्रह्मन्' या ब्रह्म था। यज्ञ की प्रक्रियाओं में, सृष्टि और सामाजिक विकास की कथाओं में यह 'ब्रह्मन्' बार-बार आता था पर हमारे इतिहास के विद्वान इसको ठीक तरह से समझ कर उसका अर्थ निश्चित नहीं कर पा रहे थे।

वे इसको तो स्पष्ट रूप से देखते थे कि वेद-कालीन आर्यों का ब्रह्मन् वह नहीं था जो उपनिषद् के दार्शनिकों का ब्रह्मन् था। इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर था। वेद-कालीन अर्ध-वन्य अवस्था के आर्य लोग जो आदिम साम्य-संघ (कम्यून) में रहते थे उन्होंने न तो समाज के आत्म-विरोधों को देखा था और न वर्ग-संघर्ष तथा शोषण का ही अनुभव किया था। इसलिए बाद के उपनिषदों में हम जिस खोखले आदर्शवादी दर्शन को पाते हैं उसका विकास करना इन लोगों के लिए असंभव था। उपनिषदों में ब्रह्मन् को मौलिक बुद्धि, चेतना अथवा आत्मा कहा गया है, विश्व या सृष्टि उसका आभास मात्र है। यह ब्रह्म निर्गुण है, अथवा यों कहें कि सब गुणों के परे है। जब कि वैदिक ब्रह्मन् बाह्य सत्ता का एक यथार्थ था। वह सगुण था। उपनिषद् के ब्रह्मन् का साक्षात्कार केवल ध्यान की उन आन्तरिक प्रक्रियाओं द्वारा ही संभव था जिनका वर्णन हम योग या वेदान्त के दर्शन में पाते हैं। जब कि वैदिक ब्रह्मन् एक यथार्थ और वास्तविक बाह्य सत्य था जिसका आनन्द मनुष्य अपने भौतिक परिश्रम के द्वारा कर सकता था। वैदिक ब्रह्मन् जीवन का आनंद लेता था, खाता था, पीता था, नाचता था, आनन्दित होता था और समुन्नत होता था। उपनिषद् का ब्रह्मन् इन्द्रियों के परे और ज्ञान के भी परे था। उसमें कोई भावना या अनुभूति नहीं थी। उसके लिए खाना, पीना, आनन्द मनाना निषिद्ध था। इस निषेध और क्षुधा को अपना कर ही उस तक पहुंचा जा सकता था! स्वस्थ, और जीवन में बढ़ते हुए वैदिक आर्यों के लिए अस्तित्वहीन, आन्तरिक, अर्थहीन और उदासीन ब्रह्मन् का कोई प्रयोजन नहीं था। वैदिक आर्यों की दृष्टि में ब्रह्मन् सामूहिक साम्य-संघ में रहता हुआ

पूरे ब्रह्मांड में रहता था, इसलिए वह स्वयं उसका एक अंग होता था। वैदिक आर्यों के लिए ब्रह्मन् का अर्थ साम्य-संघ और उसके 'सब सदस्य' होता था। अर्ध-वन्य अवस्था में रहने वालों की तरह उसने भी चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी और अन्य वस्तुओं का संबंध अपने साम्य-संघ से जोड़ लिया था। अग्नि के साथ मिलकर यह साम्य-संघ उसके सम्पूर्ण जीवन का केन्द्र था।

वैदिक विद्वानों ने साहित्य में यह सब पढ़ा था। लेकिन आदर्शवादी दर्शन से प्रभावित होने के कारण वे इस 'ब्रह्मन्' को रहस्यमय वस्तु बनाना चाहते हैं। हाग, एगिलिंग, हिलेब्रांट, केतकर, बाल गंगाधर तिलक और अन्य विद्वान इस 'ब्रह्मन्' की परिक्रमा बार-बार करते थे पर उसको ठीक तरह से पहचान नहीं पाते थे—उसी तरह से जैसे वे यज्ञ को नहीं पहचान पाये थे। हाग ने 'ब्रह्मण' शब्द के उन तमाम अर्थों को एक स्थान पर एकत्रित किया है जिनको वेदों के विख्यात भाष्यकार सायण ने लिखा है। वे अर्थ इस प्रकार हैं : (१) अन्न या अन्न-बलि[1], (२) सामवेद के गायक का संगीत या उच्चारण अथवा वेदपाठ, (३) अभिचार (जादू) का एक सूत्र, (४) विधिवत् पूरे हुए संस्कार (५) वेद-पाठ और दक्षिणा, (६) होतृ का वेदपाठ, (७) महान।

ब्रह्मन शब्द के इन सब अर्थों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसे किसी आदर्शवादी दार्शनिक ने बताया हो। सभी अर्थ या तो 'साम्य-संघ' (कम्यून) से सीधे संबंधित हैं या साम्य-संघ की क्रियाशीलता से निकलते हैं। हिलेब्रांट इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद में ब्रह्मन् को एक नयी सत्ता कहा गया है— "जिसका अस्तित्व अभी तक नहीं था" और जैसे कि "वह पूर्वजों से जन्म लेता आ रहा था"। यज्ञ की ध्वनि सुनते ही यह उत्पन्न हो जाता है। जब सोमरस खींचा जाता है और हवन करते समय छंदों का पाठ होता है तो उसका अस्तित्व वास्तविक हो उठता है। दूसरे देवताओं के साथ में वह युद्ध का भी सामना करता है। सोम उसका रक्षक है[2]। इन प्रमाणों के आधार पर हाग के इस अनुमान का सम-

[1] ये विद्वान सायण का अनुकरण करते हुए गलत रास्ते पर चले जाते हैं। ऋग्वेद के उस सूक्त में जहां पर ब्रह्मनस्पति की स्तुति आती है वहां पर सायण 'ब्रह्मन' का अर्थ अन्न लगाते हैं जो ठीक नहीं है। श्री राजवादे ने इस पर शंका उठायी है और यह कहा कि 'ब्रह्मन' को यहां पर 'अन्न का स्वामी' या 'स्तुतियों का स्वामी' बताना गलत है—ब्रह्मन का वास्तविक अर्थ है "ब्राह्मणों अथवा ऋषियों का नेता"। राजवादे से कुछ आगे बढ़ कर हम कह सकते हैं कि "ब्राह्मन" का अर्थ है—"यज्ञ साम्य-संघ (कम्यून) के सदस्यों का नेतृत्व करने वाला..." (देखिए 'रामायण' में विवाद, लेखक राजवादे, पृष्ठ १०७)

[2] ऋगवेद ८-३७-१। ७-६९-९। ६-२३-५। १-४७-२। ७-२९-६। ६-५२-३, आदि।

र्थन हिलेब्रांट करते हैं कि 'ब्रह्मन्' एक रहस्यमयी शक्ति है जिसको अनेक विधि-कर्मों द्वारा बुलाया जा सकता है। हाग की दी हुई ब्रह्मन् की इस परिभाषा का भी वे समर्थन करते हैं कि वह एक अलौकिक शक्ति है जिसको विधिवत मंत्रों के पाठ करने से, स्तुतियों और दक्षिणा के सहयोग से बुलाया जा सकता है।[1]

इन सब उद्धरणों के सहारे कोई भी स्पष्ट रूप से यह देख सकता है कि वैदिक आर्य अपनी हर क्रियाशीलता और जीवन के हर रोम में साम्य-संघ की सत्ता का अनुभव करते थे। यज्ञ करते समय अथवा सामूहिक रूप से परिश्रम करते हुए, गाते हुए, और सोमरस पीते हुए वे अपने सामूहिक अस्तित्व की भावना और चेतना को विराट ब्रह्मन् के रूप में प्रकट करते थे। यह ब्रह्मन् वास्तव में केवल साम्य-संघ को छोड़कर और कुछ नहीं होता था। विकास की जिस अवस्था में वे आर्य अपना जीवन बिता रहे थे उस अवस्था में उनको वह ब्रह्मन् एक रहस्यमय शक्ति लगती थी—ऐसी शक्ति जो यज्ञ से जन्म लेकर उसी में वास करती, और उसी यज्ञ के पुकारने से वह आती थी। सामूहिक परिश्रम में पशु-चेतना का (भौतिक चेतना का) उत्थान और जागरण अर्ध-वन्य अवस्था में एक रहस्यमय चमत्कार लगता था। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि आज भी वह हमारी बुद्धि को रहस्यमयी या धुंधली बना दे।

'अग्नि' के आविष्कार और पशु-पालन के आरंभ होने के बाद यज्ञ का जन्म हुआ था। आर्यों के साम्य-संघ को इस यज्ञ ने समुन्नत धनवान और वैभवशाली बनाकर उसे नष्ट होने से बचा लिया था। इसलिए आर्यों के समाज के लिए सब कुछ अग्नि में तथा अग्नि पर आधारित यज्ञ में ही केन्द्रित था। जब मानव-समाज प्रगति के पथ पर और आगे बढ़ा और उसने धातुओं को पिघलाना सीख कर हंसिया या खुरपी बनाना सीख लिया तब भी आर्यों के धार्मिक विधि-कर्म अपने पूर्वजों की भांति देवताओं को प्रसन्न करने के लिए और उन्हीं की भांति धन प्राप्त करने के लिए उन पूर्वजों के कृत्यों की नकल करते रहे थे—वे उन्हीं छंदों को गाते थे, और यज्ञ के लिए घास को नयी खुरपी से न काट कर घोड़े की पसलियों की हड्डी से ही काटते थे। वह साम्य-संघ अब नहीं रह गया

श्री दास गुप्ता लिखित **दर्शन के इतिहास** में उद्धृत (जिल्द १, पृष्ठ २०-२२, संस्करण १६३२)।

देखिए, मार्क्स द्वारा लिखित 'परिश्रम की क्रियाशीलता पर सहयोग का प्रभाव'—''उस नयी शक्ति को अलग छोड़कर जिसका जन्म अनेक शक्तियों को एक शक्ति में मिलाने से हो जाता है हम यह भी पाते हैं कि अनेक उद्योगों में केवल सामाजिक संसर्ग या संबंध से पशु-चेतना उभर आती है जिससे प्रत्येक मजदूर व्यक्ति की काम करने की शक्ति तथा योग्यता और भी अधिक बढ़ जाती है।'' **(कैपिटल**, जिल्द १, पृष्ठ ३१६)

था, वह पसली भी औजार के रूप में नहीं रह गयी थी। फिर भी वास्तविक यज्ञ और साम्य-संघ के न रहने पर भी उन कृत्यों को प्रतीक के रूप में दोहराया जा सकता था। वे छंद भी गाये जा सकते थे पर उस प्राचीन सामूहिक तथा वास्तव में आनन्दित ब्रह्मन् को जीवन-दान नहीं दिया जा सकता था। प्राचीन काल में यज्ञ एक यथार्थ था। बाद में वह एक मिथ्या वस्तु हो गयी थी। उसका अस्तित्व नहीं रहा था। परंतु जिस समाज के लिए यज्ञ एक यथार्थ था उस समाज के उत्तराधिकारियों ने इस अस्तित्वहीन यज्ञ को अपने उत्तराधिकार में पाया। इन उत्तराधिकारियों में अतीत काल की विचारधारा और उसके व्यवहार के कुछ चिन्ह अवशेष थे। वे उस यज्ञ को विधि-रूप में और मंत्रों के छंदों को इस आशामय विश्वास से अपने साथ लिये रहे कि उसकी अनुकृति द्वारा धन और आनंद की उपलब्धि हो सकती है।

इसीलिए आर्यो की बाद की पीढ़ियों ने वेद के मंत्रों का उस रूप में संकलन किया जिस रूप में वे इतिहास द्वारा विकसित होकर उनको प्राप्त हुए थे। आर्यों के समाज का विकास जिन-जिन अवस्थाओं को पार करने के बाद हुआ था वह उनसे प्रकट होता था। साम्य-संघ से लेकर संघर्ष तक और संघर्ष से लेकर उसके टूटने तक की अवस्था उन मंत्रों में व्यक्त हुई थी। उन्होंने उन मंत्रों को लेकर उन्हें अपने विधि-कर्मों में बदल दिया। उन्होंने प्राचीन यज्ञ को सामाजिक संगठन के बिल्कूल नये नियमों के प्रमाणों में बदल दिया। वास्तव में ये नये नियम उस यज्ञ के नियमों से बिल्कुल विपरीत थे। यह ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप हुआ था जिसकी प्रकृति की विवेचना हम आगे करेंगे। यहां जिस बात की ओर हम संकेत करना चाहते हैं वह यह है—वर्तमान में हम जिन वेद संहिताओं को देखते हैं वे उस काल में संकलित की गयी थी जब यज्ञ-समाज (जिस समाज की उत्पादन-प्रणाली यज्ञ थी—अनु.) का अस्तित्व नहीं रह गया था, वर्ग-संघर्षों और आत्म विरोधों का समाज में जन्म हो चुका था और प्राचीन समाज के गर्भ से नये समाज का जन्म हो रहा था; फिर भी किसी वर्ग शासन सत्ता की कोई ऐसी विजय नहीं हुई थी जिससे वह अपने को सर्वोपरि बना कर प्रतिष्ठित कर देती।

इस दशा में वेद की संहिताएं स्वयं एक शक्ति बन गयीं। पहले यह शक्ति उनमें नहीं थी। उन प्राचीन आर्यों के लिए जो सच में यज्ञ-प्रणाली में रहते थे, पवित्र वेद जैसी कोई वस्तु नहीं थी। वे स्वयं नयी ऋचाओं और मंत्रों की रचना करते थे। अपनी सृजनात्मक क्रियाशीलता और शब्दों के द्वारा, अपने अनुभव और अपनी भावनाओं को औरों तक पहुंचाने के द्वारा वे इन गीतों की रचना करने में सफल होते थे। इसलिए वे लोग इन छन्दों में कोई रहस्य नहीं देखते थे। अतएव प्राचीन वेद में हम इन्द्र की पूजा होते हुए देखते हैं और यह भी पाते हैं कि 'नये मंत्रों' द्वारा यज्ञ किया जा रहा है। बाद के यज्ञों में या कर्म-कांडों में नये मंत्रों का

आना एकदम बंद हो गया था और प्राचीन छंदों में किसी प्रकार का परि-वर्तन करना धर्म का सबसे बड़ा अपमान समझा जाता था। यह स्वाभाविक भी था। वर्ग-समाज में आकर ये प्राचीन छंद और विधि-कर्म पवित्र माने जाने लगे थे। इस तरह से वेद, धार्मिक विधि-कर्मों के लिए पाठ-मात्र रह गये जिनमें न तो कुछ जोड़ा जा सकता था और न बदला ही जा सकता था।

प्राचीन आर्यों के यज्ञों से वेदों को उत्तराधिकार में पाया गया था इसलिए उन्हें धन की, सही माने में भौतिक धन की, उपलब्धि के लिए एक साधन मान लिया गया। सायणाचार्य ने ईसा के बाद चौदहवीं सदी में वेदों का भाष्य लिखा था। उन्होंने वेदों की परिभाषा देते हुए कहा था कि वेद वे ग्रंथ हैं जो ''इष्ट की प्राप्ति के लिए और अनिष्ट को दूर रखने के लिए'' अलौकिक साधनों या उपायों का ज्ञान कराते हैं।* ऋग्वेद में उस शब्द का अर्थ 'धन' है जो 'विद्' का अर्थ धातु से बना है व जिसका अर्थ पाना या ग्रहण करना है। यह धातु छठे गण की है। अगर 'विद्' का अर्थ धन प्राप्त करना है तो उन उपायों को भी जानना चाहिए जिनसे धन प्राप्त हो सकता है। उसको जानना या उसका ज्ञान भी विद् हो जाता है। 'ज्ञान' और 'जानने' का कुछ भी अर्थ या महत्व नहीं हो सकता अगर उसका लक्ष्य धन का उत्पादन या ग्रहण करना नहीं है। इस-लिए फिर 'विद्' धातु से वेद शब्द की उत्पत्ति हुई जिसका अर्थ जानना है। यह धातु दूसरे गण की है जिसका अर्थ ज्ञान है। पर किस वस्तु का ज्ञान? प्राप्त करने, उत्पादन करने और ग्रहण करने का ज्ञान। पर किस वस्तु को प्राप्त करना? प्राचीन लोग बिना किसी संकोच के उत्तर देते थे—प्रजा पश्वादि:—सन्तान और पशु, आदि को।

समुन्नत होते हुए महान (ब्रह्मन्) प्राचीन साम्य-संघ की स्मृति यह बताती थी कि यह यज्ञ प्रणाली, और यह ज्ञान उनके पास तब से था जब सृष्टि उत्पन्न होकर स्थिर हो गयी थी। अपने अस्तित्व के साथ ही साथ उन्होंने इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया था। क्योंकि उनका अस्तित्व ही इस यज्ञ से आरम्भ हुआ था। इसलिए किसी ने और विशेषतया वेदों पर विश्वास करने वाले परवर्ती वर्ग समाज ने वेदों को रचा जाते हुए नहीं देखा था। अतएव, उन्होंने वेदों को अनादि, नित्य—सदैव रहने वाले—और अपौरुषेय[1] (किसी साधारण व्यक्ति द्वारा न रचे गये) घोषित किया था। बिना भौतिक संपत्ति या धन के मनुष्य जीवित नहीं रह सकता,

इष्टप्राप्ति—अनिष्ट परिहारयोः अलौकिक उपायं यो ग्रंथो वेदयति स वेदः।
—सायणाचार्य

[1] अपौरुषेय का अर्थ यह भी हो सकता है कि इसकी रचना 'पुरुष' के (बाद का वर्ग-समाज जिसका वर्णन पुरुष सूक्त में किया गया है) जन्म से पहले की गयी थी।

जैसे ही मनुष्य का उद्भव हुआ था वैसे ही धन का जन्म हुआ था अथवा उसके पहले ही धन का जन्म हो चुका था। और इसलिए वेदों का जन्म भी तभी हो चुका था। परवर्ती आर्य लोग इस तरह से तर्क करते थे।

लेकिन प्राचीन और परवर्ती आर्यों ने वेदों को उस अर्थ में रहस्यमय नहीं समझा जिस अर्थ में आदर्शवादी दार्शनिक आत्मा को, अस्तित्व के साथ उसके संबंध को और जीवन के बंधनों से उसकी मुक्ति को रहस्यमय समझते थे। जिन आर्यों ने इन वेदों का संकलन किया था वे इतने सत्यवादी थे कि उन्होंने यह बताया था कि वास्तव में जिनको हम वेद कहते हैं उनको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक भाग में वास्तविक या यथार्थ का चित्रण है, दूसरे भाग में किंचित वास्तविकता के साथ कल्पना का वर्णन है। और वह कल्पना मिश्रित यथार्थ बाद में शुद्ध काल्पनिक हो जाता है जब वह एक आत्म-विरोधी यथार्थ को प्राचीन पवित्र वास्तविकता के आधार पर ठीक प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। इस बात को वे हिन्दुओं के सम्पूर्ण ज्ञान को तीन भागों में विभक्त करते हुए बताते हैं। वेद के वे छन्द जिनका संबंध यथार्थ से था उनको ऋषियों ने स्वयं देखा था। इसीलिए उन ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा कहा गया है। देखने (दृष्टि) के बाद वह कानों से सुनायी दिया, यानी वह श्रुति हो गया। श्रुति में यथार्थ और कल्पना या मिथ्या का मिश्रण है। और अंत में 'स्मृति' का युग आता है जहां पर सिर्फ यादगार ही बाकी बच रहती है। अगर कोई हिन्दू परंपरा, उसके धार्मिक साहित्य (अथवा ज्ञान) और उसके व्यावहारिक साहित्य की इन अवस्थाओं को ध्यान से देखे तो दिखायी देगा कि किस प्रकार से आर्यों के बदलते हुए सामाजिक-संगठनों के प्रतिबिम्ब के सिवा ये और कुछ नहीं हैं। आर्यों का सामाजिक-संगठन आदिम साम्यवादी (मंत्र-दृष्टि का युग जिसमें वेद देखे गये) अवस्था से उस व्यवस्था में बदल रहा था जिसमें वर्ग-विरोधों की अतिशयता थी, और आदिम साम्य व्यवस्था टूटने लगी थी यद्यपि पूर्ण रूप से नहीं टूट पायी थी (यह वह समाज था जो श्रौत-धर्म या वेदों को सुनने से परि-चालित होता था), और अन्त में यह सामाजिक-संगठन वर्ग-सत्ता के रूप में बदल गया था, जिसमें साम्य-संघ का नाश पूर्ण रूप से हो गया था और स्मृति-व्यवहार का प्रवेश हो चुका था। इस स्मृति-व्यवहार व्यवस्था और वैदिक यज्ञ कथा, उसके समाज में कोई समानता नहीं थी।

यहां पर पाठक एक प्रश्न उठा सकते हैं। क्या सम्पूर्ण वैदिक यज्ञ अपने विधि-कर्मों, परंपराओं और कथाओं के रूपों में **सामाजिक-प्राकृतिक-यथार्थ** को काल्पनिक रूपों में प्रतिबिंबित करता है? अथवा उसकी संहिताओं में कोई अंश ऐसा भी है जो सर्वथा निरर्थक है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए, बिना कोई विस्तृत वाद-विवाद किये हुए, हम एंगेल्स के ग्रंथ से उद्धरण देना चाहेंगे। वह लिखते हैं :

> ''समस्त धर्म मनुष्यों के मस्तिष्क में उन बाहरी शक्तियों के काल्पनिक प्रतिबिम्ब के सिवा और कुछ नहीं हैं जो उसके दैनिक जीवन

को नियंत्रित करती हैं। इस प्रतिबिंब में भौतिक शक्तियां आध्यात्मिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इतिहास की प्रारंभिक अवस्थाओं में प्राकृतिक शक्तियां ही इस प्रकार से प्रतिबिम्बित होती थीं और विकास के अग्रसर होने के साथ-साथ विभिन्न लोगों में इन शक्तियों का चैतन्यारोपण (personification) विविध और अनेक रूपों में होता था। तुलनात्मक धर्मकथा विज्ञान ने इस प्रथम प्रक्रिया (चैतन्यारोपण) का पता, जहां तक भारत-यूरोपीय राष्ट्रों और जातियों का प्रश्न है वहां तक, भारतीय वेदों में इसके स्रोत को खोज निकाला है, और इसके विस्तृत विकास का वर्णन भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमवासियों और जर्मनों के बीच में तथा यथाशक्ति प्राप्त सामग्री के आधार पर केल्ट, लीथुआनियन और स्लाव जातियों के बीच भी किया है।''
(**एंटी ड्यूरिंग** (ड्यूरिंग मत खंडन), पृष्ठ ४७०, मास्को, संस्करण १९४७)

किन्तु प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिबिंबित होने की पहली प्रक्रिया के साथ-साथ जल्दी ही सामाजिक शक्तियों के प्रतिबिंबित होने की प्रक्रिया भी आरंभ हो गयी थी। एंगेल्स कहते हैं :

''परन्तु शीघ्र ही प्राकृतिक शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक शक्तियां भी क्रियाशील हो उठती हैं। ये सामाजिक शक्तियां भी मनुष्य के सामने प्राकृतिक शक्तियों की भांति बाह्य और आरंभ में अबोध्य रूपों में प्रकट होती हैं तथा उसी प्रकार की प्रत्यक्ष आवश्यकता द्वारा मनुष्य पर शासन करतीं हैं। वे काल्पनिक चैतन्यारोपण जो पहले केवल प्राकृतिक शक्तियों के विषय में ही किये जाते हैं, इस अवस्था में आकर उनमें सामाजिक गुणों का भी समावेश होने लगता है और वे इतिहास की शक्तियों का प्रतिनिधित्व भी करने लग जाते हैं।'' (**वही**, पृष्ठ ४७०-७१)

अभी तक वैदिक साहित्य का विश्लेषण करते हुए पूंजीवादी विद्वानों ने पहली प्रक्रिया (प्राकृतिक शक्तियों पर चेतना का आरोप करना—अनु.) पर ही जोर दिया है और दूसरी प्रक्रिया की उपेक्षा की है। धार्मिक कथाओं में आये हुए देवताओं के सामाजिक गुणों और क्रियाशीलताओं का विश्लेषण यदि ठीक-ठीक किया जाय, जिसकी चेष्टा हम आगे करेंगे, तो उससे, उनके काल्पनिक स्वरूप को हटा देने के उपरांत आदिम साम्य-संघ का चित्र स्पष्ट किया जा सकता है। अपने समय में एंगेल्स ने इस पर ध्यान देते हुए यह लिखा था :

''तुलनात्मक धर्म कथा परवर्ती युगों में देवताओं द्वारा अपनाये गये इस दुहरे चरित्र की (प्राकृतिक और सामाजिक—अनु.) उपेक्षा कर देता था। आज भी वह अपना सम्पूर्ण ध्यान इस बात पर लगा देता है कि प्राकृतिक शक्तियों के रूपों का प्रतिबिंब उनके चरित्रों पर किस सीमा

तक पड़ा है। यद्यपि इस दुहरे चरित्र के कारण ही धर्म-कथाओं में सारी उलझनें पैदा हो जाती हैं।'' (**वही**, पृष्ठ ४७१)

वेद के विषय में बहुत से भारतीय और यूरोपीय लेखकों ने भी अपना संपूर्ण ध्यान देवताओं के प्राकृतिक पक्ष पर ही लगा दिया है।

हम इस बात की चेष्टा करेंगे कि वेद-साहित्य में प्राप्त धार्मिक कथाओं और देवताओं के विश्लेषण द्वारा आर्यों के साम्य संघ के जीवन का ज्ञान प्राप्त हो सके। क्योंकि जैसा कि कार्ल मार्क्स ने कहा है—''समस्त धर्म-कथाएं कल्पना में और कल्पना के द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार तथा शासन करती हैं और उनको रूप देती हैं।'' सामाजिक अस्तित्व की आवश्यकता के अनुरूप यह कल्पना भी क्रियाशील होती है इसलिए इसके द्वारा उस समाज के स्वरूप का ज्ञान भी हो सकता है जिसमें वह क्रियाशील है। इस प्रकार से इस विश्लेषण की सहायता से हम आदिम आर्यों के साम्य संघ के रूप को समझ सकते हैं—जिस समय तक वह टूटने नहीं लगा था।

इसके साथ-साथ यह भी याद रखना चाहिए कि यज्ञ, देवता, धर्म-कथाएं और आलौकिक कृत्यों के विषय में जो सामग्री उपलब्ध है उन सब का कोई स्पष्ट निश्चित अर्थ नहीं है। इनमें से कुछ सामग्री तो बिल्कुल मिथ्या और निरर्थक है। एंगेल्स ने कहा है :

''जहां तक विचारों के उन लोकों का प्रश्न है जो इससे भी ज्यादा ऊंचे हवा में उड़ते हैं जैसे धर्म और दर्शन आदि, उनमें प्रागैतिहासिक सामग्री भी संचित रहती है। एक अवस्था में इस सामग्री के अनुरूप यथार्थ का अस्तित्व होता है, और इतिहास उसको अपना भी लेता है —पर बाद में वह बिल्कुल मिथ्या और निरर्थक हो जाता है। प्रकृति, मनुष्य के अपने अस्तित्व, चेतना, अलौकिक शक्तियों आदि के विषय में विभिन्न मिथ्या धारणाओं का अधिकांश रूप में नकारात्मक आर्थिक आधार होता है। परन्तु प्रकृति विषयक ये मिथ्या धारणाएं प्रागैति-हासिक युग के आर्थिक निम्न-विकास की पूरक, आंशिक रूप से नियंत्रक और कारण भी हो जाती थीं। यद्यपि आर्थिक आवश्यकताएं प्रकृति-विषयक प्रगतिशील ज्ञान की मुख्य उत्प्रेरक शक्ति होती थी और दिनोंदिन ज्यादा होती जा रही है, फिर भी हर आदिम निरर्थक बात के लिए आर्थिक कारणों की खोज करने की चेष्टा करना निश्चित रूप से ज्ञानाभास या विद्याडंबर ही होगा।'' (**मार्क्स-एंगेल्स पत्र-व्यवहार**, पृष्ठ ८४२, मार्टिन लारेंस, १९३४ संस्क.)

हम निरर्थक सामग्री को एक ओर रख कर यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि अर्ध-वन्य अवस्था के प्राचीन आर्य लोग अपने साम्य संघ में किस प्रकार रहते थे? और सत्र तथा क्रतु सामूहिक परिश्रम के अन्तर्गत किस तरह मिल कर एक साथ काम करते थे?

अध्याय ५

गण-गोत्र—आर्य साम्य-संघ (कम्यून) का सामाजिक-आर्थिक और कुल-संगठन

अग्नि के आविष्कार और पशु-पालन के साथ-साथ साम्य-संघ का जीवन अपने नष्ट होने के उस दिन-प्रतिदिन के भय से मुक्त हो गया जो उसे प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्‌ध संघर्ष करने में सदैव लगा रहता था। यद्‌यपि समय के साथ उत्पादक शक्तियों का पिछड़ापन कम होता जा रहा था फिर भी उसके कारण जीवन पर दरिद्रता छाई थी और कठिन परिश्रम करना पड़ता था। इसीलिए सत्र-परिश्रम द्‌वारा जो कुछ उत्पन्न होता था उसका उपभोग तुरंत हो जाता था। उत्पादन के साधन उस सीमा तक विकसित नहीं हो सके थे जिनसे व्यक्ति के परिश्रम को अतिरिक्त उत्पादन करने की शक्ति मिल जाती—अर्थात अपने परिश्रम से वह इतना उत्पन्न कर सकता जिसको वह, मृत्यु से जीवन की रक्षा करने की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद, बचा कर रख सकता। इसलिए उस समय तक वे यह भी नहीं जान सके थे कि मानव परिश्रम में अपने उपभोग से अधिक उत्पादन करने की भी शक्ति वर्तमान है। आदिम साम्य-संघ अपनी इस उत्पादन प्रणाली को लेकर यह सत्य नहीं जान सका कि मानव की श्रम शक्ति अतिरिक्त उत्पादन कर सकती है और उसके द्‌वारा दूसरों के परिश्रम के बल पर बिना स्वयं परिश्रम किए हुए जीवित रहा जा सकता है। फिर पशु-पालन की वृद्‌धि तथा अन्य आविष्कारों के कारण शीघ्र ही यह अवस्था बदलने जा रही थी। इस अवस्था में दूसरों के परिश्रम के सहारे जीवित रहने का विचार तक नहीं जाग सका था। ऐसे विचारों को उठने का आधार अभी उत्पादन शक्तियों ने नहीं दिया था।

इन प्रारंभिक अवस्थाओं में उत्पादन के साधनों के अविकसित होने के कारण, अतिरिक्त एवं विभिन्न उत्पादनों के अभाव में जो कुछ भी उत्पन्न होता था उसका सीधा उपभोग कर लिया जाता था। उत्पादित वस्तुओं के विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसलिए उत्पादन पर उत्पादक का नियंत्रण होता था, वह उनके पास रहता था। विनिमय द्‌वारा वह उन वस्तुओं से कभी अलग नहीं होता था—इसलिए बाजार, मुद्रा आदि के भेदों को वह विकसित नहीं कर सका था। उत्पादन को संचित करने अथवा रखे जाने का स्थान, जिसको **महावेदी** कहते थे और बाड़ों तथा

चरागाहों से घिरी हुई बस्ती के मध्य में स्थापित 'अग्नि देवता'—यही उस छोटे आदिम साम्य-संघ का पूरा संसार था। इस सीमा के बाहर जो जीवन था वह विरोधी और इसलिए पाप-रूप था।

साम्य-संघ की इस अवस्था में उत्पादन के अविकसित साधनों के कारण कोई श्रम विभाजन भी संभव नहीं हो सका था। एकदम प्राचीन काल के सत्र-परिश्रम में जो थोड़ा बहुत श्रम विभाजन था वह अल्पकालीन होता था और उसके द्वारा किसी स्थिर चिरकालीन आर्थिक हित का विकास नहीं हो सकता था। इसीलिए आदिम साम्य-संघ में कोई वर्ण भेद अथवा जाति-वर्ग भेद भी नहीं संभव था। पूरे साम्य-संघ का निर्माण 'विशों' द्वारा होता था जो उस बस्ती के निवासी होते थे। चिरकालीन श्रम-विभाजन इसलिए भी संभव नहीं हो सकता था क्योंकि उस जातिगत समाज का आकार बहुत छोटा था। समाज में श्रम विभाजन की उत्पत्ति के लिए यथेष्ट रूप से बढ़ी हुई जन-संख्या की आवश्यकता होती है। इसलिए सत्र अथवा प्राचीन गण समाज में जातियों अथवा तीन चार वर्णों का प्रश्न अभी नहीं उठ पाया था गोकि शीघ्र ही इसके उठने की संभावना हो गयी थी।

इसको सभी मानते हैं कि आर्यों के समाज में वर्णों का उदय विकास की किसी विशेष अवस्था में ही संभव हुआ था—पहले उनका अस्तित्व नहीं था। इसलिए इस विषय में हम अधिक समय नहीं खर्च करेंगे। यह भी मान लिया गया है—और वास्तव में यह यथेष्ट रूप से स्पष्ट है—कि समाज में वर्णों का उदय श्रम विभाजन के रूप में हुआ है। यह किस तरह से संभव हुआ इसको हम आगे चल कर देखेंगे जब श्रम विभाजन के युग का वर्णन करेंगे।

यहां पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि आर्यों के समाज ने अग्नि के आविष्कार और पशु पालन के बीच में कुछ समय लिया होगा। लेकिन पशु पालन की अवस्था से विनिमय के विकास, श्रम का विभाजन, वर्णों की रचना और सामाजिक संगठनों के अन्य परिवर्तनों तक पहुंचने में प्रगति बहुत तेजी से हुई। और आर्यों का आदिम साम्य-संघ बहुत शीघ्रता से परिवर्तित होने लगा।

अग्नि को केन्द्र मान कर सत्र-परिश्रम के अन्तर्गत सामूहिक ढंग से उत्पादन और उपभोग करते हुए आदिम साम्य-संघ को हम देख चुके हैं। वे लोग कुछ-कुछ उसी भांति रहते और परिश्रम करते होंगे जिस तरह आज भी हम भारत के कुछ गांवों में एक बड़े परिवार को रहते देखते हैं। यह जरूर था कि उनमें पिता की शासन-सत्ता और श्रम की विविधता नहीं थी जैसा कि हम इन पड़े परिवारों में पाते हैं। जहां तक श्रम विभाजन का सवाल था वहां हम उस समय केवल पुरुष और नारी के श्रमों में अन्तर पाते हैं। पुरुष शिकार करता था, युद्ध में जाता था और पशुओं को पालता था, नारी घर का प्रबंध करती थी, भोजन पकाती

थी, दूध दुहती थी और बस्ती के आसपास चारों ओर अन्न उपजाती थी। दोनों का श्रम सामाजिक श्रम था। सामूहिक ढंग से वह किया जाता था और सामूहिक ढ़ंग से उसका उपभोग भी होता था। इसलिए निजी गृहस्थियां नहीं थीं। और पुरुष तथा नारी की मर्यादा में कोई अन्तर नहीं था।

समाज का जनसंख्या में कम होना; श्रम के विविध रूपों और उसके विभाजन का अभाव; उत्पादन के विनिमय की गैर मौजूदगी; समाज का शोषक और शोषित या धनी और दरिद्र वर्गों में विभाजन के अभाव के कारण किसी ऐसे शासनात्मक संगठन का जन्म नहीं हुआ था जो समाज के ऊपर प्रतिष्ठित होकर कहने को सबके कल्याण के लिए, पर वास्तव में शोषकों के हितों की रक्षा करता हुआ पूरे समाज पर शासन करता। इसकी आवश्यकता उन दिनों में नहीं थी—इसलिए इसका अस्तित्व भी नहीं था। कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो वर्ग शासन-सत्ता का अंग बन कर पूरे समाज पर शासन करती। इसलिए सेना, पुलिस और कर भी नहीं थे। ऐसे किसी यंत्र की आवश्यकता समाज को नहीं थी।

तब फिर आन्तरिक नियम और बाह्य सुरक्षा का संचालन करने के लिए साम्य-संघ का क्या विधान था? प्राचीन हिंदू आर्य विद्वानों ने स्वयं इस प्रश्न को उठा कर इसका उत्तर दिया है।

वेद साहित्य के विद्वानों ने यह विशेषता देखी थी और आज कोई भी उसे बड़ी स्पष्टता से स्वयं देख सकता है कि प्राचीन वेद साहित्य में साम्य-संघ के आन्तरिक विधान के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। साम्य-संघ के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार, समूह से उनका संबंध, उन संबंधों में गलतियां और दण्ड तथा विधान को चलाने के लिये धन आदि की चर्चा उनमें नहीं की गयी है। अधिकतर विवाद और प्रश्न इनके विषय में उठाए गए हैं कि सृष्टि कैसे हुई तथा विश्व, मनुष्य, अग्नि, पशु-धन आदि की उत्पत्ति किस प्रकार और कहां से हुई? बाद के ब्राह्मण-साहित्य में सत्ता, आचार और व्यवहार के बारे में प्रश्न उठाये गये हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में सृष्टि के बारे में प्रश्नों के साथ-साथ युद्ध, संघर्ष और उनके फलों की भी चर्चा की गयी है। कभी-कभी आचरण शास्त्र का अकेला प्रश्न यौन संबंधों के विषय में उठ खड़ा होता था। राजा और शासन-सत्ता, शासक और शासित, व्यक्ति के कर्तव्य और अधिकार इन विषयों पर कोई वाद-विवाद नहीं किया जाता था।

इसलिए इन साम्य-संघों के आन्तरिक संगठन के विषय में—उनकी उस विशेषता के बारे में जिसके कारण वे परवर्ती आर्यों के समाज से भिन्न थे—बाद के लेखकों ने लिखा है। जब ये साम्य-संघ टूट चुके थे और उनके स्थान पर वर्ग शासन-सत्ता और नये युद्धों का जन्म हो चुका था, यानी जब गृह युद्ध, तथा शासन शक्ति, कर, कानून और आचार के आन्तरिक संगठन को बनाने का प्रश्न समाज के सामने आ चुका था, तब उन नियमों की ओर देखने की आवश्यकता अनुभव की गयी जिनसे

प्राचीन साम्य-संघ संचालित हो रहा था। वैदिक साहित्य से अधिक इस विषय (साम्य-संघ के आन्तरिक संगठनों के विषय में—अनु.) पर महा-काव्यों में, विशेष रूप से महाभारत में तथा स्मृतियों में लिखा मिलता है। इन ग्रंथों के तुलनात्मक विवादों में यह प्रश्न उठाया गया है कि प्राचीन और आधुनिक सामाजिक संगठनों में क्या अन्तर है? और वहां पर हमें इस बात का ज्ञान मिल जाता है कि जहां तक आदिम साम्य-संघ के आन्तरिक स्वरूप का संबंध है वहां तक वे किस प्रकार संचालित होते थे। इन साम्य-संघों का यह आन्तरिक स्वरूप बहुत सरल था जो उस युग की उत्पादन शक्तियों के अनुरूप था।

जैसा हम पहले कह चुके हैं कि त्रिरात्र परंपरा के अनुसार इन साम्य-संघों का संगठन 'गण-संगठन' था। एंगेल्स के शब्दों में इसको मनुष्यों का "स्वयं संचालित संगठन" कह सकते हैं। इस संगठन के पास काम चलाने के लिए किसी विशेष शक्ति यंत्र—शासन-सत्ता—की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि यह संगठन व्यक्तिगत संपत्ति के आधार पर दो आत्म-विरोधी और परस्पर-विरोधी वर्गों में नहीं बंटा हुआ था। साम्य-संघ का जनमत और प्राकृतिक आवश्यकताएं हर व्यक्ति को समाज के सामूहिक काम में लगाए रहते थे। कोई भी छोटी-सी उपेक्षा या गलती जन-अपवाद या निन्दा द्वारा सुधार दी जाती थी। एक गण सदस्य की दूसरे द्वारा हत्या सबसे बड़ा अपराध माना जाता था। ऐसे अपराधों का दण्ड गण से निष्कासन होता था। उस वन्य-अवस्था के युग में इस निष्कासन का वास्तविक अर्थ मरण होता था। कोई कानून लागू करने के लिये उस युग में सेना और बड़े अफसर नहीं रखे जाते थे इसलिए कोई कर भी नहीं देना पड़ता था। सामूहिक परिश्रम के संचालन के समय कुछ विशेष लोगों को किसी खास काम के लिए चुन लिया जाता था। वे लोग ऐसे थे जो सीधे रूप में उत्पादन के अन्दर कोई भाग नहीं लेते थे फिर भी उनको सामूहिक उत्पादन से हिस्सा देना पड़ता था—उसी तरह जैसे कि वृद्ध और बालक को मिलता था।

गण संघ की सदस्यता किस प्रकार निर्धारित होती थी? वर्ग शासन-सत्ता और आधुनिक समाजवाद में सदस्यता किसी प्रदेश में वास करने अथवा किसी प्रदेश की शासन-सत्ता को मानने के आधार पर निर्धारित की जाती है। पर गण नियम के अनुसार ऐसा नहीं होता था। शासन-सत्ता या प्रादेशिक संगठन की व्यापकता की तरह गण संगठन की व्यापकता नहीं थी। इसकी सदस्यता का निर्णय कुल या रक्त के संबंध के आधार पर होता था।

इसीलिए उत्पादन की यज्ञ प्रणाली वाला आर्यों का प्राचीन समाज एक गण संगठन था। उस संगठन के सब सदस्य रक्त से संबंधित होते थे। अपनी पहली अवस्था में इस में सामूहिक परिश्रम और सामूहिक संपत्ति होते थे। जाति और वर्गों का कोई भेद नहीं था। कोई शासन-सत्ता नहीं थी। कोई राजा नहीं था। कोई शोषक नहीं था। कोई शोषित नहीं था। यह जनता का स्वयं संचालित सशस्त्र संगठन था।

इस प्रकार से हिन्दुओं के परवर्ती ग्रंथों ने हमारे लिए ''गणों'' का वर्णन किया है। और वेद के प्राचीन देवता और मनुष्य सभी गणों में रहते थे।

जब राजा, शासन-सत्ता, वर्ण-भेद और गृह-युद्धों का जन्म परवर्ती समय में हो गया जो पहले के समय की व्यवस्था से इतना अधिक प्रति-कूल था कि सब लोगों ने यह जानना चाहा कि इन वस्तुओं का उदय किन कारणों से हुआ है? जो उत्तर दिये गये हैं उनमें ठीक कारण तो नहीं मिलते पर ठीक कारणों तक पहुंचने का मार्ग मिल जाता है।

जब-जब कोई नया व्यवहार, परंपरा या रूढ़ि से मेल नहीं खाता तब-तब प्राचीन परंपरा के बारे में महाभारत में भीष्म-पितामह से प्रश्न पूछे गये हैं। पांडवों में अग्रणी युधिष्ठिर ने राज्य या शासन-सत्ता की उत्पत्ति के बारे में एक प्रश्न किया था। एक ही कुटुम्ब के होते हुए भी पांडवों और कौरवों में युद्ध हुआ था जिसमें पांडव विजयी हुए थे। युधिष्ठिर का प्रश्न इस प्रकार से था—''इस पृथ्वी पर हाथ, पांव, मुख, उदर, ग्रीवा, शुक्र, हड्डी, मांस, मज्जा, रुधिर, बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा, सुख, इच्छा, निश्वास, शरीर, जन्म, मृत्यु और अन्य गुणों के मनुष्य में समान होने पर भी किस कारण से एक ही पुरुष अपने से अधिक शूरवीर और बुद्धिमान लोगों पर शासन करने के लिए शक्तिवान हो जाता है?''*

इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म राज्य सत्ता की उत्पत्ति के बारे में अपनी समझ के अनुसार कथा कहते हैं। राजा या राज्य के विषय में भीष्म ने जो सबसे मुख्य बात कही है वह यह है कि एक समय ऐसा था जब राज्य नहीं था, राजा नहीं थे (राज या राजन् शब्द का अर्थ यहां पर शासन सत्ता से है)। कृतयुग में या उससे भी पहले ''कोई राजा नहीं था, कोई राज्य नहीं था, कोई दण्ड देने वाला नहीं था, और कोई दंडित नहीं था (यानी शासन सत्ता और शोषण नहीं था)। केवल अपने अस्तित्व के नियमों (धर्म) से लोग एक-दूसरे की रक्षा करते थे।'' और दूसरी जगह उन्होंने

* समान जन्म मरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम्।
विशिष्ट बुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति। शांति ५८-८।
न वै राज्यं न राजाऽसीन्न न दण्डो न दण्डिकः
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षंति स्म परस्परम्।। शान्ति ५८-१४।
श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः।। २००-८।
पाल्यमाना स्तथा ऽन्योऽन्यं।। ५८-१५।
पुराधिग् दण्ड एव आसीत् वध दण्डोऽद्य वर्तते।।२७३-१९।
संहत्य धर्मं चरतां पुराजीत सुखमेव तत्।
तेषा नासीद्विधातन्न प्रायश्चित कथंचन।। शान्ति २७६-१२।
(इन श्लोकों में आदिम साम्य संघ के, जहां तक उसके आन्तरिक नियंत्रण का प्रश्न है, सब मूल गुणों को कहा गया है।—लेखक)

कहा है कि ''उनके अपराध लोगों द्वारा निन्दित हो जाने पर ही दंडित हो जाया करते थे।'' गण-संघ के मुख्य शत्रुओं और संकटों को बताते हुए उन्होंने यह कहा कि परस्पर कलह, लोभ (संपत्ति का संचय करना) और एकता के भंग होने के कारण गण-संघ की व्यवस्था खतरे में आ गयी। उनके परस्पर संबंध के विषय में वे कहते हैं— ''वे सब कुल में और जाति में समान थे।'' * परस्पर युद्ध का मतलब गण-सिद्धान्त को तोड़ना था। गण-संघ में रक्त के संबंध को और उनसे उत्पन्न कर्तव्यों को तोड़ना महान अपराधों में एक समझा जाता था ** आपस के युद्ध में यह सिद्धान्त सबसे पहले टूट जाता था। सभी लेखक जो गण-संघ के तत्वों का वर्णन करते हैं—और कृतयुग के तत्व भी वही थे—उनका मत है कि वहां पर ''मेरा और तुम्हारा'' का भेद नहीं था। यह सिर्फ कल्पना ही नहीं है वरन् एक यथार्थ है। इस यथार्थ का जन्म आदिम युग की सामूहिकता द्वारा हुआ था। वास्तव में साम्राजी राज्य, दृढ़ सामन्ती एकाधिपत्य के संस्थापक और सबसे महान संगठनकर्ता कौटिल्य ने कहा था—गण वह है जहां वैराज्य (जिसका वर्णन एतरेय ब्राह्मण में किया गया है) का अस्तित्व होता है जिसका अर्थ यह है कि ''जहां कोई भी किसी वस्तु को अपना नहीं मानता।'' इसलिए वे यह कहते हैं—जैसा कि आज के पूंजीपति समाजवाद के बारे में कहते हैं—कि ऐसे राज्य का कोई भी नागरिक अपने देश और अपनी सरकार को दूसरों के हाथों में बेच देगा, और अपने देश की सरकार के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेगा।* ये लोग आदिम जनवाद की जड़ खोदते थे और उसे भ्रष्ट बताकर उसका विरोध करते थे। तब भी वे आदिम जनवाद से डरते थे क्योंकि अपनी आन्तरिक सरलता और एकता के कारण वह अपने शत्रुओं से ज्यादा बली था। वर्ग भेद और वर्ग-सत्ता के दृष्टिकोण से देखने के कारण वे आत्मविरोधी बातें करते थे। और वे यह नहीं समझ सके कि गणों का अस्तित्व कैसे संभव हो सका था? पर उनकी सत्ता थी—और अच्छी-खासी सत्ता थी। कुछ लोगों ने इसको स्वीकार भी किया—जैसे भीष्म ने।

गण-संगठन और कुलत्व अथवा जन-संगठन एक ही वस्तु हैं। जिस धातु से 'गण' शब्द बना है उसके अर्थ से यह स्पष्ट होता है। अपने मूल-स्थान को छोड़ने के पहले हिन्दू आर्यों की भाषा में यह 'धातु' वर्तमान थी। महा-

* जात्या च सदृशा सर्वे कुलेन सदृशास्तथा। शान्ति पर्व १०७-३०।

** रक्ताश्च नाभ्यजनन्त कार्या कार्ये। शांति पर्व ५८-५९।

+ वैराज्य तु जीवतः परस्याच्छिद्यं एतन्मय इति मन्यमानः
 कर्षयति, अपवाहयति, पण्यं वा करोति विरक्तो वा
 परित्यज्य अपगच्छति इति।—अर्थशास्त्र ८-२.

अराजक अथवा राजविहीन शासन-सत्ता के वर्णन में यह कहा गया है कि वहां पर किसी के पास संपत्ति का अधिकार नहीं होता था—''न हि वित्तेषु प्रभुत्वं कस्यचित्तदा।'' शांति पर्व, ४८-७१।

भारत और वेद में इसका वर्णन एक सामाजिक-आर्थिक संगठन कह कर किया गया है। (बाद में, स्मृति काल में इसका वर्णन एक राजनीतिक संगठन के रूप में भी किया गया है।) इस गण शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'जन्' धातु से हुई है। 'जन्' धातु का अर्थ उत्पन्न करना या पैदा करना है। आर्थिक और यौन संबंधी दोनों अर्थों में इसका प्रयोग होता रहा है। 'जन्' और 'गण' शब्द एक ही धातु से बने हैं जैसे 'यज्ञ' शब्द की उत्पत्ति इसी धातु से हुई थी—इसको हम पहले देख चुके हैं। इसलिए आर्यों की भाषा में उनके सामाजिक, आर्थिक और यौन संबंधी तीनों के संबंधों या संगठनों को व्यक्त करने वाली एक ही धातु थी। यज्ञ प्रणाली के उत्पादन में गण-संगठन ही हो सकता था। और यह गण अपने वास्तविक रूप में 'जनों' से बना हुआ था जो एक ही कुल के संबंधी होते थे। अग्नि और यज्ञ-प्रणाली के जीवन के चारों ओर संगठित पुरुष-नारियों के संबंध से उत्पन्न लोग ही इस गण-संगठन के सदस्य थे। ये पुरुष और नारियां जीवन और जीविका को सामूहिक ढंग से मिल-जुल कर उत्पन्न करते थे। मॉरगेन के संबंध में इस विषय पर लिखते हुए एंगेल्स ने कहा था :

> "यौन संबंधों के संगठनों का वर्णन करने के लिए मॉरगेन साधारण रूप से जिस लैटिन शब्द का प्रयोग करते हैं वह 'जेन्स' शब्द यूनानी भाषा की धातु 'जेनोस' (genos) या उसी अर्थ को देने वाली संस्कृत भाषा की 'जन' धातु से बना है जिसका अर्थ 'जन्म देना' या 'पैदा करना' है। 'जेन्स', 'जेनोस' संस्कृत जन, गौथिक भाषा का 'कुनी' (Kuni), प्राचीन नोर्स और एंग्लो-सेक्शन भाषा का 'क्यन' (Kyn), अंग्रेजी भाषा का 'किन' (Kin), और मध्यकालीन ऊंची जर्मन भाषा का 'किन्ने' (Kiinne), इन शब्दों का एक ही अर्थ है वंश परंपरा—या कुल परंपरा। लैटिन भाषा का जेन्स, यूनानी भाषा का जेनोस (और संस्कृत भाषा का शब्द गण-गोत्र इस सूची में हम मिलाए देते हैं—लेखक)—विशेष रूप में यौन संगठनों का स्वरूप बताते हैं जिनको इस बात का गर्व था कि वे एक ही की सन्तानें हैं (एक पिता से) और विभिन्न समाजों में किन्हीं सामाजिक या धार्मिक संस्थाओं के कारण संबंधित या मिली हुई हैं।"
>
> (एंगेल्स, **परिवार की उत्पत्ति**)

आर्यों ने इस बात को लगातार बार-बार अनेक रूपों में व्यक्त किया है कि उनके सबसे प्राचीन संगठन का आधार कौटुम्बिक संबंध था और इस संगठन के आधार पर परवर्ती युग में सब 'राष्ट्रों' का जन्म हुआ था। लगभग आधे भारत के धरातल पर और बाहर तक फैले हुए वे विख्यात दस गण, परस्पर कुल के आधार पर संबंधित थे। यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अणु और पुरु ये पांच गण एक पिता ययाति और उसकी दो पत्नियां देवयानी और शर्मिष्ठा से उत्पन्न हुए थे। अंग, वंग, कलिंग, पुंद्र और सुह्म ये पांच गण पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी भारत के गण थे और बलि के पुत्र कहे जाते थे जिनका जन्म दीर्घतमा नामक अंधे ऋषि द्वारा उनकी (बलि की) पत्नी से हुआ था। जिस बात पर खास जोर दिया गया है वह

यह है कि इन लोगों में सामाजिक-आर्थिक संबंधों के साथ-साथ एक खून का भी रिश्ता था।

इस प्रकार से हम यह देखते हैं कि गण विधान के अनुसार प्राचीन सामूहिकतावाद के अन्तर्गत जनों का संगठन था जहां पर उत्पादन के संबंध साथ-साथ रक्त के संबंध भी होते थे।

इस बात की सत्यता का प्रमाण हमें मूल रक्त-संबंधों के नामों से ही मिल जाता है। साम्य-संघ की क्रियाशीलता में रक्त-संबंध और व्यावहारिक आर्थिक संबंध माता, पुत्री, पिता, पति और पत्नी द्वारा व्यक्त होते हैं।

माता (मा-त्रृ) वह होती थी जिसका काम नापना (धातु: नापना--मात्रा मालूम करना) और अन्न, मांस आदि सब को बांटना होता था; जो सन्तानों को जन्म देती थी यानी जो अधिक जीवन प्रदान करती थी। अन्न और माता के द्वारा साम्य-संघ अथवा ब्रह्मन् बार-बार उत्पन्न हो कर जीवित रहता था। पिता (पि-पा-त्रृ) वह होता था जिसका काम शिकार करना, सुरक्षा के लिए सावधान रहना (पा=रक्षा करना) होता था। कन्या या दुहिता (दुहि-त्रृ) वह होती थी जो पशुओं का दूध दुहती थी (धातु: दुह्=दुहना)। भोजन के वितरण का सबसे अधिक मुख्य काम माता करती थी। पति और पत्नी के यौन-संबंधों से जो बाद में पिता और माता में बदल जाते थे यह भी ज्ञात होता है कि वे एक साथ रहते थे और बस्तियों को बसाते थे। यह शब्द 'स्तयी' से बना है जिसका अर्थ 'एक साथ रखना' या एकत्र करना होता है। पर किस वस्तु को एक साथ रखना या एकत्र करना? अवश्य ही इसका मतलब बस्तियों से होता था--बाद में यह गृह या निजी कुटुम्ब को एक साथ रखना हो गया था। * साम्य-संघ को जो पुरुष और नारी एकत्रित करते थे उन सब को पस्त्य्, स्त्री और पत्नी शब्दों से व्यक्त किया जाता था। शायद यह शब्द, आर्यों के इस निर्णय के पहले वर्तमान था कि पुरुष और नारी के लिए सामाजिक-आर्थिक क्रियाओं से पृथक यौन क्रियाशीलता के आधार पर दो भिन्न-भिन्न शब्दों की रचना की जाय। इसीलिए निजी गृहस्थी या कुटुम्ब के उदय होने के पहले 'गृहपति' शब्द का प्रयोग नारी और पुरुष दोनों अर्थों में किया जाता था (गृहपति-स्त्री--पाणिनी ने कहा है)।

परवर्ती युगों में आर्थिक भूमिका और संबंध, कुल-संबंधों से नियंत्रित होना बन्द हो गये। जब आदिम साम्य-संघ टूट गया तब भी माता-पिता वैसे ही होते थे, चाहे वे गृह का निर्माण करें या न करें अथवा रक्षा करें या न करें और चाहे अन्न की मात्रा को नापें या न नापें। इन कामों को सामन्ती जमींदारों ने, पूंजीपति घर मालिकों ने और पुलिस ने अपने हाथों में ले लिया था, जब कि माता और दुहिता, पिता और पुत्र विश्व के खेतों और कारखानों में इसलिए छोड़ दिये गये कि वे अपना अन्न,

* अपस्त्यायते संघाती भवति पस्त्यम्।

पस्त्यम् या जीविका जैसे हो सके कमायें। उन्हें यद्यपि कठोर परिश्रम करना पड़ता था, उत्पादन भी बड़ी मात्रा में होता था पर उनको उसका थोड़ा सा ही अंश कभी-कभी मिल जाया करता था।

आर्यों के समूह के संगठनात्मक आधार को व्यक्त करने वाला दूसरा शब्द गोत्र था। जब कि गण शब्द के अर्थ का आधार उत्पादन की क्रियाशीलता और उत्पादक (जन) था, तब गोत्र शब्द के अर्थ का आधार उत्पादन का मुख्य स्रोत था जिससे धन और अन्न की प्राप्ति होती थी (संस्कृत भाषा में 'गो' का अर्थ गाय या बैल है)। यद्यपि यहां पर भी इस शब्द के अर्थ का मूल तत्व आर्थिक है, फिर भी हिन्दुओं में 'गोत्र संगठन' और उसमें व्याप्त संबंधों का अर्थ यौन-संबंधों अथवा कुल-संबंधों के आधार पर चला आ रहा है। और इस विषय पर हिन्दू विद्वानों में खूब वाद-विवाद होता है। हिन्दुओं का विवाह संबंधी कानून एक गोत्र के नर-नारियों में विवाह करने की आज्ञा नहीं देता। सब गोत्रों का विभाजन नौ प्रवरों में किया गया है। (कुछ विद्वानों के मतानुसार एक ही प्रवर के नर-नारियों के विवाह पर कोई खास रोक नहीं लगायी गयी है) वैदिक साहित्य के विद्वान कहते हैं कि एक ही गोत्र में विवाह न करने की प्रथा वेदों में और प्राचीन इतिहास में नहीं थी। इसका जन्म बहुत बाद में हुआ था। लेकिन वे हमें यह नहीं बता सके कि इस प्रथा का उदय क्यों हुआ? इस काम को असंभव समझ कर उन्होंने छोड़ दिया है। गोत्र-प्रवर की उलझन ऐसी है जिसको वे सुलझा नहीं सके।

आर्यों के लिए गण-जन और गोत्र एक ही वस्तु थे। वे उनके आर्थिक और वैवाहिक संबंधों के आधार थे। गण-आर्थिकता एक ही कुल के सदस्यों की आर्थिकता थी, और कुल के सब सदस्य एक सामान्य और सामूहिक आर्थिकता में रहते थे। साम्य-संघ या गण के बाहर जो कुछ था वह शत्रु के समान प्रतिकूल था। जो कुल में नहीं था वह शत्रु था, इसलिए वह साम्य-संघ का सदस्य नहीं हो सकता था और यज्ञ-प्रणाली में भाग भी नहीं ले सकता था। जो यज्ञ की क्रियाशीलता में भाग नहीं लेता था वह विदेशी होता था जिसका नाश करना और जिसकी संपत्ति पर अधिकार कर लेना उचित माना जाता था। शत्रुओं के पक्ष में अपना कोई कुल-संबंधी नहीं जा सकता था। केवल गोत्र था और वही सब कुछ था। इसलिए जीवन और जीविका का उत्पादन करने के लिए गोत्र ही उसकी सीमा और उसका आधार था। अतएव गोत्र में ही विवाह हो सकता था। प्राचीन आर्यों की यज्ञ प्रणाली में बंधे हुए समाज के प्राणी, गोत्र के या अपनी अग्नि के बाहर विवाह करने की बात को विचार में ही नहीं ला सकते थे। अपनी वन्य और अर्ध-वन्य दोनों अवस्थाओं में आर्यों ने सैकड़ों वर्षों के जीवन के अनुभव और निरीक्षण द्वारा देखा होगा कि सगोत्र अथवा सपिंड विवाह गण के विकास के लिए अहितकर है और अपने ही सगे-संबंधियों में यौन सम्बन्ध स्थापित करने से इस समस्या का समाधान नहीं होता। हम लोगों में कुल-संबंधियों के बीच विवाह न

करने की जो प्रथा प्रचलित है उसका विकास इतिहास के हजारों वर्षों में हुआ है। अपनी आदिम अवस्था में आर्य लोग गोत्र के अन्दर ही विवाह करते थे। बाद में इस सगोत्र विवाह को निषिद्ध ठहराया गया। यह निषेध उस युग में संभव हुआ जब आर्य लोग जनसंख्या में बढ़ कर क्षेत्रों में फैल रहे थे और उनकी ज्ञान-सीमा तथा आर्थिकता का विस्तार हो रहा था।

गण-गोत्र अथवा कौटुम्बिक तथा आर्थिक संबंधों ने यौन-संबंधों के प्रश्नों को––अर्थात आदिम साम्य-संघ में विवाह-संबंधी प्रश्नों को–– सामने ला दिया था। इस विषय में भी उत्पादन शक्तियों की अति प्राचीनता द्वारा प्रारंभिक आर्य समाज के सदस्यों के बीच यौन-संबंध निश्चित हुए थे। उस यज्ञ-समाज की नैतिकता और आचार-व्यवहार परवर्ती हिन्दू समाज से तथा वर्तमान और आधुनिक समाजवादी समाज से सर्वथा भिन्न थे।

अध्याय ६

आदिम साम्य-संघ में विवाह-पद्धति

आज के पूंजीवादी समाज में विवाह-पद्धति के विकास को लेकर जो विवाद चल रहा है, तथा उस नैतिकता और आचार-शास्त्र का विषय—जिनकी कसमें पूंजीपति दिन-रात खाया करता है पर जिनको व्यवहार में वह कभी नहीं लाता—हमेशा से हर देश में तेज वाद-विवाद को उठाता रहा है। तलाक, बहु-विवाह, एकनिष्ठ विवाह, 'संपत्ति-विवाह' और प्रणय विवाह तथा इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों ने तेजी से बदलते हुए भारतीय समाज में एक आंधी सी उठा दी है, और हमारे पढ़े-लिखे बुद्धि-जीवियों को इस बात के लिए विवश कर दिया है कि वे पुरुष और नारी के संबंधों को दो प्रकार से देखें। पुरुष और नारी एक समाज की इकाई हैं—एक तो इस दृष्टिकोण से और दूसरे इस दृष्टिकोण से कि प्रकृति के अनुसार एक पुरुष है और दूसरी नारी है। सामाजिक और प्राकृतिक दोनों भूमिकाओं में रख कर ही इनके संबंधों की समस्या को हल किया जा सकता है। विवाह पद्धति के इतिहासकारों ने यह दिखाने की कोशिश की है कि एकनिष्ठ विवाह, एक पति और बहु-पत्नी विवाह, एक पत्नी और बहुपति विवाह का मानव समाज में विकास पशुओं की कुछ जातियों, जैसे बन्दर या हिरण आदि, के आधार पर हुआ है। वे मनुष्यों के यौन-संबंधों की तुलना इन प्राकृतिक पशु जातियों के यौन-संबंधों से करते हैं। इस प्रकार की सारी कोशिशें मिथ्या और हास्यास्पद हैं क्योंकि किसी भी पशु ने कभी भी सामाजिक संगठन में अपने को नहीं संगठित किया (झुंड समाज नहीं होता)। और फिर मनुष्य पशु मात्र तो नहीं है। अपने उत्पादन के साधनों को उन्नत बना कर उसने प्राकृतिक शक्तियों पर प्रगतिशील अधिकार प्राप्त किया है—और इस तरह से अपने को ज्यादा ऊंचे उठा कर मानव-समाज की रचना की है। इसलिए मनुष्यों के यौन-संबंध जो पुरुष और नारी के बीच स्थापित हुए, आरंभ से ही समाज द्वारा नियंत्रित होते और उसी के अनुरूप बनते आये हैं। इसलिए वे एक साथ और एक समय में प्राकृतिक यौन-संबंध एवं सामाजिक संबंध हैं।

प्रकृति और मनुष्य दोनों विकासशील और परिवर्तनशील हैं—इसलिए इन दोनों का एक इतिहास है। वे कोई गतिहीन और अचल वस्तुएं नहीं हैं जो किसी भी समय में बदली न जा सकें। इसलिए उनको इतिहास के

दृष्टिकोण से देखना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष और नारी के संबंधों की नैतिकता या आचारशास्त्र का नियंत्रण किसी ईश्वर या प्रकृति के हाथों से नहीं होता—हर युग में वे एक से नहीं रहते, वे लगातार बदलते रहते हैं और नीचे स्तर से ऊंचे स्तर की ओर, पूर्णता की ओर बढ़ते रहते हैं।

पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने यह भी मान लिया है कि सब समाजों में एक से यौन-संबंध नहीं होते और एक समाज में भी सब युगों में ये संबंध एक से नहीं रहते। लेकिन ये बुद्धिजीवी इन संबंधों के बदलने के कारणों के विषय में और उनके नीचे या ऊंचे स्तर के विषय में कभी एकमत नहीं होते तथा एक-दूसरे का घोर विरोध करते हुए वाद-विवाद करते हैं। प्रत्येक शासक वर्ग की तरह पूंजीपति और उसके बुद्धिजीवी वर्तमान यौन-संबंधों को उच्चतम और श्रेष्ठतम समझते हैं।

इसलिए जब हम इतिहास के क्षेत्र में खोज करते हुए आर्यों के सामाजिक जीवन के इस पहलू और उसके इतिहास की बात उठाते हैं तब हम संपत्ति विषयक प्रश्नों से भी बहुत अधिक तेजी के साथ इस प्रश्न को अपने सामने उठते हुए देखते हैं। जब इस विषय का अध्ययन पहले-पहल यूरोप में उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में शुरू हुआ था और इतिहासकारों ने विभिन्न कबीलों के समाज में अनेक रूपों के विवाहों का पता लगा लिया था जिनके कुछ अवशेष चिह्न वर्तमान रुढ़ियों में भी मिल जाते हैं,, तो उन्होंने यह कह कर उनको टाल दिया कि विवाह के या तो ये अजीब रूप हैं, या पिछड़ी हुई जातियों की अपनी प्रथाएं हैं जिनका इतिहास से अथवा अन्य समाजों से कोई संबंध नहीं है। जब बाशोफेन ने यह साबित किया कि प्राचीन समाज में 'यूथ-विवाह' से मातृसत्ता का जन्म हुआ था और विवाह का यही रूप सब सामाजिक यूथों का जनक था तो लोगों ने इसका विरोध किया था। जब मारगेन, मार्क्स और एंगेल्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त को विकसित किया और यह बताया कि मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक संबंधों के अनुसार ही उसका निर्माण होता है अथवा मनुष्य की उत्पादन प्रणाली का प्रत्येक सामाजिक युग उसके परिवार के रूपों को निर्धारित करता है, तब पूंजीवादी यूरोप ने मार्क्सवाद को यह कह कर बदनाम किया था कि यह तो नारी का राष्ट्रीयकरण करना है। इस तरह की बदनामी उड़ाने की कोशिश भारत के कुछ पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने भी की है। परन्तु कोई भी इस बात को स्पष्ट देख सकता है कि इस तरह का निष्कर्ष निकालना उनके लिए बिल्कुल स्वाभाविक था क्योंकि नारी को भी वे एक सम्पत्ति के रूप में देखते हैं। श्रमिक वर्ग इस तरह के निष्कर्षों पर हंसता है।

पूंजीवादी हिन्दू बुद्धिजीवी और उसके समाज के पुरातन-पंथियों को तो कम से कम मार्क्सवाद पर इस तरह के पत्थर नहीं फेंकने चाहिए; क्योंकि वे सब देवता जिनकी पूजा प्रतिदिन करने के लिए उन्हें आज्ञा दी

गयी है, और बातों में कुछ भी रहे हों, पर वर्तमान नैतिक दृष्टि से अपने यौन-संबंधों में वे अनैतिक रहे हैं। आधुनिक भारत की सामाजिक नैतिकिता जिन आचारों को घृणा से देखती है उन सब वैवाहिक और यौन-संबंधी आचारों का वर्णन हिन्दुओं के पवित्र धार्मिक इतिहास में मिलता है। ये यौन-संबंध और विवाह के ये सब रूप भारत के महापुरुषों और देवताओं में पाये जाते हैं। वास्तव में इस विषय को ऐतिहासिक दृष्टि से देखना चाहिए, जिससे हमें अधिक ऊंचे सामाजिक संगठन के स्तर पर जाने में सहायता मिले। यह सामाजिक संगठन न तो अर्ध-वन्य अवस्था के आदिम-संघ के समान होगा और न पूंजीवादी संस्कृति के वर्ग-दासता के ही समान होगा।

प्राचीन काल के हिन्दू लेखकों ने, चूंकि वे यथार्थ के अधिक निकट थे और अपने युग के सामाजिक वर्ग संबंधों या बीते हुए काल की स्मृतियों को किसी परदे से नहीं ढंकते थे, इस बात की कोशिश नहीं की कि वे संपत्ति या यौन-संबंधों के अनुचित तथ्यों को छिपा लें। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राचीन समाज के यौन-संबंध उनके वर्तमान समाज से बिल्कुल भिन्न थे। अपनी शैली के अनुसार वे इस बात को कहते हैं कि सन्तान उत्पन्न करने के लिए चार विभिन्न युगों में चार भांति के यौन-संबंध थे—ठीक उसी तरह से जिस प्रकार से धन उत्पन्न करने के लिए चारों युगों के सामाजिक-आर्थिक संबंधों के रूप भिन्न-भिन्न थे। भीष्म पितामह चारों युगों के यौन-संबंधों को चार नामों से पुकारते हैं जिनके द्वारा उनके रूप और चरित्र स्पष्ट हो जाते हैं। चार प्रकार के यौन-संबंध ये हैं: संकल्प, संस्पर्श, मैथुन और द्वंद्व। कृतयुग में संकल्प, त्रेतायुग में संस्पर्श, द्वापर युग में मैथुन और कलियुग में द्वंद्व रूपों में यौन-संबंध व्यक्त थे।* प्राचीन गणों के रूपों में रहने वाली वर्तमान जातियों में वैवाहिक संबंध के विकास का ज्ञान प्राप्त होने के बाद हम इन चार क्रमों की रूप-रेखा को स्पष्ट कर सकते हैं। संकल्प यौन-संबंध वे होते थे जिनमें कोई बंधन नहीं था। यह संबंध किन्हीं दो व्यक्तियों में हो सकता था जो इसकी कामना या इच्छा करते थे—इस कामना पर कोई भी सामाजिक या व्यक्तिगत रोक नहीं थी। संस्पर्श वह यौन-संबंध था जिसमें अपने बहुत सगे-संबंधियों के साथ यौन-संबंध को स्थापित करने पर रोक लगा दी गयी थी। एक ही गोत्र में विवाह करने का

* कृतयुगे—

न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ।
संकल्पादेव चैतेषां गर्भः समुत्पद्यते।। शान्ति, २०६-४२।
ततस्त्रेता युगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप।।४३।।
द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानाम भवन्नृप।
तथा कलियुगे राजन्द्वन्द्वमापेदिरे जनाः।।४४।।

निषेध कर दिया गया था। उस समय भिन्न-भिन्न गोत्र आपस में यह संबंध स्थापित करते थे। प्राकृतिक वैवाहिक संबंध की अन्तिम अवस्था मैथुन है। यहां से यूथ-विवाह का अन्त हो जाता है। जब तक पति-पत्नी की इच्छा रहती थी तब तक वे एक कुटुम्ब में बंधे रहते थे और दूसरे नर-नारियों से यौन-संबंध नहीं स्थापित करते थे। द्वंद्व यौन-संबंध का वह रूप है जो कलियुग में प्रचलित है और जिसके अनुसार एक पति और एक पत्नी का द्वंद्व (जोड़ा) होता है। यौन-संबंध के इस रूप के अनुसार नारी पुरुष की दासी होती है। और वह (पुरुष) निजी संपत्ति के अधिकार और एकाधिपत्य की शक्ति लेकर निरन्तर नारी के हितों का विरोधी बना रहता है।

हिन्दुओं के परम्परा से चले आये हुए पूरे साहित्य में यह स्वीकार किया गया है कि विवाह का वर्तमान रूप ही उसका प्राचीन रूप नहीं था। उसका वर्तमान रूप विकास की एक अवस्था में प्रकट हुआ है। इस रूप को शुरू हुए अभी ज्यादा दिन नहीं हुए। राजा पाण्डु रोगी थे। उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों कुन्ती और माद्री से यह कहा था कि वे अन्य पुरुषों से सन्तान उत्पन्न करें। जब कुन्ती ने कुछ संकोच किया तो राजा पाण्डु ने उनको एक लम्बा व्याख्यान दिया जिसमें उन्होंने यह बताया कि प्राचीन काल में इस प्रकार के पति और पत्नी का जोड़ा नहीं होता था जो अन्य नर-नारियों को छोड़कर एक पति और एक पत्नी तक ही सीमित होता हो। * जब कुन्ती कुमारी थीं तब उनके पास सूर्य गया था। पहले तो कुन्ती ने प्राचीन काल की कुमारियों की तरह प्रणय-स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति दिखायी। परन्तु बाद में समागम के फल के कारण संकुचित हुई। क्योंकि समाज तेजी से बदल रहा था और नयी प्रतिष्ठाएं गुनगुनाने लगी थीं। तब सूर्य ने कुन्ती को पुरानी नैतिकता की याद दिलाते हुए उनके संकोच को दूर किया था। भीष्म की सौतेली मां ने भी ऐसा ही किया था। जब भीष्म के भाई की मृत्यु हो गई और उनके कोई सन्तान नहीं थी तब भीष्म की सौतेली मां ने अपनी पुत्रवधू से नियोग द्वारा और लोगों से पुत्र उत्पन्न कराये थे जिससे कि वह राज्य

अथत्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्व निबोध मे।
पुराणऋषिभिर्दृष्टं धर्मश्चाद्विवर्महात्मपिः ।।
अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने ।
कामचारविहारिण्यः स्वतंत्र्याश्चारु हासिनी ।।
तासां व्यूच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् ।
ना धर्मो भूद् वरारोहे स हि धर्माः पुराऽभवत् ।।
तं चैव धर्म पौराणं तिर्यग्योनिर्गताः प्रजः ।
अद्याप्यनुविधीय्न्ते कामक्रोध विवर्जिताः ।
प्रमाणदृष्ट धर्मोयं पूज्यते च महर्षिभिः ।
उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते ।। आदि पर्व, १२८।

और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सके। महाभारत-पुराण और वेदों में लगातार यह लिखा हुआ मिलता है कि कलियुग के विवाह और परिवार का रूप एक नयी वस्तु है और कुछ आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक नया सामाजिक प्रयोग है और यह प्राकृतिक नहीं है।[1] कलियुग के विवाह और परिवार का रूप कैसा था? एक पति और पत्नी की मर्यादा में नारी बांध दी जाती थी और इस मर्यादा को विशेष कर नारी को ही निभाना पड़ता था। इस युग में बच्चे माता के नाम से नहीं बल्कि पिता के नाम से जाने जाते थे। इस परिवार का निर्माण ऐसे ही वैवाहिक सम्बन्ध के आधार पर होता था।

तब फिर प्राचीन सामाजिक-प्राकृतिक संबंध क्या था? और परिवार का क्या रूप होता था?

वन्य अवस्था में रहने वाले सब लोगों की भांति आर्यों ने भी अनियमित और सगोत्र विवाह के प्रभाव को बहुत दिनों के बाद देखा होगा। नर और नारियों का छोटा सा समाज, विकट प्रकृति के विरोध के कारण एकत्र, सामूहिक ढंग से काम करते हुए जीवित रहता था। वे सगोत्र में ही विवाह करते हुए अपनी संतानों को उत्पन्न करते थे। जैसी अवस्था उनकी आर्थिक क्षेत्र में थी—वैसी ही दशा उनकी यौन-संबंधों में भी थी। दोनों क्षेत्रों में वे वन्य यानी आधे मनुष्य और आधे पशु ही थे। प्रकृति से ही उत्पन्न होकर वे उसके विरोध में खड़े हो रहे थे। वे उसको समझने की और समझने के बाद उस पर काबू पाने की चेष्टा भी कर रहे थे। इस अवस्था तक नर और नारी के उन यौन-संबंधों में वे कोई अनौचित्य या बुराई नहीं देख पाये थे जब कि ये संबंध नर और नारी, पुत्र और मां, पिता और पुत्री अथवा भाई या बहन के बीच होते थे। इसलिए इन संबंधों पर—जो आज उचित नहीं माने जाते और व्यभिचार के अपराध माने जाते हैं—कोई रोक नहीं लगाई गई थी। इन सामाजिक रीतियों के अवशेष चिह्न आज कहीं नहीं मिलते। परन्तु आर्यों की धार्मिक कथाओं में यौन-संबंधों की इस अवस्था का वर्णन मिलता है। उन कथाओं में कहा गया है कि अनेक देवताओं, आर्यों के प्रजापतियों और सृष्टि की उत्पत्ति ऐसे ही यौन-संबंधों द्वारा हुई है। इन उदाहरणों का वर्णन कुछ कुत्सित बता कर नहीं किया गया है। सिर्फ इतना ही कह कर उनको समझा दिया गया है कि ये यौन-संबंध इसलिए उचित थे कि वे देवों के बीच व्यवहार में लाये जाते थे।

सृष्टि कैसे हुई? इस प्रश्न का जवाब देते हुए एतरेय-ब्राह्मण में यह लिखा है : ''सृष्टि करने के लिए मूल प्रजापति ने अपनी पुत्री से विवाह किया''। * मत्स्य और वायु पुराण में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के बारे में भी ऐसी ही कथा कही गयी है। बाद में जब ऐसे यौन-संबंधों पर रोक

[1] महाभारत में ऐसे बहुत से दृष्टांत बिखरे हुए मिलते हैं।

* प्रजापतिर्वै स्वाम् दुहितरमध्यायत् ।

लगा दी गई तो प्रजापति को थोड़ा सावधान होना पड़ा था क्योंकि शायद वे इस संबंध को तोड़ना नहीं चाहते थे। इसलिए हरिण का रूप रख कर वे अपनी पुत्री द्यौस के पास गये। उस पुत्री ने भी रोहित जाति की हरिणी का रूप धारण कर लिया था। परन्तु अन्य देवता बहुत सजग थे। और अपनी पुत्री के साथ सम्भोग करने के पहले ही देवताओं ने उनको बाण से मार दिया ऋग्वेद इस दुर्घटना पर ज्यादा अप्रसन्न नहीं होता, वह हमें यह विश्वास दिलाता है कि वे दोनों अपराधी आकाश में दो नक्षत्रों के रूप में स्थापित हैं जिनको 'अहेरी' कहते हैं (एतरेय ब्राह्मण ३–३३; ५–३२)। अगर यह भी मान लिया जाय कि नक्षत्रों को समझाने के लिए यह कथा एक रूपक मात्र है तब भी इस चित्रण और सिद्धान्त को लेकर रूपक बांधने की क्या आवश्यकता थी? कम से कम किसी जीवित यथार्थ का प्रतिबिम्ब उनके मस्तिष्क पर अवश्य पड़ा होगा––तभी यह बात उनके मस्तिष्क में जमी रही होगी।

हरिवंश पुराण में इसी कोटि के अनेक विख्यात उदाहरण दिये गये हैं। वशिष्ठ प्रजापति की पुत्री शतरूपा युवती होने पर वशिष्ठ की पत्नी बनी (अध्याय २)। मनु ने अपनी पुत्री इला या इड़ा के साथ विवाह किया (अध्याय १०)। जन्हु ने अपनी पुत्री जाह्नवी को ब्याहा (अध्याय २७)। हरिवंश पुराण में इनसे भी अधिक जटिल संबंधों की कहानी मिलती है। दस प्रचेतस आपस में भाई-भाई थे। इनके सोम नाम का एक पुत्र था। सोम के एक पुत्री थी, जिसका नाम मरीषा था। दसों प्रचेतसों और सोम ने मिल कर उस मरीषा से एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम दक्ष प्रजापति था। बाद में इस दक्ष प्रजापति के सत्ताइस पुत्रियां उत्पन्न हुई जिसको उसने अपने पिता सोम को सन्तान उत्पन्न करने के लिए दे दिया। दक्ष को ब्रह्मा का भी पुत्र माना जाता है। उस दक्ष ने अपनी पुत्री को ब्रह्मा को दिया था और उससे नारद की उत्पत्ति हुई थी।

अपनी सामाजिक स्मृति के अनुसार प्राचीन साहित्यकार व्यास और वैशम्पायन ने राजा जनमेजय को इस प्रकार की ऐतिहासिक कथाओं को सुनाया तो राजा को आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह पूछा कि यह सब कैसे संभव हुआ था? तब आश्चर्य में पड़े हुए जनमेजय को यह बताया गया कि यह तो पुरातन इतिहास है और यह सब सच है। उन दिनों में ऐसा ही धर्म था। बहुत प्राचीन काल में इसी प्रकार की सामाजिक संगठन की प्रणाली थी। और इसलिए यह सब संभव था।

समाज के ऐसे संगठनों में अलग-अलग कोटि के संबंधी नहीं होते थे, जिनके आधार पर यौन-संबंधों में निषेध लगाया जाता। पर सन्तान की उन्नति और प्रगति के लिए यह अनियंत्रित यौन-संबंध घातक साबित हुआ। इसलिए उन लोगों के विचार में जो पहला निषेध आया और जिसको उन्होंने अपने समाज पर लागू किया वह सन्तान और उनके माता-पिता के बीच का यौन-संबंध था। और इस प्रकार से सगोत्र या

सपिंड कुटुम्ब का अस्तित्व संभव हुआ।[1] इसके अनुसार विवाह का आधार पीढ़ियां होती हैं। सब बाबा और दादियां आपस में पति और पत्नियां हो सकते थे। और उसी प्रकार से उनकी सन्तानें भी अपनी पीढ़ी में विवाह कर सकतीं थीं जो स्वयं माता या पिता होते थे। उसी प्रकार से भाई और बहन, चचेरे या ममेरे भाई-बहनें आपस में पति-पत्नियां होती थीं।

दूसरी अवस्था वह थी जब भाई और बहन के यौन-संबंध का निषेध किया गया। इस निषेध को लागू करने में काफी कठिनाई पड़ी क्योंकि उनकी उम्रों में सबसे ज्यादा समानता होती थी। धीरे-धीरे यह निषेध लागू किया जा सका। और सबसे पहले इसको सगी बहन या सगे भाई से शुरू किया गया। यह काम कितना कठिन था इसको परवर्ती ऋगवेद के मंत्रों में यम और यमी के संवाद में देखा जा सकता है। यम और यमी दोनों भाई और बहन थे। यमी ने अपने भाई यम से प्रणय और अपने में सन्तान उत्पन्न करने के लिए कहा। यम ने अस्वीकार कर दिया और कहा कि देवों के कार्यों को देखने वाले वरुण अप्रसन्न होंगे। यमी ने इस कथन का विरोध किया और विवाद द्वारा सिद्ध किया कि देवता लोग इस संबंध को स्वीकार करेंगे। * इस संवाद का फल क्या हुआ? यह ऋगवेद में लिखा नहीं मिलता। लेकिन अगर यह भी मान लिया जाय कि यम ने अन्त में अस्वीकार भी कर दिया तो भी यह सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन परंपरा के विरुद्ध लड़ना कितना कठिन होता था?

तैत्तरीय ब्राह्मण में सीता-सावित्री की कथा लिखी मिलती है। सीता-सावित्री प्रजापति की पुत्री थी। वह अपने भाई सोम का प्रणय चाहती थी। पर सोम उसको नहीं चाहता था, वह अपनी दूसरी बहन श्रद्धा से प्रेम करता था। सीता-सावित्री ने अपने पिता से इस विषय में राय ली। उसके पिता ने उसे एक यंत्र दिया जिससे उसने सोम को जीत लिया।[2] महाभारत के आदि पर्व और हरिवंश में ब्रह्म से कुटुम्ब की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इन इतिहासों में यह लिखा है कि ब्रह्म के बाएं पैर के अंगूठे से उत्पन्न दक्ष ने उनके दाएं पैर के अंगूठे से उत्पन्न दक्ष के साथ विवाह किया—जिसका अर्थ यह हुआ कि दक्ष ने अपनी बहन के साथ विवाह किया। उनसे साठ कन्याएं उत्पन्न हुईं। दक्ष के दो भाई और थे—मरीची और धर्म। दक्ष की साठ पुत्रियों में से दस पुत्रियों के साथ धर्म ने विवाह किया। मरीची के पुत्र कश्यप ने उन में से तेरह कन्याओं के साथ विवाह किया—वे उसकी चचेरी बहनें थीं। सगोत्र विवाह की प्रथा के कारण ही इन संबंधों को उचित समझा गया। दूसरे निषेध (बहन और भाई के बीच विवाह का न होना) ने उस सामा-

[1] परिवार की उत्पत्ति—एंगेल्स।

* उशन्ति द्या ते अमृत स एतद् ।

[2] तैत्तरीय ब्राह्मण, ३-१०; ६-४।

जिक संगठन को जन्म दिया जिसे गण-गोत्र कहते हैं। गण-गोत्र के नर-नारियों में परस्पर विवाह नहीं हो सकता था। अपने पति और पतियों को गण-गोत्र से बाहर खोजना पड़ता था। पहले जहां पर विवाह एक ही कुल के सदस्यों के बीच हो जाया करता था[1]—उस पर रोक लगा दी गयी। इस प्रकार से सगोत्र विवाह का अन्त हो गया। आदिम साम्य संघ में गोत्र वह यौन-संबंधी संगठन था जिसके अनुसार सब पत्नियां एक-दूसरे के लिए होती थीं। दूसरे शब्दों में कहें तो कहना होगा कि वहां पर यूथ-विवाह की प्रथा थी। लेकिन अब पत्नियों का पति उनका सगा संबंधी नहीं हो सकता था। इसलिए पति और पत्नियों को अलग-अलग उन यूथों का सदस्य होना पड़ता था जो आपस में कोई सगा संबंध नहीं रखते थे। इन्हीं यूथों या समूहों को गोत्र कहते थे। हिन्दुओं के प्राचीन समाज में गोत्र और विवाह का दृढ़ संबंध यह प्रमाणित करता है कि पहले एक अवस्था यूथ-विवाह की रही होगी जिसके आधार पर विवाह पद्धति का विकास हुआ होगा। लेकिन यह यूथ-विवाह ऐसा था कि इसके अनुसार सगे संबंधियों में परस्पर विवाह नहीं होता था। अ-सगोत्र विवाह इस समस्या का समाधान था। यूथ-विवाह पद्धति के नष्ट हो जाने के बाद और एकनिष्ठ विवाह के आरंभ होने से गोत्र-प्रथा निरर्थक और आधारहीन हो गई थी, इसीलिए हिन्दू विवाहों में इसकी पूर्व प्रतिष्ठा बाकी नहीं रह गई थी। यद्यपि कुछ पुराणपंथी विधि और रूढ़ि समझ कर इससे चिपके रहने की चेष्टा करते हैं।

यद्यपि विवाह--संबंधों को असंबंधियों अर्थात् असम गोत्रों में होना चाहिए फिर भी यह आवश्यक था कि वे एक राष्ट्र अथवा एक जैसे लोगों में ही संपन्न हों। आदिम आर्थिक दशाओं में बंधे हुए छोटे-छोटे समाज-समूह, जिनके अन्दर प्रारंभिक युग में केवल सगे संबंधी अथवा निकट-तम संबंधी ही निवास कर सकते थे, इस समस्या को कैसे हल करते थे?

''प्रत्येक प्रारंभिक युगीन परिवार अधिक से अधिक दो पीढ़ियों के पश्चात् विभक्त हो जाने के लिए बाध्य हो जाता था। अर्ध-वन्य अवस्था के मध्य युग में बहुत बाद तक आदिम साम्यवादी परिवार, बिना किसी अपवाद के समस्त समाजों में प्रचलित था। इस परिवार का कोई दीर्घतम आकार निश्चित हो चुका था। यद्यपि विशेष अवस्थाओं में इसका आकार एक सा नहीं होता था फिर भी एक प्रदेश में उसकी

1 महाभारत में उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु के विषय में ऐसा कहा जाता है कि उसने सगोत्र-यूथ-विवाह और युग्म-परिवार पर निषेध लगाया था। जो पुरुष उसकी मरजी से उद्दालक की पत्नी को ले जाना चाहता था, उसने यह कह कर उस नारी पर अधिकार जमाया था कि वह उसके गोत्र की है इसलिए उसकी है। वह कहता है :

प्रजारणिस्तु पत्नी ते कुलशील समन्विता।
सदृशी मम गोत्रेण वहाम्येनां क्षमस्व मे ।। आदि पर्व, १२८-२६।

बहुत कुछ सीमा निश्चित हो चुकी थी। एक माता की संतानों के बीच यौन-संभोग के अनौचित्य की चेतना जैसे ही जागृत हुई वैसे ही इसका प्रभाव प्राचीन पारिवारिक जातियों के विभाजन और नयी पारिवारिक जातियों के आधार पर पड़ना अनिवार्य था....। बहनों के एक अथवा अनेक समूह एक परिवार के मूल-केन्द्र बनने लगे जब कि उनके सगे भाई दूसरे परिवार के मूल-केन्द्र बनते थे।''

(**परिवार की उत्पत्ति**, एंगेल्स, पृष्ठ ५६-५७, मास्को संस्करण)

उनकी बहनें परस्पर सब बहनों के पतियों की पत्नियां होती थीं। पर इस नयी व्यवस्था के अनुसार ये पति उनके सगे भाई नहीं होते थे। इस प्रकार के यूथ विवाहों में माता के जनकत्व को ही पहचाना जा सकता था और यज्ञ-आर्थिक व्यवस्था में अपनी प्रमुखता के कारण वह परिवार की स्वामिनी होती थी। और इसलिए मातृ परंपरा के अनुसार पीढ़ियां चलती थीं। इस प्रकार से बहनों की संतानें तो गण गोत्रों की उत्तराधिकारिणी होती थीं जब कि भाइयों को उस गण गोत्र को छोड़ कर अपनी पत्नियों के गणों में जाना पड़ता था। सामूहिक अथवा साम्यवादी परिवार प्रथा तथा यूथ-विवाह की पद्धति मातृसत्ता व्यवस्था की आधार थी। इसी प्रकार से सब समाजों की उत्पत्ति हुई और आर्यों का समाज भी इसी प्रकार उत्पन्न हुआ था।

बहनों द्वारा गण-गोत्रों की स्थापना का वर्णन दक्ष की साठ पुत्रियों की कथा में मिलता है। दक्ष की साठ पुत्रियों ने अपने को सात समूहों में विभक्त कर लिया था। इन सात समूहों की संख्या क्रम से—दस, तेरह, सत्ताइस, चार, दो, दो, दो थी। इन साठ बहनों ने इस प्रकार से अपने को सात समूहों में बांट कर सात प्रजापतियों को पति के रूप में लेकर सृष्टि की रचना आरंभ की थी। इन परिवारों की नींव डालने वाली नारियों के नाम जिनको गोत्र-परिवार का नाम कहा जा सकता है, ऋषियों की वंशावली में यत्र-तत्र मिलते हैं, यद्यपि अधिकतर उनके पुरुष नाम ही परवर्ती युगों में चलते आ रहे हैं।

विवाह और वंश-परंपरा की यह पद्धति वर्तमान वैवाहिक संबंध और पारिवारिक संगठन के प्रतिकूल है, इसलिए भारत और यूरोप के पूंजीवादी विद्वान बड़ी कट्टरता के साथ इसके अस्तित्व से ही इंकार कर देते हैं। लेकिन इतिहास का यथार्थ रीति और रिवाजों के रूपों में बहुत बाद के समय तक चला आया है। दुर्भाग्य से उस ऐतिहासिक यथार्थ ने इन पूंजीवादी विद्वानों के साथ विश्वासघात किया। उस समाज के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि उस परिवार की संतानें और माता की सन्तानें एक में मिला कर पूरे साम्य संघ की प्रजा या सन्तानें मानी जायें। इसलिए उस समाज की सन्तानें सबसे पहले गोत्र का ही नाम पुकारी जाती थीं (अथवा उनके नाम का पहला अंश गोत्र का ही नाम होता था—अनु.) और उसके बाद व्यक्तिगत नाम का प्रयोग किया जाता

था। वे सब गोत्र-अपत्य अथवा गोत्र की सन्तान कहे जाते थे। जब मातृ-सत्ता को नष्ट कर दिया गया और एकनिष्ठ वैवाहिक मर्यादा के अनुसार पिता के नाम से वंशावली प्रचलित हो गयी तो पति-पत्नी के पुत्र को अनन्तरापत्य कहा जाने लगा। अनिवार्य रूप से प्राचीन सामूहिक समाज संगठनों में गैर कानूनी अथवा अवैधानिक सन्तान जैसी वस्तु हो ही नहीं सकती थी—जिसको लोग घृणा और अपमान की दृष्टि से आज देखते हैं और सड़क पर उसे फेंक देते हैं।

भारत में मातृसत्ता दृढ़ होकर बहुत समय तक चली थी। एक पत्नी और अनेक पतियों की वैवाहिक पद्धति के अनुसार द्रौपदी और पांच पांडवों का विवाह एक कल्पित या मिथ्या कथा ही नहीं है वरन् उस पद्धति के यथार्थ चिह्न भारत की कुछ जातियों में आज भी वर्तमान मिलते हैं। उनसे यह प्रमाणित होता है कि आदिम आर्यों के समाज में यूथ या सामूहिक विवाह की पद्धति बहुत महत्वपूर्ण रूप में थी—जिसके कारण इतिहास के विद्वान न तो उसको छिपा सके और न उसको किसी दूसरे अर्थ ही में समझा सके। वे अपने समाज के इस प्राचीन यथार्थ को स्वीकार करने में लजाते हैं, क्योंकि वे पवित्र देवों और पूर्वजों के प्राचीन समाज को अपनी पितृसत्ता की दासता के वैधानिक नियमों में ढाल देना चाहते हैं और उसी दृष्टि से उसकी छान-बीन कर उस पर निर्णय देना चाहते हैं। ऐसी समस्याओं के विषय में इतिहास की सहायता अलौकिकवादी पुराण अधिक करते हैं क्योंकि उनके अन्दर हमें कुछ यथार्थों के चित्र मिल जाते हैं। और इन यथार्थों का ठीक अर्थ केवल मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है। कार्ल मार्क्स ने इसी दृष्टिकोण (ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण—अनु.) द्वारा यह स्पष्टता से समझाया है कि पहले ऐसी व्यवस्था क्यों थी? वैसी ही व्यवस्था आज क्यों नहीं है? और भविष्य की साम्यवादी-व्यवस्था में यह पद्धति क्यों नहीं रह सकेगी? इस भविष्य में आने वाली साम्य-वादी व्यवस्था में नारी का आदर और उसकी स्वतंत्रता समाज के अधिक उच्च-स्तर पर उसको लौटा दी जायगी।

'प्राचीन समाज की उत्पत्ति मातृसत्ता से हुई थी' इस सच को छिपाने की कोशिश आधुनिक विद्वानों ने ही नहीं वरन् पितृसत्ता के प्राचीन लेखकों ने भी की है। आदिम साम्य संघ में प्रचलित माता के अधिकार और सामूहिक सम्पत्ति की पद्धति को इतिहास के इतने प्राचीन युग में नष्ट कर दिया गया था कि उसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण (लेख) नहीं मिलता। केवल परम्परा और रूढ़ियों में वे जीवित चले आ रहे हैं। व्यास पितृसत्ता के युग में उत्पन्न हुए थे। माता के नाम से वंश चलने की प्रथा का तब नाश हो चुका था। व्यास ने यह कोशिश की कि वे सृष्टि के इतिहास का आरम्भ प्रजापति पिताओं से करें। लेकिन इस चेष्टा में उन्हें सफलता नहीं मिली। जिन मूल प्रजापतियों को सृष्टि के इतिहास का आरम्भ

माना गया—उनकी वंशावली का नाम स्वयं माता के नाम पर रखना पड़ा। यद्यपि इतिहास का लेखक पुरुष था और उसका समाज नारी को दासी के रूप में बदल चुका था, फिर भी नारी ने सब बन्धनों को तोड़ कर अपनी आदिम सत्ता की प्रतिष्ठा को देखने के लिए बाध्य कर दिया। (जानकारी की आसानी के लिए हम उन अठारह माताओं और उनके मातृ-सत्तात्मक गोत्रों की सूची देते हैं, जिनके संघर्ष, विस्तार और विरोधों से महाभारत के आदि पर्व और वेदों के प्राचीन इतिहास परिपूर्ण हैं—देखिए एपेंडिक्स (परिशिष्ट) में।)

सोमयाग संस्कार में एक गण-गोत्र का विभाजित होना और एक नये गण-गोत्र की स्थापना का वर्णन मिलता है। सोमयाग संस्कार की प्रथम विधि में प्राचीन मातृसत्ता की नारी-देवता अदिति को केन्द्र में स्थापित किया जाता है। उसकी स्थापना के द्वारा यह दिखाया जाता है कि गण के प्रथम विभाजन (प्रयाणीयेष्टि) का संकल्प किस प्रकार से किया जाता था। विभाजन के इस संकल्प की अनुमति पांच देवियां—पथ्या-स्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता और अदिति देती थीं। **पथ्या-स्वस्ति** मार्ग में मंगल या कल्याण करने वाली देवी है। दूसरी वह **अग्नि** है जो गण-अग्नि से निकाल ली गयी है और जिसकी स्थापना नये स्थान पर होगी। **सोम**, अन्न और अन्य आवश्यक वस्तुओं की देवी है। **सविता** सूर्य की और समय की देवी है। विभाजित गण की यात्रा में ये चार देवियां चार कोनों पर रहती थीं—जब कि सृष्टि की आदि-माता **अदिति** उन चारों के बीच में स्थान पाती थी। इस यज्ञ में केवल अदिति को ही चावल और घी का विशेष हवन दिया जाता था जब कि अन्य देवियों को भूने हुए अन्न (आज्य) के ही हवन से संतुष्ट होने को कहा जाता था। कुटुम्ब के इतिहास को आप चाहें जैसे तोड़िए-मरोड़िए, मैकलेनमैन और उसके साथियों के समान पांडित्यदर्शी पूंजीवादी वकीलों की सहायता से पितृसत्ता की वकालत कीजिए और उसके पक्ष को सबल बनाइए, फिर भी आप इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि आदिम समाज का जन्म और उसका निर्माण मातृ-सत्ता द्वारा ही हुआ था।

यूथ-विवाह अथवा गोत्र विवाह में भी एक प्रकार की स्थिर और थोड़े-बहुत समय तक चलने वाली युग्मता थी। यानी कुछ समय के लिए स्थिर होकर एक वर और एक नारी साथ-साथ एक 'जोड़े' के रूप में रह सकते थे। अन्य स्त्रियों के बीच में एक नारी को पुरुष अपनी प्रमुख पत्नी मानता था और वह पुरुष उस स्त्री के लिए अन्य पुरुषों के बीच में प्रमुख पति होता था। जैसे-जैसे गण-गोत्र समुन्नत होते हुए आगे बढ़ते गये तथा विवाह के योग्य अन्य संबंधियों में विवाह करने का निषेध होता गया जिसके कारण यूथ-विवाह धीरे-धीरे कठिन से कठिनतर होता गया, तो इस प्रकार की स्वाभाविक युग्मता को भी जगह मिलती गई। बाद में युग्म परिवार ने गण-कुटुम्ब का स्थान ले लिया। इस अवस्था में एक

नारी के साथ एक पुरुष रहता था। नारी के पास पुरुष कुछ इस प्रकार से रहता था कि कभी-कभी वह बहुत सी पत्नियां भी रख लेता था और कभी दूसरे की पत्नी से सम्भोग भी कर लेता था। यह जैसे उसका विशेष अधिकार था। दोनों पक्षों में से कोई एक भी पक्ष वैवाहिक संबंध को सरलता से तोड़ सकता था और प्राचीन प्रथा के अनुसार सब सन्तानें माता को ही मिल जाती थीं।

आर्यों के जीवन में युग्म-परिवार के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। परवर्ती स्मृतियों में गंधर्व-विवाह पद्धति की अनुमति इस बात को सिद्ध करती है। 'विश्वामित्र और मेनका' तथा 'दुष्यंत और शकुन्तला' की पुण्य-कथा अत्यंत प्रसिद्ध है, उसको यहां लिखने की आवश्यकता नहीं। जरत्कारु ऋषि एक युग्म परिवार में रहते थे। वासुकी गोत्र की नाग-कन्या उनकी पत्नी थी। उन दोनों से कश्यप ऋषि की उत्पत्ति हुई थी। जनमेजय से जब नागों का युद्ध हुआ था तो कश्यप ने नागों की रक्षा की थी। प्रसिद्ध पांचों पांडवों ने तो हर प्रकार के विवाह किये थे और परिवारों का निर्माण किया था। उन पांचों भाइयों ने एक स्त्री द्रौपदी से विवाह किया था जिसमें यूथ-विवाह के चिन्ह वर्तमान थे। द्रौपदी पांचों भाइयों की एक प्रमुख पत्नी थी। द्रौपदी स्वयं भी इसी तरह उत्पन्न हुई थी। महाभारत में लिखा है कि उसकी उत्पत्ति साधारण ढंग से (पति-पत्नी के संयोग से) नहीं हुई थी। उसके पिता द्रुपद ने कोई यज्ञ किया था जिसके कारण द्रौपदी अपने एक भाई के साथ वेदी पर अग्नि से * जन्मी थी। पांडवों का यह बहुपति विवाह कोई अपवाद नहीं था। आज भी भारत के कुछ

* कुमारी चापि पांचाली वेदी मध्यात्समुत्थिता। आदि पर्व, १८१-४५।

[1] बहुपति विवाह के संबंध में कहते हुए एंगेल्स ने भारत और तिब्बत का नाम लिया है। और इस बात की ओर संकेत किया है कि बहुपति विवाह का जन्म यूथ-विवाह से हुआ था। इसका विश्लेषण ध्यानपूर्वक करना चाहिए। यह बहुत मनोरंजक अध्ययन सिद्ध होगा।

''मुसलमानों के ईर्ष्या से भरे हुए रंगमहलों (हरम) से इसको (बहुपति विवाह?) व्यवहार में लाना अधिक सरल था। कुछ भी हो भारत की नायर जाति में तीन और चार पुरुष मिलकर एक पत्नी को रखते हैं। उनमें से हर एक पुरुष अन्य तीन-चार पुरुषों के साथ दूसरी पत्नी भी रख सकता है। इसी तरह से तीसरा और चौथा व्यक्ति भी कर सकता है। यह आश्चर्य की बात है कि मैकलेनमैन ने इन विवाहों को क्लब-विवाहों की खोज में कोई स्थान नहीं दिया। इस विवाह-पद्धति में एक व्यक्ति कई वैवाहिक क्लबों का सदस्य हो सकता था जैसा कि मैकलेनमैन ने स्वयं क्लब-विवाह का वर्णन करते हुए लिखा है। विवाह की यह क्लब-पद्धति वास्तव में बहु-पति विवाह नहीं है। जिरोट्यूलोन ने जैसा कहा था कि ये विशेष रूप से यूथ-विवाह हैं। इसके अनुसार पुरुष के अनेक पत्नियां होती हैं और नारी के अनेक पति होते हैं।''

(एंगेल्स, परिवार की उत्पत्ति)

प्रदेशों में यह प्रथा प्रचलित है।[1] द्रौपदी पाण्डवों की प्रमुख पत्नी थी। उसको छोड़ कर प्रत्येक भाई के पास अलग-अलग पत्नियां भी थीं। हिडिम्बा तब तक के लिए भीम के साथ युग्म परिवार में रही थी जब तक उसके घटोत्कच नाम का पुत्र उत्पन्न नहीं हो गया था। चित्रांगदा तब तक अर्जुन की पत्नी बनी रही जब तक उसे एक लड़का नहीं हो गया। इन सब उदाहरणों में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार से उत्पन्न हुई सन्तानें माता के पास ही रहती थीं। और ये माताएं कुछ निश्चित काल के पश्चात अपने पति से स्वतंत्र हो जाया करती थीं।[1]

''रक्त संबंधियों अथवा सगे संबंधियों के साथ वैवाहिक-संबंध का निषेध हो चुका था। धीरे-धीरे इस निषेध की सीमाएं बढ़ती गयीं। इन सीमाओं को बढ़ाने में प्राकृतिक वरेण्यता (प्राकृतिक चुनाव—अनु.) का भी प्रभाव अवश्य पड़ता रहा होगा। मॉरगन के शब्दों में असम गोत्रों में विवाह द्वारा उत्पन्न सन्तानें शरीर और मस्तिष्क दोनों से अधिक शक्तिमान होती थीं।...जब प्रगति के पथ पर बढ़ते हुए दो कबीले एक होकर मिलते थे (अथवा दोनों के योग द्वारा सन्तान उत्पन्न होती थी—अनु.) तो एक नये शरीर और मस्तिष्क की उत्पत्ति होती थी जिसमें दोनों की योग्यताओं और शक्तियों का योग रहता था और उसी के अनुसार सर और मस्तिष्क की लम्बाई-चौड़ाई बढ़ जाया करती थी। इसलिए जिन कबीलों का संगठन, गोत्र (Gentes) के रूपों में बंधा होता था वे पिछड़े हुए कबीलों से ज्यादा विकासशील हो जाते थे अथवा अपने उदाहरण के द्वारा उनको भी अपने पीछे-पीछे खींच ले चलते थे।

''इस प्रकार से प्रागैतिहासिक युगों में परिवार का विकास इसी बात में निहित था कि नर और नारी के बीच वैवाहिक संबंध के समाज का दायरा कितना छोटा होता गया है—सबसे पहले मूल रूप में यह दायरा पूरे कबीले को आत्मसात् कर लेता था। लेकिन धीरे-धीरे वैवाहिक संबंधों के दायरे से सगे संबंधी बाहर निकाले गये, फिर उसके बाद दूर के भी संबंधी बाहर किये गये और अन्त में उनको भी बाहर कर दिया गया जिनका विवाह हो चुका था। इस प्रकार से यूथ-विवाह व्यवहार में असंभव हो गया। और सबके अन्त में केवल एक इकाई (एक नर और एक नारी) ही बाकी बच गयी। उसमें कुछ

1 अपने पतियों द्वारा बहुपति के विवाह की मर्यादा का भंग करना द्रौपदी को इसलिए सहना पड़ा था कि आदिम सामूहिकतावाद के साथ-साथ यूथ-विवाह की परम्परा तेजी से मिट रही थी। इसलिए नारी को जो आजादी सामाजिक सामूहिक परिश्रम द्वारा प्राप्त हुई थी और जिसके फल को पुरुष अपनी व्यक्तिगत संपत्ति नहीं बना सकता था, उसका नाश भी तेजी के साथ हो रहा था। इसीलिए द्रौपदी को जुए के दांव पर रखा जा सका और उसको पतियों द्वारा बेचा जा सका।

समय के लिए शिथिल-बंधनों में बंधा हुआ नर और नारी का एक युग्म—जो एक अणु की भांति था—रह गया जिसके टूट जाने पर 'विवाह' ही एक असंभव बात हो जाती थी। यह अकेला यथार्थ इस बात को दिखाता है कि आधुनिक युग के अर्थ में 'व्यक्तिगत प्रणय' की कितनी कम भावना ने एकनिष्ठ विवाह को जन्म देने में सहायता दी थी। इस बात के लिए और भी प्रमाण इस अवस्था में रहने वाले अनेक लोगों के व्यवहार से मिलते हैं। परिवार के प्रथम स्वरूप ऐसे थे कि नरों को कभी नारियों की कमी नहीं पड़ती थी और अधिकतर ऐसा होता था कि उनके पास आवश्यकता से अधिक नारियां होती थीं। परन्तु इस व्यवस्था में आकर नारियां कम पड़ने लगीं। और इसीलिए युग्म विवाह के साथ-साथ नारियों का अपहरण और क्रय-विक्रय आरंभ हो गया। ये बातें केवल उस बहुत गंभीर परिवर्तन की चिन्ह थीं जो समाज में आ घुसा था—वे और कुछ नहीं थीं।''

(एंगेल्स, **परिवार की उत्पत्ति**, पृष्ठ ६८-६९ मास्को संस्करण)

प्राचीन वैदिक सम्प्रदाय की परंपरा में इस प्रकार के व्यवहार को व्यक्त करने की आशा नहीं की जा सकती। लेकिन महाकाव्य (रामायण, महाभारत आदि—अनु.) के युग में इस प्रकार के अनेक व्यवहारों को हम लेख-बद्ध पाते हैं। कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण, अर्जुन द्वारा सुभद्रा का हरण, अनिरुद्ध द्वारा उषा का हरण, प्रद्युम्न द्वारा प्रभावती (निकुंभ के भाई वज्रनाभ की पुत्री) का हरण और निकुंभ द्वारा भानुमती का हरण इस व्यवहार के बहुत प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इसी अवस्था में पैशाची विवाह और प्रसिद्ध स्वयंवर द्वारा विवाह की प्रथा भी चली थी। और बहुत से साहसी युवक वीर कार्यों और पत्नियों की खोज में निकल पड़े थे—नारियों को भी देश के सबसे वीर और पराक्रमी पुरुष इस प्रकार मिल जाते थे।

एंगेल्स ने कहा है : ''अर्ध-वन्य अवस्था के लिए परिवार का विशेष स्वरूप युग्म परिवार है जिस प्रकार से वन्य अवस्था में यूथ-विवाह द्वारा बना हुआ परिवार और सभ्य अवस्था में एक पति और एक पत्नी द्वारा बना हुआ परिवार उन अवस्थाओं के विशेष परिवार हैं।''

इस युग्म-विवाह अथवा परिवार को आगे बढ़ कर दृढ़ एकनिष्ठ (Monogamy) विवाह और परिवार में विकसित होने के लिए समाज में एक बिल्कुल नये तत्व की जरूरत थी—और वह तत्व निजी संपत्ति था। हम जानते हैं कि एकनिष्ठ विवाह या परिवार में पुरुष, नारी का शासक होता है और पति के एकत्व की रक्षा नारी को ही करनी पड़ती है। युग्म परिवार में आते-आते यूथ अपनी अंतिम इकाई तक कम हो चुका था—जैसे अणु, परमाणु बन गया हो। एक नर और नारी ही अवशेष रह गये थे। जातिगत (कम्युनिटी) विवाह के दायरे को लगातार कम करने में प्राकृतिक वरेण्यता (Natural Selection) ने अपना उद्देश्य

पूरा कर लिया था। इस युग्म परिवार व्यवस्था से तब तक किसी दूसरी नयी पारिवारिक व्यवस्था का जन्म नहीं हो सकता था जब तक कि समाज में नयी सामाजिक शक्तियों का उदय न हो जाय। संपत्ति, पिता के अधिकार और वर्ग शासन सत्ता का आविर्भाव नयी सामाजिक शक्तियां थीं। युग्म परिवार ऐतिहासिक दृष्टि से विकास की वह सीमा थी जहां से निजी संपत्ति के साथ-साथ एकनिष्ठ परिवार का जन्म हो सकता था। इस नयी व्यवस्था का जन्म अर्ध-वन्य अवस्था के सामूहिकतावाद और साम्य संघ के खण्डहर पर हुआ था।

यहां पर——आसानी के लिए——आर्य राष्ट्र के परवर्ती विकास को मानते हुए हम यह कह सकते हैं कि एकनिष्ठ परिवार, कुटुम्ब का वह स्वरूप है जिसका आधार केवल आर्थिक अवस्थाएं हैं——यानी आदिम और प्राकृतिक सामूहिकतावाद के ऊपर व्यक्तिगत संपत्ति की विजय के आधार पर ही इसका जन्म संभव था। पुरुष का कुटुम्ब के ऊपर आधिपत्य, ऐसी सन्तानों का जन्म जो केवल उस पुरुष की हों और उसकी संपत्ति की भावी उत्तराधिकारी हो सकें——इस परिवार की मुख्य विशेषताएं हैं। वर्ग में बंटे हुए समाज में एकनिष्ठ परिवार का यही उद्देश्य था (इस परिवार का भावी वर्गहीन समाज में दूसरा रूप होगा)। एकनिष्ठ विवाह के इस स्पष्ट और कठोर अर्थ को आर्यों के शास्त्रकारों और लेखकों ने नहीं छिपाया। उनके लिए पत्नी के सतीत्व की भावना बहुत मुख्य समस्या नहीं थी। अगर वे स्वयं अपनी पत्नी से सन्तान उत्पन्न नहीं कर पाते थे तो जिससे भी संभव हो सकता था वे सन्तान उत्पन्न करवाते थे——जो उनकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती थी। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने नियोग (दूसरे के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति) पद्धति का सहारा लिया था। अपनी पत्नी के साथ यह नियोग परिचितों से, दक्षिणा देकर ब्राह्मणों से, बनवासी ऋषियों से या और भी किसी अन्य के द्वारा कराया जाता था। विचित्र वीर्य की पत्नियों के साथ व्यास ने नियोग किया था। अगर यह नियोग न हुआ होता तो भारत के इतिहास में पाण्डवों का नाम न आया होता। बाली की पत्नी के साथ दीर्घतमा का नियोग हुआ था। शरदांडायन की पत्नी ने राह चलते एक ब्राह्मण के साथ नियोग किया था। पांडव की पत्नियों के साथ ऋषियों ने नियोग किया था——यद्यपि बाद के इतिहास में बेचारे स्वर्ग के देवताओं को, भूमि के ऋषियों के इस कर्म पर परदा डालने के लिए बुलाया गया था। निजी संपत्ति के युग या कलि युग के शास्त्रकारों ने, चूंकि वे युग्म-परिवार के यथार्थ के बहुत निकट थे, वर्ग-मय समाज के एकनिष्ठ विवाह के उद्देश्य को बहुत स्पष्टता से कहा है। कलियुग के वर्गमय समाज के शास्त्रकार मनु, धर्म (कृत युग) के समूहवाद और द्वापर के मैथुन या युग्म परिवार को हटा कर कहते हैं कि पुरुष को स्त्री की रक्षा करने की कोशिश करनी चाहिए जिससे कि अपनी प्रामाणिक और शुद्ध सन्तान का

जन्म हो सके। * ''सन्तान उत्पन्न करने के साधन बनने में ही नारी का मूल्य है''—यह विचार दासता, व्यक्तिगत संपत्ति और वर्ग-शासन के युग में ही उठ सकता था। आदिम साम्य संघ में भी नारी सन्तान उत्पन्न करती थी लेकिन तब उसकी प्रतिष्ठा 'महामाता' कह कर की जाती थी, पुरुष के साथ-साथ उसका भी अधिकार पूरी संपत्ति पर होता था, वह उस साम्य संघ को जन्म देने वाली और उसकी नेता होती थी। उसका मूल्य सिर्फ उसके लिंग के कारण ही नहीं था (जिस तरह से पतनशील आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था में किराये पर पत्नी को रखने की प्रथा है) और न वह पशु संपत्ति के समान बच्चे देने वाली चल-सम्पत्ति ही मानी जाती थी।** एकनिष्ठ विवाह की इस नयी व्यवस्था में नारी का सतीत्व आसानी से लौट आता था। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में कहा है कि व्यभिचार द्वारा नष्ट हुआ सतीत्व या तो मासिक धर्म के स्नान के द्वारा या सन्तान की उत्पत्ति के बाद लौट आता है। *** संपत्ति के निश्चित उत्तराधिकारी की प्राप्ति का उद्देश्य दैवी या अलौकिक माना जाता था। इसलिए विवाह में पत्नी पशु के समान मान ली जाती थी। आर्य-विवाह की पद्धति में पत्नी के मूल्य के बदले एक गाय और एक बैल (गोमिथुनम्) देना पड़ता था। संस्कृत व्याकरण में भी नारी के नये मूल्य का निर्धारण उसके समाहार द्वंद्व समास के उदाहरण (दारागवाम्) ''पत्नी और गाय'' से ज्ञात हो जाता है। इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि पत्नी और पशु एक ही स्तर के प्राणी हैं। इस तरह की बात उत्पादन की सामूहिक प्रणाली में असंभव थी क्योंकि उस व्यवस्था में नारी का संपत्ति में अधिकार होता था।

> ''आदिम युग में नारी के विस्तृत आधिपत्य का आधार और कारण साम्य-सांघिक परिवार था जिसमें सब नारियां एक गोत्र की होती थीं। और उनके पति अलग गोत्रों से आकर उनके कुटुम्ब में शामिल होते थे।''—एंगेल्स

इस प्रकार के कुटुम्ब का आधार वही समाज हो सकता था जिसमें

* प्रजाविशुद्ध्यर्थम् स्त्रियम् रक्षेत् प्रयत्नतः। **मनुस्मृति** १३-९-९।
** प्रजननार्थम् महाभागाः पुजार्हा गृह दीप्तयः। मनुस्मृति २३-९-२६।
पुत्रार्थे क्रियते भार्या पुत्र पिण्ड प्रयोजनम् ।। मनु।
*** व्यभिचारात् ऋतौ शुद्धिः गर्भे त्यागो विधीयते। याज्ञवल्क्य स्मृति १-७२
एंगेल्स ने कहा है : ''एकनिष्ठ परिवार का मूल आधार पुरुष का आधिपत्य है। इस कुटुम्ब का उद्देश्य सिर्फ इतना ही होता है कि इसमें ऐसी सन्तानों का जन्म संभव हो सके जिनका पितृत्व अशंकित हो। इसकी आवश्यकता इसलिए हुई कि वे ही सन्तानें अपने पिता की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थीं।''

(परिवार की उत्पत्ति)

महाभारत के 'अनुशासन-पर्व' में अध्याय ४५-९ भी देखिए।

उत्पादन और उत्पादन-सामग्री पर सामूहिक अधिकार हो और जिसमें नारी का परिश्रम उतना ही महत्वपूर्ण सामाजिक परिश्रम माना जाता हो जितना कि पुरुष का माना जाता है। पुरुष युद्ध में जाता था, शिकार करता था, मछली पकड़ता था, भोजन के लिए कच्ची सामग्री का प्रबंध करता था और इनका प्रबंध करने के लिए औजारों का निर्माण करता था। नारी गृह का निर्माण और उसका प्रबंध करती थी तथा साम्य संघ के लिए भोजन और वस्त्र तैयार करती थी। साम्य-संघ में जिन औजारों का निर्माण और प्रयोग होता था उन पर सामूहिक ढंग से नर और नारी दोनों का अधिकार था। शिकार और युद्ध (बाद में पशु-पालन) के औजारों पर नर का और घर की वस्तुओं पर नारी का अधिकार था। नर और नारी दोनों मिल कर ब्रह्मन् कहलाते थे। यह ब्रह्मन् ही साम्य संघ का स्वरूप था। 'अर्ध नारी नटेश्वर' के आलंकारिक स्वरूप में उसी की स्मृति मालूम होती है। गण-गोत्र से अलग किसी उत्पादन या दूसरी विरोधी सत्ता का अस्तित्व नहीं था जिसमें नारी का सहयोग न होता हो। गण-गोत्र की उत्पत्ति ही नारी से हुई थी—उसके सगे संबंधी भी उसी नारी के रचे हुए थे। साम्य संघ का विस्तार जब बढ़ने लगा और उसमें से अनेक गण-गोत्र बाहर निकलने लगे, तब नारी ने ही उन गण-गोत्रों का परिचालन और नेतृत्व किया था। पुरातन 'अदिति' की वह महान प्रतिनिधि थी। किन्हीं-किन्हीं स्थानों में वह 'काली मां' के स्वरूप में भी प्रकट हुई। युद्ध और अन्न, जिसके लिए युद्ध होता था, के विषय को लेकर कोई भी सभा ऐसी नहीं होती थी जिसमें नारी भाग न लेती हो। इसलिए अगर प्राचीन पुरुष ने नारी को अलौकिक देवत्व से ढंक दिया था तो इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। हिन्दू धर्म कथाओं में अनेक नारी देवताओं का अस्तित्व उनकी प्राचीन गौरव-मयी सत्ता की साक्षी हैं—उन कथाओं में उस युग की नारी का वर्णन है जिसका अन्त उत्पादन की यज्ञ प्रणाली और ब्रह्मन् के साथ-साथ हो चुका था। तैत्तरीय ब्राह्मण (१-१-४) में निस्संकोच यह माना गया है कि नारी यज्ञ की महान पद्धति को जन्म देने वाली थी। सुर, असुर और मनु अथवा मनुष्य इस पद्धति के ज्ञाता थे। मनु की पुत्री और पत्नी इड़ा (इला?) यह देखने गई थी कि सुर और असुर किस प्रकार से यज्ञ करते हैं। उसने यह देखा कि उनकी यज्ञ पद्धति और साथ ही साथ मनु की यज्ञ पद्धति में दोष है। वह मनु के पास गयी और उसने मनु को बताया कि वे इड़ा की बताई हुई यज्ञ पद्धति का अनुसरण करें जिससे उत्पादन में वृद्धि हो। मनु ने उसकी इच्छा के अनुसार दोबारा यज्ञ की अग्नि को स्थापित करने के लिए कहा। इस यज्ञ के फल द्वारा मनु—मनुष्य ने अधिक मात्रा में प्रजा और पशु का लाभ किया।

इसी प्रकार से आदिम साम्य संघ अपने उत्पादन, अपने गण-गोत्र विवाह और परिवार का संगठन करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता था। अगर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो वे दरिद्रता की ही अवस्था में

रहते थे, फिर भी उनके अंदर परस्पर युद्ध या गृह युद्ध नहीं होते थे। 'ब्रह्मन्' का प्रसार हो रहा था—और वह दुनिया भर में स्थान-स्थान पर फैल गया था। वह उनके विरुद्ध युद्ध भी करता था—जो उसकी गति में बाधा डालते थे या उस पर आक्रमण करते थे।

इस व्यवस्था में गृह युद्ध तो नहीं होते थे लेकिन गणों के बीच आपस में युद्ध हो जाया करते थे। इसलिए अब हम यह देखेंगे कि प्रगति की ओर बढ़ते हुए गण अपने युद्धों और उनमें पायी हुई संपत्ति का प्रबंध किस प्रकार करते थे? किस तरह से समुन्नत होते हुए परिश्रम के फल और विनिमय के द्वारा गणों की वर्ग-हीनता का नाश हो गया था और उसके स्थान पर वर्ग शासन सत्ता, निजी संपत्ति, और उत्पादन की नई पद्धति का जन्म हो गया था? वन्य-अवस्था और अर्ध वन्य-अवस्था से लेकर सभ्यता तक, कृत-त्रेता युग से लेकर द्वापर-कलि तक यह विकास कैसे हुआ?

अध्याय ७

गण युद्धों का संगठन और युद्ध-संपत्ति का प्रबंध; अश्वमेध, पुरुषमेध और दानम्

अभी तक हमने गण साम्य संघ के आर्थिक और रक्त से संबंधित संबंधों का अध्ययन किया है। अब हम यह देखेंगे कि आर्थिक और कुल-संबंधी नियमों की बाध्यता से गण का एक अंश अलग होकर नये साम्य संघ की स्थापना करने के लिए अपने मूल स्थान से दूसरे स्थानों में कैसे जाता था? गणों को अपने जीवन-काल में अपने चारों ओर फैले हुए शत्रु-कबीलों से युद्ध करना पड़ता था। इसलिए ये युद्ध भी गण जीवन की दृष्टि में अत्यंत महत्वशाली होते थे। आर्यों के गणों के विकास में इन युद्धों का परिचालन, और उसमें पायी हुई संपत्ति का प्रबंध बहुत महत्वपूर्ण वस्तुएं हैं। हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि यह सब कैसे होता था? हम फिर एक बार यज्ञ के अध्ययन की ओर लौटते हैं।

जनसंख्या जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे उत्पादन की दुर्बल और आदिम पद्धतियां बड़े समूहों को अपने में संगठित नहीं रख सकीं—जैसे कि आज उनके लिए संभव हो गया है। गण-गोत्र टूटने लगे और पूरे एशिया महाद्वीप के विभिन्न स्थानों में फैलने लगे। जिन स्थानों पर कोई नहीं रहता था वहां पर उन्होंने अपना अधिकार जमाया और जहां पर दूसरे लोग थे उस जगह पर अधिकार जमाने के लिए युद्ध भी किया। आर्थिक आवश्यकताओं और सगे-संबंधियों के आपसी विवाह पर निषेधों के कारण —जिनका वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है—गण-पुत्रों को अपना मूल-स्थान छोड़कर दूसरे स्थानों में यात्रा करनी पड़ी थी। गण-पुत्रों की इस यात्रा की विधि को यज्ञ पद्धति में स्पष्टता से कहा गया है।

हरिवंश पुराण के अनुसार असिक्नी गोत्र में पांच हजार सन्तानें थीं। दूसरे शब्दों में वे साम्य-संघ की सामूहिक सन्तानें थीं। इन पांच हजार सन्तानों द्वारा जब और सन्तानों की उत्पत्ति का अवसर आया तो साम्य संघ में आर्थिक संकट का भय उत्पन्न हो गया। उस समय नारद ने आकर उन लोगों से कहा कि जब तक नये साम्य संघों की स्थापना करने के लिए वे यात्रा नहीं करेंगे तब तक दरिद्रता और संकट दूर नहीं हो सकते क्योंकि इतना अन्न नहीं है जो इतनी बड़ी जनसंख्या को पालने के लिए उत्पादन की सामग्री भी बन सके। इस तरह से गण का विभाजन हो गया। और उसका एक अंश बाहर निकल कर किसी अन्य स्थान में जा बसा।

दक्ष प्रजापति ने असिक्नी के साथ एक हजार पुत्रों को और जन्म दिया। उनको भी उसी प्रकार से किसी दूसरे स्थान पर जाकर बसना पड़ा।

इस तरह से नये स्थानों की खोज करना और नये गणों का निर्माण करना शांतिपूर्ण और सीधा काम नहीं था। मानव जाति की उन्नति के लिए पृथ्वी के अनगिनत अवरोधों को हटाना जरूरी था। मनुष्य जाति की शक्तियां बढ़ तो रही थीं परन्तु प्रकृति की इन रुकावटों को हटाने के लिए यथेष्ट नहीं थीं। आर्यों को उपयुक्त स्थान खोजने के लिए भारत के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में घूमना पड़ता था। ऐसे ही प्राकृतिक अव-रोधों में तेज बहती हुई नदियों की बाढ़ भी एक भीषण अवरोध थी। मनुष्य की प्रागैतिहासिक स्मृति के रूप में ऐसी ही बाढ़ की कथाएं सभी प्रमुख धार्मिक ग्रंथों में मिलती हैं। मनु की सभ्यता का नाश पानी की बाढ़ों (जल प्रलय) से हो गया था। लेकिन मनु को एक मछली ने बचा लिया और एक नाव के सहारे हिमालय के पास की भूमि पर वे आ उतरे थे। वहां पर उन्होंने फिर सृष्टि करना आरम्भ किया था। बाइबिल में भी ऐसी बाढ़ों की कथाएं—जैसे नोह का बेड़ा आदि लिखी मिलती हैं। पारसी धर्म की पुस्तक को वेंदीदाद कहते हैं। एक तरह से वह पार-सियों के लिए वेद के समान ग्रंथ है। ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पहले इस ग्रंथ की रचना हुई होगी। उसके दूसरे भाग में यह लिखा मिलता है कि सोलह प्रदेशों में कबीले निवास करते थे। अपनी अधिक जनसंख्या को बाहर भेजने के अलावा अनेक कारणों से उन लोगों को वे स्थान छोड़ने पड़े और दूसरे प्रदेशों में जा कर बसना पड़ा। उस ग्रंथ में लिखा है—"अंगरा मैन्यु जल-प्रलय को भेजता था। अहुर मज्दा ने ऐरियन वैजो के शासक यीम को बुलाया और उसे होशियार किया। अपने देश की सीमाओं को तीन बार विस्तृत कर यीम ने मनुष्यों को प्रसन्नता प्रदान की। उसके निवासियों के लिए वे सीमाएं बहुत संकुचित हो गई थीं। अहुर मज्दा ने सोलह प्रदेशों का सृजन किया और अंगरा मैन्यु ने एक-एक करके उनको नष्ट कर दिया।"[1] इन यात्राओं के विस्तृत वर्णन पर हम यहां ध्यान नहीं देंगे। हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि भौतिक साधनों की प्रगति ने किन समस्याओं को जन्म दिया और समाज ने उन समस्याओं को कैसे हल किया?

गण-गोत्रों के विभाजन और प्रगति के कारण उत्पन्न इन प्रस्थानों की विधियों का अध्ययन करना कम मनोरंजक नहीं है। अग्निष्टोम और षड्रात्र क्रतु में इन विधियों को देखा जा सकता है। इन यज्ञों के बारे में इससे पहले भी हम लिख आए हैं। श्री कुन्ते ने अपनी पुस्तक 'आर्य सभ्यताओं का अवस्थांतर' में यह मत प्रकट किया है कि अग्निष्टोम सोमयाग—जो एक बहुत लम्बा यज्ञ है—आर्यों के प्रस्थानों की विधि को छोड़ कर और कुछ नहीं है। लेकिन हमारा मत है कि अग्निष्टोम

1 आर्कटिक होम इन दि वेदाज से उद्धृत।

सोमयाग केवल प्रस्थान-विधि ही नहीं है—उसमें आर्यों के साम्य संघ के दिन-प्रतिदिन होने वाले कार्य भी सम्मिलित हैं।

इस यज्ञ के अनुसार प्रस्थान के लिए वसन्त ऋतु चुनी जाती थी। इसी ऋतु में पशु अपने बच्चे देते थे और प्रकृति फूलों तथा फलों से भर जाया करती थी। प्रस्थान का दिवस या तो पूर्णमासी होती थी या अमावस्या। अमावस्या की पूरी रात तो अंधेरी होती थी पर उसके बाद ही शुक्ल पक्ष आरम्भ हो जाता था। साम्य संघ के प्रतिष्ठित व्यक्ति या ऋत्विज अग्नि के चारों ओर खड़े होते थे और इस बात का निर्णय होता था कि कौन-कौन लोग किन यूथों में गण से बाहर निकल कर प्रस्थान करेंगे? जो लोग प्रस्थान के लिये चुनते और चुने जाते उनको दीक्षा और नए वस्त्र दिये जाते थे। फिर विधि-कर्म में इस बात की नकल की जाती थी जिससे यह स्पष्ट होता था कि इन लोगों का नये गण के पुत्रों के रूपों में, फिर से नया जन्म हो रहा हो। नये गण को बसाने के लिए उन्हें सब सामग्री दी जाती थी जैसे बर्तन, भांडे, पशु, बकरियां, आसव (शराब), अन्न, गाड़ी में लदा हुआ डेरा बनाने का सामान आदि। दूसरी गाड़ी में 'अग्नि' रखी जाती थी जिसकी स्थापना नए गण में होती थी। प्रस्थान के समय वे लोग सहभोज करते थे और आनन्द मनाते थे। पूरा साम्य संघ आनंद से भोजन करता और सोमरस पीता था। जो लोग प्रस्थान करते थे वे सहयोगी और निष्पाप होने की सौगन्ध लेते थे और अपने मूल गण से प्रस्थान कर देते थे। राक्षसों और जंगली जन्तुओं से लड़ने के लिये वे पूरी तरह से हथियारबंद होते थे।

वे कितने दिनों तक चला करते थे? और कब, किस स्थान पर ठहरते थे? इस बात का कुछ पता हमको लग सकता है अगर हम 'षड्रात्र क्रतु' अथवा 'सारस्वत सत्र' का अध्ययन करें। उन दिनों में भूमि का विभाजन न तो व्यक्ति के आधार पर हुआ था और न शासन सत्ता ने ही देशों की सीमाओं को बना दिया था—इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि किस प्रदेश की विशेष भूमि की ओर योजना बना कर वे प्रस्थान करते थे। प्रस्थान करते हुए नये गण के लिए यात्रा की दिशा, दूरी और जगह दूसरी बातों से तय होती थी। सारस्वत सत्र में यह दिखाया जाता है कि जब नया गण प्रस्थान करता था तब अध्वर्यु, शमी के दण्ड (जिसमें अग्नि छिपी रहती थी) को लेकर आगे-आगे चलता था और एक दिन की यात्रा के बाद जो स्थान मिलता था उसको डेरा डालने के लिए चुन लिया जाता था। यज्ञ पद्धति के अनुसार वहां पर आराम कर वे फिर अपनी यात्रा में आगे बढ़ते थे। प्रस्थान करने वालों को दस गायें और एक सांड आरम्भ में दिये जाते थे। वे तब तक यात्रा करते थे जब तक सौ गायों को पालने भर को चरागाह नहीं मिल जाती थी। गण को ऐसे स्थान की खोज करनी पड़ती थी जहां पर इतनी जगह या सामग्री मिल सके जिसमें एक सौ गायों, कुछ सांडों और सौ दो सौ भेड़ों और बकरियों के आधार पर रहने वाली एक जनसंख्या आसानी से रह सके। (बाद में जब परिश्रम की

उत्पादन शक्ति बढ़ती गई तो गायों की यह सीमा एक हजार गायों तक बढ़ती हुई मालूम होती है। संभवतः उससे यह भी मालूम होता है कि छोटे-छोटे नगरों का भी जन्म होने लगा था और गण पद्धति शिथिल होती जा रही थी।) अत्यंत प्राचीन साम्य संघ में जिसमें एक सौ गायें रहती थीं, उनकी जनसंख्या क्या रही होगी? इसके विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। लेकिन हम कुछ कोशिश कर सकते हैं। जैसा हम पहले देख चुके हैं—आर्ष विवाह के अनुसार एक पत्नी, एक गाय और एक सांड के बराबर मानी जाती थी। अगर एकनिष्ठ विवाह में एक पत्नी या एक स्त्री एक परिवार में रहती थी, तो हम यह कह सकते हैं कि देवसत्र के अनुसार एक इस गण में ज्यादा से ज्यादा एक सौ परिवार हो सकते थे। मनु ने अपनी स्मृति के एक अध्याय में कलियुग के न्यायालयों में गवाही देने के नियमों का वर्णन किया है। मनु यह कहते हैं—जो एक अद्भुत विचार-सा लगता है—कि किसी गाय के बारे में जो झूठी गवाही देता है वह दस संबंधियों की हत्या करने के बराबर पाप करता है, मनु के समय में आदमी को दास के रूप में बेचने की दर गिर गई थी। 'साम्य संघ' व्यवस्था के दिनों में आदमी का मूल्य इतना गिरा हुआ नहीं था—क्योंकि तब दास प्रथा नहीं थी। इन सब कारणों से ऐसा लगता है कि गण की जनसंख्या पांच सौ से अधिक नहीं हो सकती थी। कुछ भी हो इस बात का सीधा संबंध हमारे विषय से नहीं है, फिर भी हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार उत्पादन-प्रणाली की व्यवस्था जनसंख्या की एक सीमा निश्चित कर देती थी।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि धन और स्थान को खोजने में ही गण किसी रोग, मृत्यु अथवा शत्रु से नष्ट कर दिया जाता था। इस प्रकार मनुष्यों के नष्ट होने के कारण जब गण दुर्बल होने लगता था, तो उसमें जीवन डालने के लिए या तो वह दूसरे गण-गोत्रों से व्यक्तियों को लेकर अपने गण में मिला लेता था या स्वयं ही किसी दूसरे गण में शामिल हो जाया करता था। उन दिनों में संवाद पहुंचाने के साधन (means of communication) बहुत कम थे। दूर-दूर पर फैले हुए जन-समूहों के बीच दिन प्रतिदिन के जीवन में मेल-जोल एक तरह से असंभव ही था। इसलिए विभिन्न गण-गोत्रों और कबीलों ने अपनी-अपनी छोटी भाषाओं को शीघ्र ही विकसित कर लिया था। कुछ ही समय के बाद अपनी गण की मूल भाषा से वे भाषाएं एकदम भिन्न दिखाई देने लगती थीं। इससे नये कबीलों और गणों की भाषाएं बहुत अंशों में मिली-जुली भी होती थीं। संस्कृत व्याकरण ऐसी विशेषताओं से भरे पड़े हैं और व्याकरण के वे विद्वान जिनके पास सामाजिक इतिहास का ज्ञान नहीं है, इन विशेषताओं को समझाने की असफल चेष्टाएं करते हैं। उदाहरण के लिए हम व्याकरण के महाविद्वान पाणिनि को लें। अस्मद् (मैं), युष्मद् (तुम) सर्वनामों के सात कारकों में बनने वाले इक्कीस रूपों के विषय को लेकर

तेईस नियम उन्होंने बनाए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे कोई नियम नहीं हैं। भाषा की इन विशेषताओं को गण और कबीलों के मिश्रण या संयोग के द्वारा ही समझाया जा सकता है। समय के साथ-साथ ये रूप विकृति या परिवर्तन द्वारा बनते गये ऐसा नहीं माना जा सकता—क्योंकि पुरुषवाचक सर्वनाम इतनी सरलता से नहीं बदला करते।[1]

जब किसी परजन (दूसरे व्यक्ति को) या उनके समूह को किसी गण में सम्मिलित किया (दत्तक लिया) जाता था तो उसको यज्ञ विधिकर्म के अनुसार 'व्रत्यस्तोम' (व्रत्यष्टोम) कहते थे। जिस प्रकार परवर्ती युग में एकनिष्ठ परिवार में निजी संपत्ति का उत्तराधिकारी बनाने के लिये दत्तक लिया जाता था, उससे यह परिग्रह (दत्तक लेना) भिन्न होता था। यह इसी बात से स्पष्ट है कि जिसको गण में सम्मिलित किया जाता था वह किसी निजी परिवार का सदस्य नहीं होता था, क्योंकि गण परिवार के अस्तित्व-काल में कहीं पर व्यक्तिगत परिवार की सत्ता नहीं थी। यज्ञ कर्म-कांड के द्वारा केवल परजन (अपरिचित) को ही सम्मिलित किया जाता था—जो सगा संबंधी नहीं होता था। गण में सम्मिलित हो जाने के बाद वह गण के संबंधों में बंध जाता था। और वह साम्य संघ के आर्थिक और सामाजिक जीवन का एक अंग मान लिया जाता था। इस प्रकार से उसकी मृत्यु से रक्षा हो जाती थी। उन दिनों प्रत्येक अपरिचित व्यक्ति के भाग्य में नष्ट होना ही लिखा होता था, क्योंकि दूसरे गण वाले उसे अपना संबंधी नहीं समझ सकते थे। इसलिए उसे वे शत्रुवत मानने पर बाध्य थे। ऐसे अपरिचितों को वे जब अकेला पाते थे तो सीधे-सीधे मार डालते थे।

प्रस्थान करते हुए गणों को चरागाहों—और ऐसा स्थान जहां पर वे पशु धन की वृद्धि कर सकें—को खोजने के समय में शत्रु गणों से युद्ध करना पड़ता था। देव-गण द्वारा लड़े गये ऐसे युद्धों का वर्णन ऋगवेद में अनेक स्थलों पर किया गया है। महाभारत के आदि पर्व में, वंशावली की कथाओं में, और धार्मिक कथाओं की सृष्टि विषयक कहा-

[1] इस समस्या को श्री राजवाडे ने हल कर दिया था। उन्होंने जिस मूल शब्द का पता लगाया वह पाणिनि के शब्द से बिल्कुल भिन्न है।

इरोक्वास के विषय में एंगेल्स कहते हैं :

''कबीलों और उनकी उपभाषाओं (Dialect) का प्रसार वस्तुतः साथ-साथ होता है। अभी कुछ समय पहले तक विभाजन द्वारा नये-नये कबीलों और उपभाषाओं की उत्पत्ति अमरीका में हुई है—और शायद आज तक भी यह निर्माण एकदम रुक नहीं गया है। जब दो दुर्बल कबीले आपस में मिल कर एक होते हैं तो अपवाद स्वरूप यह देखने को मिलता है कि निकट संबंधी दो उपभाषाओं का प्रयोग एक ही कबीले में करते हैं। साधारण रूप से इस समय अमरीका में कबीलों की संख्या २००० से कम है....।''

(परिवार की उत्पत्ति)

नियों में विभिन्न गणों के बीच अविराम चलते हुए युद्धों का वर्णन है। यह युद्ध अदिति, वसु, रुद्र, द्यौस, दिति आदि गणों के बीच चला करता था। इनमें बहुत से युद्धरत प्राचीनतम गण ऐसे हैं जिनका नाम उनकी माता के अनुसार है। परन्तु वे युद्ध जो ऋगवेद के काल में हुए—विशेषतया वह युद्ध जो उन दस राजाओं के बीच में हुआ था जिनका नाम 'सुदास' और 'दिवोदास' के अनुरूप पड़ा था—पितृ-सत्ता के आधिपत्य में आए हुए गणों का युद्ध था। स्पष्ट रूप से ये युद्ध उस समय हुए थे जब माता के आधिपत्य को उखाड़ फेंका गया था और पितृसत्ता, निजी संपत्ति, दासता और वर्ग-संघर्ष की ओर अग्रसर हो रही थी। यहां तक कि पितृसत्ता तक के युग में जितने युद्ध होते थे उनकी यह विशेषता थी कि वे युद्ध एक गण के दूसरे गण के साथ अथवा एक गण-समूह के दूसरे गण-समूह के साथ होते थे। दूसरी विशेषता यह थी कि ये युद्ध पशु, जल, तथा चरागाह के लिए होते थे। तीसरी विशेषता यह थी कि आर्यों के शत्रु जो असुर, दैत्य, राक्षस, तथा अहि और दास कहलाते थे वे भी यज्ञ-प्रणाली के गोत्र संगठनों में रहते थे। यह यथार्थ इस बात से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका वर्णन करते हुए यह दिखाया गया है कि वे अपनी अग्नि से यज्ञ करते थे, पर गलत पद्धति से करते थे, वे गलत मंत्र पढ़ते थे। इसलिए जो फल उनको मिलता था वह भी गलत होता था। परन्तु ऐसा मत देवों का था। चौथी विशेषता यह थी कि युद्ध का परिचालन और लूट में मिली हुई वस्तु का प्रबंध या वितरण विशेष रूप से गण-पद्धति के अनुसार होता था। जीत की संपत्ति को न तो एक वर्ग आत्मसात् कर सकता था और न वर्ग शासन सत्ता की भाड़े पर रखी हुई फौज और उसके नायक ही उसे अपने अधिकार में कर सकते थे, जैसा कि एक वर्ग के शासन में होता है।

हम यह नहीं जानते कि कहां पर और कितने समय तक ये गोत्र अथवा गण, जो अपनी उत्पत्ति समान माताओं दिति, अदिति, दनु, वसु, कद्रु, विनता, भानु तथा अन्य नारियों से मानते थे और जो आदिम साम्य संघ की व्यवस्था में रहते थे, आर्यों के इतिहास और युद्धों में सम्मिलित हुए थे। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वे गण साम्य संघ में रहते थे जिनका आधार उत्पादन की सामूहिक पद्धति थी। यद्यपि साधारण धर्म कथाओं में इन देवताओं को अमरता, सर्व-व्यापकता, विश्व को रचने और ध्वंस करने की शक्ति सौंप दी गई थी, फिर भी यह बात कि मनुष्य की ही तरह का उनका अस्तित्व था न तो छिपी हुई थी और न भूली ही जा सकी थी। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि देवता मरणशील हैं।[1] उसी प्रकार से शतपथ ब्राह्मण भी उनको मरणशीलों के वर्ग में रखता है। और ऐतरेय ब्राह्मण इन्द्र, अग्नि और प्रजापति को मरणशीलों की कोटि में गिनता है।

[1] अथर्ववेद; ११-५-१९, ४-११-६।

वे केवल मरणशील जीव ही नहीं हैं वरन् यह बात विशेष रूप से कही गई है कि उनका सामाजिक संगठन 'गण' रूप में था। वसु के कबीले में आठ गण, रुद्र के ग्यारह गण, मरुत् के इक्कीस गण, आदित्य के बारह गण तथा ऋभुस् के तीन गण थे, आदि। देव गणों का विभाजन होता रहा और वे अनेक गोत्रों में फैलते गये। समय के बीतने के साथ-साथ वे सगे संबंधों से इतना दूर होते गये और उनकी उपभाषाएं इतनी भिन्न होती गईं कि आपस में वे एक-दूसरे के शत्रु हो गये। फिर वे पशु और धन के लिए परस्पर युद्ध करने लगे। इस प्रकार के शत्रु गण—पुरदेव, मुरदेव, शिश्नदेव, शूरदेव आदि थे। ऋगवेद में देव गण और पणिस् के बीच एक बड़े युद्ध की ओर संकेत किया गया है। पणिस् ने देव गण की गायों को चुरा लिया था। इस युद्ध में देव गण का नेतृत्व करने वाली एक नारी थी जिसका नाम सरमा था। देवों को वह नदियां और जंगल पार कराती हुई ले गई थी और पणिस् को उसने खोज निकाला था। तब युद्ध शुरू हुआ। देव और असुर के युद्ध के बारे में धर्म कथाओं में यह मत भी दिया गया है कि एक समय में ये दोनों एक ही गण के सदस्य थे।

यह हम पहले देख चुके हैं कि अपनी शान्तिकालीन अर्थ व्यवस्था में साम्य संघ के प्रमुख कार्य को करने वालों को अध्वर्यु तथा 'होता' कहा जाता था। गण संघ में ये प्रमुख काम करने वाले आधुनिक अफसरों की भांति नहीं होते थे। आधुनिक वर्ग शासन के अफसरों की भांति विशेषाधिकारी, पद से न हटाये जाने योग्य, समाज से उच्च स्थान पाए हुए और वेतन पर रखे हुए, वैसे अधिकारी वे नहीं होते थे—जिनका काम शोषक वर्ग के मुनाफे के लिए उत्पादन का परिचालन करना होता है। **वे स्वयं उत्पादन करने वाले होते थे। साम्य संघ के परिश्रम का परिचालन करने के लिए उनको चुना जाता था। जब तक सम्पत्ति के बंटवारे में भेद नहीं पड़ गया तब तक सामाजिक उत्पादन में से वे सब सदस्यों की ही भांति बराबर का भाग पाते थे।**

जैसा शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था में होता था वैसा ही युदधकालीन व्यवस्था में भी होता था। कई मामलों में अन्न का उत्पादन और युद्ध एक वस्तु के द्योतक हो जाया करते थे। यह समानता यहां तक हो जाती थी कि संस्कृत भाषा का एक शब्द 'गविष्टि' का अर्थ 'युद्ध' भी है और 'गायों' को पाने के लिए एक 'छोटा यज्ञ' भी है। साम्य संघ का पूरा संगठन हथियारबंद होता था। उस युग में कोई श्रम-विभाजन या सामाजिक विभाजन नहीं हुआ था इसलिए पूरे साम्य संघ को युद्ध में भाग लेना पड़ता था—यद्यपि पुरुष ही इन युद्धों में लड़ते थे। प्राचीन समय में स्वभावतया वही विशेष व्यक्ति जो अध्वर्यु बन कर यज्ञ का परिचालन करता था, युद्ध का भी परिचालन करता था। कारण स्पष्ट है कि उन दिनों में प्रारंभिक आर्यों के बीच हम कोई ऐसा विभाजन नहीं पाते जिससे युद्ध के परिचालन या शान्तिव्यवस्था के परिचालन में भेद किया

जा सके जैसा कि बाद के युग में क्षत्रिय राजा और ब्राह्मण पुरोहित के बीच भेद किया गया था। इसलिए प्राचीनतम युग में हम ब्रह्मन् के नेता और विख्यात योद्धाओं के रूप में ब्राह्मणों को पाते हैं। यह ब्रह्मन् पहले सामूहिक संगठन में बंधा हुआ था—बाद में इन ब्राह्मण नेताओं का विशेष काम केवल यज्ञ का विधि-कर्म करना ही रह गया था।

जिस तरह से अर्ध वन्य अवस्था में रहने वाले सभी जातियों के लोग हर सामूहिक क्रियाशीलता, वस्तु या वातावरण को देवत्व सौंप देते थे और धार्मिक अनुष्ठान की प्रतिष्ठा उनको देते थे, उसी तरह से आर्य लोग भी करते थे। जब ब्रह्मन् या गण साम्य संघ किसी को अपने युद्ध का परिचालक या नेता चुनता था तो वह ब्रह्मन्स्पति, बृहस्पति और गणपति हो जाया करता था। असुरों के विरोध में युद्ध करते समय देवताओं को मंत्रणा देने वाला सबसे अधिक योग्य और विद्वान व्यक्ति बृहस्पति कहलाता था। हिन्दुओं में गणपति आज भी देवता के स्वरूप में वर्तमान हैं—जिनका आह्वान हर काम के प्रारंभ में किया जाता है। इन तीनों नामों का अर्थ मुख्य-व्यक्ति या सरदार है जो साम्य संघ का नेतृत्व करता था और युद्ध तथा शान्ति व्यवस्था में अपने गण संघ को आगे ले जाता था। गण संघ के प्रतिनिधि और नेता होने के कारण साम्य संघ अपने सामूहिक उत्पादन में से उनको हवि (यज्ञ-भाग) देता था, जिससे वे जीवित रहते थे। और उनका आह्वान इसलिए किया जाता था कि वे शत्रुओं का नाश कर गण संघ को धन की ओर ले जायें। गणपति अथर्व शीर्ष में गण के प्रतिनिधि या नेता का वर्णन लिखा मिलता है। वे लाल रंग के वस्त्र पहनते थे, उनके पास एक पाश होता था (रस्सी का वह फंदा जिसको दुश्मन पर फेंकते थे और फंदे में फंसा कर उसको मार डालते थे—अनु.)। उनके पास तीन नोकों का एक त्रिशूल या भाला, तथा हाथी का एक बड़ा दांत होता था, जिनसे वे अपने शत्रुओं से लड़ते थे। युद्ध के बाद जब गण अपने शत्रु को हरा देते थे तब पराजित शत्रु के पशुओं तथा अन्य धनों पर वे अधिकार कर लेते थे; नारियों और बच्चों को पकड़ लेते थे तथा युद्ध के बन्दियों को बांध कर वे सब लोग अपने गण निवास में लौट आते थे।

अब गणपति को एक काम और करना पड़ता था। युद्ध के बाद मिली हुई संपत्ति किसी व्यक्ति की न होकर पूरे गण की संपत्ति होती थी। ऐसी सामग्री, जिसका उपभोग सब लोग कर सकते थे, का वितरण किया जाता था। गण लोग अपने गणपति को वितरित होने वाले धन के साथ केन्द्र की वेदी (असन्दी) पर बैठने के लिये बुलाते थे। इस अवसर पर सहभोज होता था और आनन्द मनाया जाता था। योद्धाओं, सफल नेताओं और गण की स्तुति की जाती थी—वह गणपति है, वह प्रियपति है और वह निधिपति है। इस प्रकार से विजय में पाई हुई संपत्ति का बंटवारा गण के सहभोज के समय गणपति की देखरेख में होता था।

अग्नि और साम्य संघ के सहभोज में सबसे पहला पवित्र भोजन वह

अश्व होता था जिसने शत्रु के क्षेत्र में सबसे पहले प्रवेश किया था। अश्व-मेध यज्ञ का वही प्रमुख अश्व था। पहले उसको नहलाया जाता था—फिर सब लोगों को उसके दर्शन कराये जाते थे। बाद में उसे बलि के खम्भे से बांध दिया जाता था।

लेकिन उसको मारने के पहले गण के सदस्य साधारण मांस और सुरा का सेवन करते थे जिसके बाद नर और नारियां मिल कर श्रृंगार रस से भरा (यौन-संबंधी) नृत्य करते थे। इस नृत्य का नेतृत्व गणपति से करने को कहा जाता था। गण-युग की प्रथा के अनुसार यूथ-यौन संबंधों के साथ सहभोज सम्पन्न होता था।

इस श्रृंगार नृत्य में थोड़ी-सी विषमता भी आ जाती थी; और विषमता का कारण वे नई नारियां होती थीं जो पराजित गण से बन्दिनी के रूप में लायी गयी थीं। युद्ध में जीती गयी अन्य वस्तुओं की भांति वे संघ के लिए एक भेंट की वस्तु होती थीं। गण की मूल पत्नियों की भांति यूथ-विवाह के अधिकार के अन्तर्गत इन नारियों को भी गण में सम्मिलित कर लिया जाता था। नये सौन्दर्य के साथ इस प्रतियोगिता में गण की मूल पत्नियों (गणिका) की ओर कोई ध्यान नहीं देता था और वे अकेली रह जाती थीं। अपने प्रति पुरुषों की इस अवहेलना के कारण नारियां जिस प्रकार से विलाप करती थीं उसको यहां पर नहीं लिखा जा सकता। शुक्ल यजुर्वेद के 'क्षत्त-पलगली-संवाद' में इस विलाप का वर्णन किया गया है। यह विलाप यज्ञ कर्म-कांड का एक अंश है और ऐसी भाषा में लिखा गया है जिसको आज बहुत अधिक अश्लील समझा जायगा—पर उन दिनों में वह पवित्र और उचित माना जाता था।

इस सहभोज और नारियों को गण में मिलाने के बाद गण के पास दो और काम शेष रह जाते थे—एक पुरुष-मेध और दूसरा ब्रह्म-मेध। पुरुष मेध में वे युद्धबंदियों की हत्या करते थे। ब्रह्ममेध के अन्तर्गत वे शवों का क्रिया-कर्म करते थे।

विकास की प्रथम अवस्थाओं में प्रकृति या अविकसित औजारों के कारण संघ की उत्पादन-शक्ति ऐसी नहीं थी कि उत्पादन करने वाला इतना पैदा कर सके जो उसकी श्रमशक्ति का स्थान ले और कुछ अतिरिक्त उत्पादन भी करे। इसलिए इस अवस्था में सामाजिक-व्यवस्था के अन्दर दासों को शामिल करना नहीं हो सकता था जिनसे कि स्वामी के मुनाफे के लिए काम लिया जा सके। युद्ध में जब शत्रुओं को बंदी बनाया जाता था तो उनमें से कुछ तो व्यक्तिगत वीरता, कुछ सौन्दर्य तथा कुछ कला-कौशल या वैद्यक में निपुण होने के कारण गण में शामिल कर लिये जाते थे। सम्मिलित होने के बाद वे पूरी तरह से गण के सदस्य और संबंधी हो जाते थे। लेकिन उन लोगों का क्या होता था जिनको साम्य संघ की उस छोटी आर्थिक व्यवस्था में कोई स्थान नहीं मिल सकता था? इतने सारे आदमियों को वह गण कैसे पालता? परिश्रम द्वारा अधिक फल की प्राप्ति तो हो नहीं सकती थी। इसलिए उनकी हत्या कर दी

जाती थी। वे साम्य-संघ के शत्रु समझे जाते थे। और पुरुषमेध के द्वारा उनको शक्तिशाली अग्नि में बलिदान कर दिया जाता था। पुरुषमेध नर-मांस भक्षण का अवशेष नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इतिहास के बहुत प्राचीन काल में आर्यों को भोजन की कमी और उत्पादन-शक्तियों की दरिद्रता के कारण नर-मांस भक्षण की अवस्था से पार होना पड़ा होगा। अगर पुरुषमेध, नर-मांस भक्षण का अवशेष होता तो इसके विधि कर्म में किसी रूप में मरे हुए लोगों को खाने की क्रिया की ओर भी संकेत किया जाता—जैसा कि हर विधि कर्म में किया जाता है। पर इस विधि कर्म में हम ऐसी कोई विधि नहीं पाते हैं। इस यज्ञ की जो विधि आज मिलती है, वह इस प्रकार है कि इस यज्ञ में बलि-पशुओं को बांधने के लिए ग्यारह यूप (खम्भे) होते हैं। यज्ञ के तीसरे दिन सब बंधे पशुओं को प्रथा के अनुसार मार डालते हैं। तब पुरुषों की बारी आती है। उनको नर-पशु कहा जाता है। वे ग्यारह यूपों (खम्भों) के बीच में खड़े होते हैं। विभिन्न देवों को उनकी भेंट चढ़ाई जाती है। यज्ञ का सर्वोच्च पुरोहित जिसको ब्रह्म कहते हैं, पुरुष-सूक्त से ऋचाएं पढ़ता हुआ एक जलती हुई लकड़ी को हाथ में लेकर उनके चारों ओर तीन बार घुमाता है। इसके बाद वे सब छोड़ दिये जाते हैं और उनमें से कोई भी मारा नहीं जाता। जबकि यथार्थ में अग्नि के अन्दर उनके शरीर के मांस की आहुति दी जाती होगी—विधि कर्म में उसके मांस के बदले अग्नि में घी डाला जाता है।

उन बलि होने वालों के चारों ओर अग्नि घुमाने और उनके अर्पित करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि किसी समय में उनको मार कर आग में डाल दिया जाता था। पर वर्तमान विधि में वे मारे नहीं जाते वरन् छोड़ दिए जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? यह इसलिए तो नहीं होता कि आर्यों का स्वभाव कोमल या मृदुल हो गया था। बाद की व्यवस्था में जिनके नियमों ने सबसे छोटे अपराध के लिए नर और नारियों को बेंत से पीटना, विकलांग करना और सर काट लेने तक का आदेश दिया था, और जिन्होंने अनार्यों के साथ युद्ध करने में हजारों मनुष्यों को मारा था, वे आर्य यकायक मानवतावादी बन कर इन नरपशुओं को मारने और खाने पर कैसे रोक लगा सकते थे? इसकी सीधी वजह यह है कि यज्ञ की यह विधि उस युग की है जब युद्ध-बन्दियों को मारा नहीं जाता था, वरन् उनको दास बना लिया जाता था। सामाजिक कौशल समुन्नत हो चुका था और मनुष्य के परिश्रम में इतनी शक्ति आ गई थी कि वह अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन कर सकता था। स्वामी के लिए परिश्रम का मूल्य बढ़ने लगा था। परिश्रम के लिए वे जीवित मनुष्यों को अपना दास बना कर रखते थे। उनको शव बना कर अग्नि देव को सौंपना उस अवस्था में गलत होता। युद्ध बंदियों की हत्या करना एक व्यर्थता हो गई थी। आर्यों के लिए यथार्थ रूप में यह अहितकर थी। तब उन्होंने उनको दास बनाना आरंभ कर दिया।

दास पद्धति बहुत हितकर सिद्ध हुई। जब स्वतंत्रता और समानता के आधार पर टिका हुआ आर्यों का समाज छिन्न-भिन्न हो गया तो दास प्रथा उस समाज में स्थापित हो गई।

लेकिन यह परिवर्तन बाद में हुआ था। इसके हो जाने से पुरुषमेध का मूल-तत्व ही बदल गया। पहले गण के बंदियों की हत्या करना इस विधि का उद्देश्य था। इस सत्य का पता यथार्थ रूप में इस बात से लगता है कि वर्तमान विधि के अनुसार नरों की भेंट पुरुष-सूक्त की ऋचाओं के पाठ के साथ होती थी। इस सूक्त की रचना आर्य गणों के दास-विधान के अन्तर्गत बाद में हुई थी। उस समय आर्यों के समाज में वर्ण, दास, व्यक्तिगत संपत्ति और शासन-सत्ता का जन्म हो चुका था। इसकी ओर हम आगे ध्यान देंगे।

लेकिन इस विधि के बाद एक विधि और बाकी रह जाती थी। युद्ध में मरे हुए लोगों का प्रबंध कैसे किया जाय? जिस प्रकार से साधारण शवों का कर्म-कांड किया जाता था, इसमें भी उससे भिन्न और कोई विशेषता नहीं होती थी। शव को जलाने की क्रिया—चाहे युद्ध में या शांतिकाल में हो—कोई व्यक्तिगत विधि नहीं थी जैसा कि कुछ लेखक कहते हैं। यह भी एक यज्ञ की विधि है और इसको ब्रह्ममेध के सार्थक नाम से पुकारा जाता था। वर्तमान विधि कर्म का यह कहना है कि वह व्यक्ति जिसने अग्नि-होत्र को स्वीकार कर लिया है, जब मृत्यु को प्राप्त होता है तो उसका संस्कार श्रौत विधि (प्राचीन वैदिक विधि) के अनुसार होना चाहिए—इसी को ब्रह्ममेध कहते हैं। और दूसरे मनुष्यों के शवों का संस्कार परवर्ती स्मृति-विधि के अनुसार होना चाहिए। उस दशा में वे उसको पितृ-मेध कहते थे। स्मृति की विधियों का जन्म बहुत बाद में हुआ था। प्राचीन यज्ञ पद्धति के समाज में पूरा साम्य संघ या गण अग्नि-होतृ होता था। इसलिए प्रत्येक मृत्यु सम्पूर्ण साम्य संघ के लिए ब्रह्ममेध मानी जाती थी। मरता हुआ व्यक्ति संबंधी होने के नाते पूरे साम्य संघ या ब्रह्मन् का एक अंग होता था। उसकी मृत्यु गण की भी आंशिक-मृत्यु होती थी। यह एक सार्वजनिक विधि थी। इस मेध में सम्पूर्ण ब्रह्मन् का सम्मिलित होना आवश्यक होता था।

कुछ आलोचक[1] ऐसे हैं जो इस सत्य को नहीं मानते कि अर्ध वन्य अवस्था को पार करती हुई अन्य जातियों के समान आर्यों का संगठन गण रूप में था। वे इसके लिए यह प्रमाण देते हैं कि गण की जो परिभाषा मारगेन ने दी है उसके अनुसार प्रत्येक गण के पास अपने शवों का दाह संस्कार करने के लिए एक श्मशान भूमि अवश्य होनी चाहिए—उसी स्थान पर प्रत्येक मृत गण-सदस्य का दाह संस्कार होना चाहिए। उन आलोचकों के मत में इस प्रकार की श्मशान भूमि आर्यों के पास नहीं थी। जैसा

[1] करंदीकर—''**हिन्दू एक्जोगेमी**'' (हिन्दुओं का दूसरे गणों के साथ विवाह)।

कि हम ऊपर लिख आए हैं इन आलोचकों के लिए ब्रह्ममेध--ठीक उत्तर का काम देगा।

इसके बाद युद्ध में प्राप्त अन्य सामग्री बंटने के लिए बाकी रह जाती थी। सहभोज, नृत्य, नर और नारी युद्ध-बंदियों का प्रबन्ध तब तक पूरा नहीं माना जा सकता था जब तक विजय में पाई हुई संपत्ति, धन, पशु, बर्तन, आभूषण, वस्त्र, आदि के वितरण की समस्या हल न हो जाय। वितरण की यह विधि 'दानम्' कही जाती थी। साधारणतया वैदिक विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ 'भेंट' अथवा 'दया के कारण दिया हुआ धन' लगाया है जो ठीक नहीं है।

यह हम कह चुके हैं कि शान्तिकालीन आर्थिक-व्यवस्था में सामूहिक परिश्रम से दिन प्रतिदिन की उपज जब गण के व्यक्तिगत सदस्यों में उपभोग के लिए बांटी जाती थी और उनके द्वारा आत्मसात् की जाती थी तो उसको हवन, हवि, हुतशेष अथवा यज्ञशिष्ट कहा जाता था। युद्ध में जीती हुई जिन वस्तुओं का वितरण साम्य संघ में होता था, अथवा वे टिकाऊ वस्तुएं जिनको साम्य संघ के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और समय-समय पर होने वाले उत्सवों में जिनका वितरण होता था, जैसे---अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र, बर्तन आदि---वे 'दानम्' कहलाते थे। इन्हीं वस्तुओं को बांटने के लिए ब्रह्मणस्पति को अन्य भेंटों के सहित (अतिभि:*) ऊंची वेदी पर चढ़ा कर बिठाया जाता था। अथर्ववेद में उससे वस्तुओं को बांटने के लिए कहा गया है--(विभज वसूनि)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गणपति को 'हे वसु' कह कर संबोधित किया जाता था। संपत्ति को 'वसूनि' कहते थे, और वसु गण संघ के स्वरूप में होते थे जिनका उद्भव या जन्म एक माता वसु से हुआ था।

यहां पर दानम् अथवा वितरण किसी कबीले के सरदार का व्यक्तिगत कर्म नहीं था जो उसकी इस इच्छा पर निर्भर होता कि चाहे वह वितरण करे और चाहे न करे। क्योंकि युद्ध में जीती हुई संपत्ति पर पूरे गण का अधिकार होता था। हवन की भांति दान भी एक सामाजिक कर्म था। समय-समय पर होने वाले उत्सवों में, जब संघ को उन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी तब, अथवा युद्ध या आक्रमण के उपरांत यह कर्म किया जाता था। इसीलिए साम्य संघ की विचारधारा में इस (दानम्) का संबंध युद्ध के सरदारों अथवा गणपति या ब्रह्मणस्पति से था। ऋगवेद में 'दानम्' शब्द का अर्थ 'विभाजन' लगाया गया है। 'दा' धातु से यह शब्द बना है जिसका अर्थ 'बांटना या विभाजन करना' है। इस तरह से इस कर्म में 'दया' या 'कृतज्ञता' कहीं पर भी नहीं प्रकट होती है।

जब साम्य संघ और सामूहिक संपत्ति का नाश हो गया, जब युद्ध

* गणानां त्वा गणपतिं हवामहे। कविं कवीनाम् उपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्टराजं ब्राह्मणां ब्रह्मणस्पते आ नः शृण्वन्न अतिभिः सीद सादनम्। ऋ० २।

राजाओं और क्षत्रिय जाति का विशेष काम बन गया, जब इन क्षत्रियों के अपने घरों में संपत्ति जमा होने लगी, जबकि युद्ध में पाई हुई संपत्ति पर प्राचीन काल की तरह पूरे गण का अधिकार न मान कर केवल राजा का और शासक-वर्ग का ही अधिकार माना जाने लगा, तब सब लोगों के द्वारा युद्ध में जीती गयी संपत्ति को बांटना अनिवार्य सामाजिक कर्म अथवा युद्ध के सेनानी गणपति का कर्तव्य (धर्म) नहीं रह गया। वह राजा या शासक वर्ग के लिए एक व्यक्तिगत धर्म ही रह गया। अगर वे इसको बांटते थे तो यह पुण्य कहा जाता था। साधारण लोगों के दिमाग में इस दानम् का संबंध युद्ध के सेनानी के साथ इतनी गहराई से जुड़ा हुआ था कि परवर्ती समय में अगर कोई राजा दान नहीं करता था तो वह बुरा राजा माना जाता था। लेकिन अगर राजा यह दानम् या वितरण न करता तो साधारण लोगों के पास ऐसा कोई अधिकार या शक्ति नहीं थी जिससे वह राजा को वैसा करने के लिए बाध्य कर सके। उस समय तक सामान्य लोगों को निहत्था करके दबा दिया गया था और एक वर्ग पूरे समाज पर शासन करने लगा था। राजाओं और क्षत्रियों के लिए 'दानम्' अब एक ऐच्छिक पुण्यकर्म या उनकी दया मात्र ही रह गया था। उसकी यह पुरानी विशेषता कि यह सब लोगों में बराबर बांटी जायगी लुप्त हो गई थी। दान करने वाले की इच्छा पर यह बात निर्भर थी कि वह दान देने के लिए किस को चुने। शासक वर्ग अपने सहयोगियों को ही चुनता था और उन्हें दान के द्वारा, अन्य लोगों के मूल्य पर धनी और वैभवशाली बना देता था। इसलिए अच्छे और बुरे दान का सवाल भी उठ खड़ा हो गया। और इस बात पर नैतिक और आचारिक दृष्टि से विवाद होने लगा (जैसा गीता में है) कि दान के लिए कौन सा देश, काल, और पात्र उपयुक्त है? (दान का गौरव देश, काल और पात्र द्वारा ही निर्धारित किया जाता था। अगर देश, काल और पात्र गलत हैं तो उस दान के द्वारा पाप और यदि वे ठीक हैं तो पुण्य उत्पन्न होगा।) साम्य संघ के युग में इस प्रकार के विवादों के लिए कोई स्थान नहीं था। साम्य संघ में 'दान' पर पहला अधिकार वृद्ध-विकलांग (लंगड़े, लूले, अंधे आदि) दुर्बल रोगियों का होता था। पर जब निजी संपत्ति और वर्ग-शासन का उदय हुआ तो 'दान' का अर्थ ही उल्टा हो गया। पहले तो दान, समाज के भावी संकट से रक्षा का एक उपाय था। लेकिन बाद में उसके द्वारा 'ब्राह्मण और क्षत्रिय' जो उस समय के शासक-वर्ग थे, उससे धनी और वैभवशाली होने लगे।

गण साम्य संघ द्वारा उत्पादित अथवा युद्ध में जीते गये धन का वितरण करना यज्ञ पद्धति का एक अंग था। इसीलिए यज्ञ और दान को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। **यथार्थ में दान और हवन सामूहिक वितरण की एक पद्धति थी जिसका अस्तित्व यज्ञ के सामूहिक उत्पादन की अवस्था में था।** लेकिन बाद में, निजी संपत्ति और वर्ग-शासन में

दान और हवन सामाजिक उत्पादन को निजी अधिकार में लाने के लिए साधन-मात्र रह गये।

उन सफल युद्धों की यादगार जिनका नेतृत्व वीर और निपुण गणपति करते थे, गणों में इस आधार पर बहुत दिनों तक जीवित रहती थी कि उसमें कितनी वस्तुएं प्राप्त हुई थीं, और कितनी अधिक नारियां गण में युद्ध के सेनानी द्वारा सम्मिलित की गयी थीं? इन यादगारों को दान-सूक्तों में लिखा गया है जो हमारे प्राचीन प्रामाणिक लेखों का एक भाग हैं। इस प्रकार से दान-सूक्तों का जन्म हुआ था।

जब दान साम्य संघ के यज्ञ का एक अंग नहीं रह गया और केवल राजाओं तथा शासक वर्गों की अपनी वस्तु बन गया तब भी 'दान' के विषय में लिखना बंद नहीं हुआ। दान-लेख फिर भी चलते ही रहे। उस काल में दान-लेखों को लिखने वाला पुरोहित था जो राजा के दरबार में रहता हुआ उसका निजी दान-पात्र था लेकिन वेद साहित्य के विद्वानों (आल्डेनबर्ग, विन्टरनीत्स, केतकर आदि) ने यज्ञ की अन्य विधियों की भांति दान के अर्थ और उद्देश्य को पूरी तरह से गलत रूप में समझा है। इसलिए दान-सूक्त और उनके दृष्टा ऋषियों के विषय में भी उनकी गलत धारणा बन गई है। अतएव वे उन ऋषियों को राजाओं द्वारा किराये पर रखे गये व्यक्ति बताते हैं।

वेद में लिखे हुए अपने मूल रूप में दान-सूक्त—बाद के रूप वाले नहीं—सामाजिक उत्पादन और वितरण के अभिन्न अंग थे, अथवा साम्य संघ की ओर से किये हुए सामाजिक कर्तव्य थे। वितरण और स्तुति में पूरा साम्य संघ भाग लेता था। इसलिए उसके दृष्टा पुरोहित ऋषियों को दान-सूक्त लिखने की प्रेरणा मिलती थी। वे उस विजय के विषय में गीत गाते थे। गणपति की वीरता और बुद्धिमत्ता की स्तुति करते थे। और दान के सामूहिक आनन्द को व्यक्त करते थे। यह परम्परा चलती रही और राजा की नई शासन सत्ता का ध्यान उस ओर बाद में गया। तब निजी संपत्ति और दासता का उदय हो चुका था। यज्ञ-पद्धति के मूल-तत्वों का जब अन्त हो गया और शोषकों की शासन सत्ता सिंहासन पर बैठी तब 'दान-सूक्त' एक व्यवस्था के रूप में नहीं रह गया था।

हुतशेष अथवा हवन का जो वितरण गण में होता था उसमें भी उसी के अनुसार परिवर्तन आ गया। पहले ऐसा था कि जो कुछ भोजन उत्पन्न होता, उसको सब लोगों में बिना किसी भेद-भाव के उपभोग के लिए बांटा जाता था। सत्र के नियम इसकी आज्ञा देते थे। उन दिनों में यह प्रश्न ही नहीं उठता था कि कोई अकेला गृहस्थ अपनी अग्नि के ऊपर अपने लिए ही अपना भोजन अलग पकाये। उन दिनों 'अपनत्व' और 'अपनी वस्तु' का अस्तित्व ही नहीं था। जब निजी संपत्ति और गृहस्थियों का उदय हुआ तब भी यज्ञ का यह नियम जीवित रहने की चेष्टा कर रहा था। लेकिन यह नियम केवल उन्हीं लोगों के पास सजीव रहा जो गृहस्थ नहीं

थे और जिनके पास संपत्ति नहीं थी। इस प्रकार के निर्धन संन्यासी व्यक्ति-गत गृहस्थों के चारों ओर घूमा करते थे। इस प्रकार से उस नैतिक आचार का जन्म हुआ जिसके अनुसार जो कोई भी—उन लोगों को ध्यान में बिना रखे हुए जो आसपास रहते हैं और जिनके पास भोजन की सामग्री नहीं है—'केवल अपने लिए भोजन पकाता है वह अन्न न खाकर पाप खाता है'* यह कह कर उसकी निन्दा की जाती थी। लेकिन ऐसी निन्दा पर निजी संपत्ति और उसका वर्ग हंसता था—''यह तो साम्य संघ की नैति-कता के प्रेत के मुख से निकली हुई निन्दा है!!''

जिस प्रकार गण संघ के अथवा गण संघ के सेनानी के 'दान' विषयक अधिकार और कर्तव्य नये वर्ग समाज में आकर क्षत्रिय या राजा को मिल गये थे, उसी प्रकार ब्रह्मन् यानी पूरे साम्य संघ का यह अधि-कार—कि वह 'दान' का वितरण कराये और वह (दान) स्वयं उसको ही मिले (हवन या हुतशेष के विषय में भी उस ब्रह्मन् का यह अधिकार था)—नये वर्ग समाज में शासक वर्ग के दूसरे अंग को यानी ब्राह्मण को मिल गया। ब्राह्मण यज्ञ-विधि को करने और जानने वाले थे। वे वेदों के और उससे उत्पन्न बौद्धिक ज्ञान के उत्तराधिकारी भी थे। उनके हाथों में दान लेने का यह अधिकार आ गया। ब्राह्मणों ने अपने को प्राचीन ब्रह्मन् अथवा संपूर्ण साम्य संघ का उत्तराधिकारी बना लिया। और इस प्रकार पूरे दान या हवन को लेने वाले वे ही बन गये।

इस तरह उत्पादन के संबंधों के अनुरूप साम्य संघ ने अपनी विचार-धारा और उसके रूपों की रचना की थी। लेकिन जब साम्य संघ और प्राकृतिक विधान के अनुरूप संपत्ति या धन छिन्न-भिन्न हो गया तब भी प्राचीन विचारधारा और उसके नैतिक मूल्य अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते रहे। इस विचारधारा को नये वर्गों ने अपने-अपने वर्गों के हित के लिए अपनी शैली में अपना लिया और उनका उपयोग करते रहे। निजी संपत्ति और वर्ग समाज के उदय के साथ आर्यों के समाज ने शीघ्र ही देखा कि आचार-शास्त्र का एक नियम—जो सामूहिकतावादी व्यवस्था में सबके हितों को साधता हुआ भुखमरी से सबकी रक्षा करने की और साम्य संघ के हर सदस्य के बीच बराबर-बराबर बंटवारे की शर्त था—आचार-शास्त्र का वही नियम वर्ग समाज में आकर किस प्रकार से अपने विरोधी रूप में प्रकट हुआ? किस प्रकार से वही नियम उत्पीड़न, एकाधिपत्य, थोड़े से शोषकों के वर्ग के पास संपत्ति का संचय कराने में सहायक हुआ? किस प्रकार से वही नियम बहुसंख्यक श्रमिकों, दुर्बलों, रोगियों, वृद्धों, दरिद्रों और असंख्य गरीब गृहस्थों, नये कलियुग की संस्कृति में दासों और चाकरों के लिए भुख-मरी का कारण बन गया?

* भुंजते ते त्वघं पापाः ये पचन्ति आत्मकारणात्। **गीता**, अध्याय ३-१३।

अध्याय ८

वर्णों, निजी सम्पत्ति और वर्गों का उदय

वेद और महाकाव्यों के साहित्य की सहायता से हमने यह देखा कि किस प्रकार से आर्य-जाति ने समूहगत परिश्रम और जीवन के द्वारा प्रगति करते हुए उत्पादन के नये साधनों का यानी अग्नि और पशु पालन का आविष्कार किया जिनसे उसकी उत्पादन शक्ति के विकास के लिए स्थिरता और प्रगति की स्थापना हो सकी।

लेकिन उत्पादन शक्तियां कभी भी अचल नहीं रह सकतीं। विकास का मार्ग एक अवस्था से दूसरी अवस्था को पार करता हुआ आगे बढ़ता गया। इसका प्रभाव सामाजिक संगठन, मनुष्य के जीवन और उसकी विचार-धारा पर पड़ा।

आर्य लोग अपने भाई सेमिटी, तुरानी तथा अन्य यूथों के साथ-साथ मानव वंश के अन्य लोगों की तुलना में अधिक भाग्यशाली थे, क्योंकि वन्य दशा में ही उन्होंने उन मूल्यवान पशुओं को पा लिया था जिनको पाला जा सकता था और जिनके सहारे जीवन की यात्रा की जा सकती थी। एशियाई प्रदेश के आर्यों के पास यह पशु-धन बहुत अधिक मात्रा में था। अमरीकी प्रदेश के आदिवासियों को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी। पशु पालने और उसके द्वारा संस्कृति का विकास करने का मूल प्रदेश एशिया है। एंगेल्स कहते हैं :

> "एशिया के प्रदेश में उन्होंने ऐसे पशुओं को पाया जिनको पाला जा सकता था, और एक बार पालतू बना लेने के बाद उनकी उत्पत्ति भी की जा सकती थी। जंगली गाय-भैंसों का शिकार करना पड़ता था। लेकिन पालतू गाय-भैंसें वर्ष में एक बार एक-एक बच्चा और साथ में दूध देते थे। आर्य, सेमिटी और संभवत: तुरानी[1] आदि अनेक अत्यन्त समुन्नत कबीलों ने पहले पशुओं को पालने और बाद में उनकी नस्ल बढ़ाने तथा पोषण करने को अपना सबसे मुख्य पेशा बना लिया। अर्ध वन्य अवस्था में रहने वाले दूसरे मानव समूहों से इन चरागाही कबीलों ने अपने को अलग कर लिया। **परिश्रम का यह सबसे पहला और**

[1] ययाति के पांच पुत्रों में से एक 'तुर्वष' भी था—जिसका हवाला पहले दिया जा चुका है। —डांगे

महान शुभ विभाजन था। चरागाही कबीलों ने अन्य अर्ध वन्य अवस्था के लोगों की तुलना में जीवन की आवश्यक वस्तुओं का केवल अधिक उत्पादन ही नहीं वरन् विभिन्न प्रकार की अनेक वस्तुओं का भी उत्पादन किया। वे चरागाही कबीले अन्य लोगों से अच्छे इसी मतलब में नहीं थे कि उनको दूध, दूध से बनायी गयी दूसरी वस्तुएं, तथा बड़ी मात्रा में मांस प्राप्त था, बल्कि उनके पास खालें, ऊन, बकरियों के बाल, और काते और बंटे हुए धागे भी थे जो लगातार कच्चे माल की बढ़ती के साथ-साथ मात्रा में बढ़ रहे थे। इस तरह से पहली बार नियमित रूप से विनिमय सम्भव हो सका था।

''इसके पहले की अवस्थाओं में केवल कभी-कभी विनिमय सम्भव था। औजारों और हथियारों के बारे में खास निपुणता अल्पकालीन श्रम-विभाजन को जन्म देती थी। बहुत सी जगहों पर प्रस्तर युग के अन्तिम भाग के युग में वर्तमान 'पत्थर के औजारों' को बनाने वाले छोटे-छोटे कारखानों के निश्चित अवशेष (खंडहर) मिले हैं। जो कारीगर इन छोटे कारखानों में निपुणता या योग्यता को प्राप्त करते थे वे पूरी जाति के लिए इन औजारों को बनाते थे, जैसे कि आज भी भारत के जाति-गत गण संगठनों में कारीगर काम करते हैं। विकास की इस अवस्था में, कुछ खास मौकों पर गण के भीतर के विनिमय को छोड़ कर और किसी प्रकार के विनिमय की संभावना नहीं थी।''

जिन वैदिक परम्पराओं का वर्णन हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं उनके द्वारा एंगेल्स की यह बात सत्य प्रमाणित हो जाती है। इसी अल्प-कालीन श्रम-विभाजन और यदा-कदा होने वाले विनिमय के कारण वेद साहित्य के बहुत प्राचीन छंदों में 'क्रय-विक्रय' शब्द का प्रयोग किया गया है। परवर्ती ब्राह्मण और स्मृति काल में होने वाला नियमित व्यापार तब शुरू नहीं हुआ था—उसके बीज उस काल में जरूर उग रहे थे। यद्यपि औजार बनाने वाले और सीखे-सिखाये लोग थे और वे पूरे साम्य संघ के लिए काम करते थे, जैसे इन्द्र के वज्र को बनाने वाले कारीगर अथवा अनेक बार स्तुति किये हुए तक्षण या रथकारों का अस्तित्व था, फिर भी आरम्भ में आर्यों के साम्य संघ में कोई ऐसा आन्तरिक श्रम विभाजन नहीं था जो उसके सदस्यों को वर्णों में बांट देता और हर एक वर्ण का काम निश्चित कर देता। वर्णों के निर्माण के पहले उनको अपनी जनसंख्या को नये पशु-धन के आधार पर बढ़ाना, अनेक भांति की वस्तुओं का उत्पादन करना और अपने अन्दर विनिमय का विकास करना आवश्यक था। जब इस अवस्था तक उत्पादन की शक्तियां विकसित हो गयीं तभी वर्णों का अस्तित्व सम्भव हो सका।

जैसा मार्क्स ने कहा है—निवासियों की संख्या और उसकी सघनता समाज में श्रम-विभाजन की आवश्यक शर्तें हैं।[1] एशिया में पशु-पालन

[1] कैपिटल, जिल्द १, पृष्ठ ३४५, एलेन अनविन सं., डोना टोर द्वारा संपादित।

ने—जिसमें घोड़ा भी शामिल था—वह पूर्वस्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसके द्वारा आर्यों के साम्य संघ में श्रम का सामाजिक विभाजन सम्भव हो सका।

प्रत्येक इतिहासकार और वे हिन्दू ऋषि, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि वे वर्णों की उत्पत्ति को अलौकिक शक्ति द्वारा हुआ मानते थे, इस बात को मानते हैं कि आर्यों के समाज में वर्णों का विभाजन एक ऐतिहासिक प्रगति है और विकास की एक विशेष क्रमदशा में ही उसका उदय हुआ था। पहले आर्यों के समाज में वर्ण नहीं थे। फिर तीन वर्णों का जन्म हुआ। उनके जन्म का आधार परिश्रम की योग्यता और उत्पादन के सिवा और कुछ नहीं था। इस बात को सभी हिन्दू-शास्त्रों ने, जहां पर यह विषय आया है, सब स्थानों पर विस्तार के साथ कहा है।[1]

समाज में श्रम का विभाजन आवश्यकता से और उत्पादन शक्तियों के विकसित होने से उत्पन्न होता है। जहां तक वर्णों की उत्पत्ति का विषय है उसके बारे में प्राचीन धार्मिक लेखक कुछ भी कहें, फिर भी वह किसी एक वैदिक ऋषि अथवा देवता की प्रतिभा द्वारा विशेष आविष्कार से उत्पन्न नहीं हुआ था।

श्रम-विभाजन की प्रक्रिया का वर्णन कार्ल मार्क्स ने इस तरह से किया है :

"जिस तरह वस्तु निर्माण (Manufacture) में श्रम का विभाजन दो विरोधी आरम्भ-बिन्दुओं (स्थितियों-अनु.) से विकसित होकर आगे बढ़ता है, उसी तरह एक समाज में श्रम-विभाजन और उसके साथ-

[1] भारद्वाज ने भृगु से पूछा कि एक वर्ण और दूसरे वर्ण में क्या अन्तर है, क्योंकि रंगों के अन्तर से तो उनमें भेद नहीं दिखाई देता। अगर रंगों को ही वर्णों का सूचक या दृष्टा मान लिया जाय तब तो सब वर्ण मिले-जुले मालूम होते हैं। काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, सुख, मेहनत आदि एक दूसरे को पृथक्-पृथक् नहीं करते। तब फिर वर्ण-भेद कैसे संभव हुआ था? भृगु ने उत्तर दिया—पहले सब ब्रह्मन् था पर बाद में ब्राह्मण अपने कर्म और अधिकार के कारण उससे बाहर निकल कर एक वर्ण हो गये।

भारद्वाज उवाच—

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभज्यते
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्ण संकरः।।६
कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः।
सर्वेषां न प्रभवति कस्माद्वर्णो विभज्यते।। ७
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभज्यते।।८

भृगुरुवाच—

न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टा हि कर्मभिर्वर्णतां गताः।।१०। शान्ति पर्व, १८६।

इस विषय में गीता भी यही कहती है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता अ. ४-१३।

साथ व्यक्तियों की किसी एक खास काम या धंधे में बंधने की प्रवृत्ति भी विकसित होती और बढ़ती है। एक कबीले के अन्दर प्राकृतिक श्रम-विभाजन उत्पन्न हो जाता है। इसका आधार लिंग (नर और नारी—अनु.) और आयु (तरुण, वृद्ध आदि—अनु.) होते हैं। इसलिए इस श्रम-विभाजन का आधार भौतिक शरीर अथवा दैहिक होता है। जाति के विस्तार, जनसंख्या की बढ़ती और खास तौर से अलग-अलग कबीलों के संघर्ष तथा एक-दूसरे को हरा कर पराधीन बनाने के साथ-साथ इस श्रम-विभाजन का भी विस्तार हुआ करता है। दूसरी ओर, उत्पादन का विनिमय तब शुरू होता है जब अलग-अलग कुटुम्ब, कबीले और जातियां परस्पर संपर्क में आते हैं, क्योंकि संस्कृति की प्रथम अवस्था में व्यक्ति स्वाधीन इकाई नहीं था, केवल कबीले ही एक-दूसरे से स्वाधीन इकाई हो कर मिल-जुल सकते थे। अलग-अलग जातियों के पास अपने प्राकृतिक वातावरण के अनुसार उत्पादन के साधन और जीवन चलाने की विभिन्न वस्तुएं थीं। इसलिए उनकी उत्पादन-पद्धति, जीवन प्रणाली और उपज में भी भेद होता था। यह भेद अपने आप उत्पन्न हुआ था। इसी भेद के कारण जब अलग-अलग कबीले एक-दूसरे के सम्पर्क में आते थे तो विनिमय आवश्यक हो जाता था। धीरे-धीरे विनिमय के लिए वस्तुओं का बनाना शुरू हो गया। उत्पादन के क्षेत्र में विनिमय ने किसी भेद को जन्म नहीं दिया, बल्कि जो भेद पहले से वर्तमान था उसको संबंधित करने की चेष्टा की। इस विनिमय ने उन कबीलों को एक हद तक एक बड़े समाज की सामूहिक-उत्पादन शाखाओं में बदल दिया जो एक-दूसरे पर आश्रित रहने लगे। बाद की स्थिति में श्रम का सामाजिक विभाजन उन उत्पादन क्षेत्रों के बीच विनिमय से उत्पन्न होता है जो मूल रूप में भिन्न और आपस में स्वाधीन होते थे। पहली स्थिति में जहां पर श्रम-विभाजन दैहिक (भौतिक-शरीर) आरम्भ-बिन्दु से उत्पन्न हुआ था, वहां पर क्रय-वस्तुओं का बाहरी वस्तुओं के विनिमय के विशेष कारण के आधार पर पूर्ण समष्टि का एक अंग समुन्नत होकर पृथक हो जाता था, और फिर वह अंग अपने को उस सीमा तक पृथक रखता था जहां पर अनेक भांति के कामों को एक सूत्र में बांधने वाला संबंध केवल उत्पादन की क्रय-वस्तुओं का विनिमय होता था। एक स्थिति में श्रम-विभाजन उसको पराधीन बनाता था जो पहले स्वाधीन था। दूसरी स्थिति में वह उसको स्वाधीन बनाता था जो पहले पराधीन था।''[1]

कार्ल मार्क्स की रचना से यह लम्बा उद्धरण इस बात को स्पष्ट करता है कि आर्य-जातियों के विकास की प्रथम अवस्था में क्या हुआ होगा? उत्पादन, काम और विशिष्ट परिश्रम की अनेकता के कारण आर्यों के

[1] **कैपिटल**, जिल्द १, पृष्ठ ३४४, एलेन अनविन संस्करण, डोना टोर द्वारा संपादित।

साम्य संघ के अन्दर श्रम विभाजन शुरू हुआ। पूरे साम्य संघ के सदस्यों में भेद पड़ने लगा और वे अलग-अलग कामों में लग कर वर्णों में विभक्त होने लगे। लेकिन पहली अवस्था में व्यक्तिगत संपत्ति के न होने के कारण और उत्पादन के मुख्य साधनों पर सामूहिक अधिकार होने के कारण परवर्ती समय की भांति वर्णों में एक-दूसरे के प्रति विरोध या शत्रुता नहीं उत्पन्न हो सकी।

आर्यों के साम्य संघ में सबसे पहले श्रम का विभाजन तब शुरू हुआ जब यज्ञ विधि में विभिन्न ऋत्विजों को, जो पहले एक थे, सत्रह विभागों में बांटा गया। ऋत्विजों के ये सत्रह विभाग यज्ञ-परिश्रम की अनेक शाखाओं का संचालन करते थे। लेकिन यह विभाजन अल्प समय के लिए होता था और इसका आधार विनिमय नहीं था, इसलिए आरम्भ में वह विभाजन वर्णों का निर्माण नहीं कर सका।

परन्तु जब गण समाज का विकास हुआ और आर्यों के विभिन्न गणों (वे गण जो अपने प्राचीन गणों से तथा अन्य जातियों से उत्पन्न हो कर फैले थे) में सम्पर्क और संघर्ष होने लगे तब गणों के अतिरिक्त उत्पादन का विनिमय प्रारंभ हो गया। अलग-अलग गणों में उत्पन्न विभिन्न वस्तुओं का विनिमय इस प्रकार से संभव हुआ। इस विनिमय की मात्रा जितनी बढ़ती गयी और वस्तुओं की मांग में भी वृद्धि होने लगी, उतना ही प्रत्येक गण के अपने भीतरी उत्पादन में उसका प्रभाव पड़ने लगा। अन्य गणों में जिस वस्तु की मांग अधिक होती थी उस वस्तु के उत्पादन पर उसका प्रभाव मुख्य रूप से पड़ता था। इस प्रकार से उत्पादन की विभिन्नता के द्वारा आन्तरिक रूप से, और उन उत्पादनों के विनिमय द्वारा बाह्य रूप से समाज में श्रम-विभाजन स्थिर होने लगा और उसने आर्यों के साम्य संघ में वर्णों को जन्म दिया।

"परन्तु श्रम विभाजन धीरे-धीरे गुप्त रूप से उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करता है। यह उत्पादन और स्वाधिकार की सामूहिकता को नष्ट कर देता है। श्रम-विभाजन के द्वारा उत्पादन पर व्यक्ति का अधिकार एक सामान्य नियम के रूप में बदल जाता है। और इससे व्यक्तियों के बीच विनिमय का जन्म होता है" (एंगेल्स)। इस अवस्था पर एक बार पहुंचते ही निजी संपत्ति और वर्गों की उत्पत्ति हो जाती है। वर्ण अपने को आत्मविरोधी वर्गों में बांट लेते हैं, और गृह-युद्ध अथवा वर्ग-युद्ध का आरंभ हो जाता है। आदिम साम्य संघ सदा के लिए टूट जाता है।

जिस ऐतिहासिक विकास का वर्णन हमने ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से किया है क्या उसका समर्थन हिन्दू साहित्य की वैदिक और महाकाव्यों की परम्परा से होता है? यद्यपि उस साहित्य से यह आशा नहीं की जा सकती कि उपर्युक्त शैली में वे इन वस्तुओं की उत्पत्ति के विषय में बतायेंगे, फिर भी अपनी प्राचीन शैली में क्या हमें वे ऐसा कोई आधार देते हैं जिससे हम उपयुक्त निष्कर्षों पर पहुंच सकें? हां ऐसा आधार वे देते हैं।

सदा की तरह हमें इन वस्तुओं की उत्पत्ति का ज्ञान वैदिक लेखकों द्वारा लिखी गयी सृष्टि विषयक कथाओं से होता है। उस समाज के सामने जब कोई नयी समस्या आ खड़ी होती थी तो उसको वे सृष्टि की समस्या समझ कर ग्रहण करते थे—वह सृष्टि जिसकी रचना ब्रह्मन् या प्रजापति ने की थी। उस समाज में वर्ण उत्पत्ति की समस्या, जहां पर पहले वर्ण और श्रम-विभाजन नहीं थे, सृष्टि विज्ञान का एक अंश बना कर उपस्थित की जाती थी।

आर्यों के समाज में पहले तीन वर्ण थे, बाद में चार हो गये। इसलिए सृष्टि की कथाओं में कहीं तीन वर्णों का और कहीं चार वर्णों का वर्णन मिलता है। परन्तु यह बात सभी मानते हैं कि पहले वर्ण नहीं थे अथवा केवल एक वर्ण ही था। उसके बाद तीन वर्ण बने और अन्त में चार वर्णों की रचना हुई। **चौथा वर्ण वास्तविक वर्ण नहीं था जिसकी उत्पत्ति समाज के भीतर से हुई हो।**

शतपथ ब्राह्मण (२; १-४-११) में लिखा है कि किस प्रजापति अथवा मनुष्यों के पिता ने इसको जन्म दिया था। हम उन प्रजापतियों को विभिन्न त्रयी (तीन वस्तुओं के समूह को एक साथ) को जन्म देते हुए देखते हैं। ये त्रयी पहले वर्तमान नहीं थीं। पहली त्रयी जिसको प्रजापति ने जन्म दिया—भू, भुवः और स्वः थीं। दूसरी त्रयी भूमि, आकाश और उन दोनों के बीच वातावरण की त्रयी थी। तीसरी ब्रह्म, क्षत्र और विश—अथवा तीन वर्णों की त्रयी थी। चौथी प्रजापति (आत्मा), प्रजा (मनुष्य लोग) और पशु की त्रयी थी। त्रयी की इस सूची में वेदों की त्रयी का नाम छूट गया है। इसलिए तैत्तरीय ब्राह्मण में (३; १२-९-१२) दूसरी तरह से सम्पूर्ण सूची उपस्थित की गयी है। उस योजना के अनुसार सबसे पहले यह सब ब्रह्मन् था जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई। उसके बाद तैत्तरीय ब्राह्मण के अनुसार प्रत्येक वेद ने एक-एक वर्ण को जन्म दिया। इसका क्रम इस प्रकार से है कि सबसे प्राचीन ऋगवेद ने वैश्य वर्ण की उत्पत्ति की, सामवेद ने ब्राह्मण और यजुर्वेद ने क्षत्रियों की उत्पत्ति की। इन दोनों लेखकों ने चौथे वर्ण शूद्र का नाम नहीं लिया है। यजुर्वेद (७; १-१-४) की तैत्तरीय संहिता में इस विभाजन का अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रजापति को सृष्टि करने की इच्छा हुई। तब उनके मुख, उनके वक्ष, उनके हाथ और पैरों से चार वर्ण उत्पन्न हुए। इस वर्णन की विशेषता इसमें है कि प्रत्येक वर्ण—एक देवता, एक छन्द और एक पशु के साथ जन्म लेता है। हम यहां पर पूरा वर्णन देने की कोशिश नहीं करेंगे। हम केवल एक बात की ओर ध्यान देंगे कि प्रत्येक पहले तीन वर्णों को तो एक-एक देवता मिला है, पर केवल शूद्र—जो चौथा वर्ण है—के पास कोई देवता नहीं है। लेकिन उसके पास छन्द, पशु और स्तोम हैं जैसे कि हर वर्ण के पास हैं। प्रत्येक वर्ण को ये पशु दिये गये थे—ब्राह्मणों को अजस् (बकरी), क्षत्रियों को भेड़ (अविश), वैश्यों को गाय और शूद्रों को घोड़ा या अश्व।

इन सब कथाओं में मुख्य समानता क्या है? यद्यपि आर्य इतिहासकार मनुष्य, पशु और विश्व के संबंध को स्पष्टतया नहीं समझते, फिर भी उन्होंने हमें यह बताया है कि सबसे पहले एक ब्रह्मन् था, उसी से बाद में तीन या चार वर्ण उत्पन्न हुए। पहले तीन वर्ण एक ही सजातीय समाज गण-गोत्रों से उत्पन्न हुए थे। इसीलिए उनके पास देवता थे और चौथे वर्ण के पास कोई देवता नहीं था, क्योंकि वह युद्ध में जीता गया गुलाम था। मनुष्य और वर्णों की उन्नति के साथ-साथ पशु और धन की भी वृद्धि हुई। ज्यों-ज्यों वेद विभक्त होते गये और यज्ञ-उत्पादन विभिन्न दशाओं में विकसित होता गया, वैसे-वैसे वर्ण भी विभक्त और उन्नत होते गये। उस युग के लेखक मनुष्य और उसके विश्व के विकास को समझाने के लिए, एक प्रमाण खोजने के लिए अपार परिश्रम करते हैं। यद्यपि इतिहास के वैज्ञानिक संबंधों के यथार्थ को वे समझ नहीं सकते, फिर भी उस यथार्थ अवस्था की आवश्यक सामग्री वे अपने ग्रंथों में लिख गये हैं। यह इसलिए संभव था कि लेखक जो कुछ देखते थे उसी को लिखते थे।

शतपथ ब्राह्मण में (१४; ४-२-२३) एक बात और भी स्पष्टता से कही गयी है। शतपथ ब्राह्मण का यह कथन है कि यह ब्रह्मन् आरंभ में एक और अखंड था। यह बात यहां पर याद रखनी चाहिए कि परवर्ती उपनिषदों के दर्शन में वर्णित ब्रह्मन् से यह ब्रह्मन् भिन्न है। परन्तु उसकी यह अखण्डता उसको उन्नति, प्रगति और विकास की ओर आगे नहीं बढ़ने देती थी। इसलिए इसने अपने को विभक्त करना आरंभ किया और अपने को नये-नये रूपों में प्रकट करने लगा जैसे क्षत्र और उसके देवता इन्द्र और वरुण आदि।* फिर भी उसकी प्रगति और उन्नति नहीं हुई तब उसने विशा रूप को जन्म दिया जिसके देवता गण-देवता के रूपों में थे।

आर्य गणों के विकास को इस प्रकार से वेद की परम्परा वर्णन करती है—उत्पादन साधनों की वृद्धि के साथ-साथ पशु, धन, और जनसंख्या में वृद्धि हुई, तब इन साम्य-संघों के उत्पादनों की विभिन्नता और उनके दूसरे गणों के बीच वर्तमान परस्पर-संबंधों ने, ऐतिहासिक प्रगति के नियमानुसार समाज में श्रम-विभाजन को आवश्यक बना दिया अर्थात् वर्ण-विभाजन की स्थापना उनके पृथक्-पृथक् कर्मों के साथ आवश्यक हो गयी। जो पहले एक अखंड साम्य-संघ था, जिसके सब सदस्य एक दूसरे पर आश्रित और संबंधित होते थे उसके सदस्य उसी समाज के स्वतंत्र अंगों के रूप में वर्णों में विभाजित हो गये, और वे स्वतंत्र गण जो पहले असंबद्ध और छितराये हुए थे वे एकता के नीचे संबद्ध हुए तथा एक दूसरे पर आश्रित होकर विकासशील संसार में रहने लगे। जैसा कार्ल मार्क्स

* ब्रह्म वै इदम् अग्र आसीत् एकम् एवं। तद्त् एकम् सन्नव्य भवत्।
तत् श्रयोरु म् अन्य सृजत् क्षत्रम् यानि एतानि देवत्रा क्षत्राणि इंद्रो
वरुण स न एव व्यभवत् स विशम् असृजत्।

ने कहा था : इन सब में सबसे अधिक शक्तिशाली तत्व जीवन की आवश्यकताओं का उत्पादन, वितरण और विनिमय था, इसी तत्व ने पहले ब्रह्मन् साम्य संघ का निर्माण किया था, और इसी ने परवर्ती नूतन विकासशील वर्ण-समाज को जन्म दिया।

सामाजिक श्रम-विभाजन और विनिमय दोनों में परस्पर प्रतिक्रिया हुई और दोनों ने मिल कर उत्पादन की वृद्धि की। विकास की इस अवस्था में उत्पादन के साधनों को उन्नत करने के लिए दो महत्वशील सफलताएं प्राप्त की गयीं। एक तो खेती का आविष्कार किया गया और दूसरे कच्ची धातुओं को पिघलाने तथा बुनाई[1] के काम का आविष्कार किया गया। काले सागर के मैदानों और तुरान के पठारों की जलवायु में "चरागाह का जीवन व्यतीत करना असंभव होता अगर लम्बे और कठोर जाड़े के दिनों के लिए चारा जमा न किया जा सकता। इसलिए यह जरूरी हो गया कि जमीन के ऊपर घास और अन्न को उपजाया जाय... परन्तु जैसे ही एक बार पशु के लिए अन्न उपजने लगा वैसे ही मनुष्य के लिए भोजन भी उत्पन्न होने लगा।"[2] साम्य संघ के हाथों में खेती की जमीन उत्पादन का एक नया साधन बन गयी।

धातु पिघलाने का काम पहले तांबा, टिन और उनके मिश्रण कांसे (Bronze) को ही गलाने तक सीमित था। इन्हीं धातुओं से काम के औजार या हथियार बनाये जाते थे, यद्यपि वे औजार पत्थरों के औजारों की जगह नहीं ले सके थे, क्योंकि बिना लोहे को गलाये हुए पत्थरों के औजारों को हटाया नहीं जा सकता था। सोने और चांदी का प्रयोग गहनों के रूप में होना शुरू हो गया था लेकिन उनको मुद्रा में ढाला नहीं गया था। खेती के साथ-साथ घरेलू उद्योग धंधे (दस्तकारी) भी शुरू हो गये थे। लेकिन एक ही व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं था कि वह इन अलग-अलग कामों को एक साथ कर सके—**इसलिए सामाजिक परिश्रम का एक दूसरा महत्वपूर्ण श्रम-विभाजन प्रकट हो गया—खेती के काम से दस्तकारी का काम अलग हो गया।** उत्पादन का विभाजन जब इन दोनों प्रमुख शाखाओं में—खेती और दस्तकारी में—बंट गया तो सीधे रूप में ऐसी वस्तुओं का उत्पादन होने लगा जो विनिमय के लिए होती थीं। विनिमय के लिए वस्तुओं का उत्पादन करना 'क्रय-वस्तु' (Commodity) उत्पादन है। विनिमय के साथ व्यापार का उदय हुआ और व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ बहुमूल्य धातुओं और सामान्य मुद्रा-वस्तुओं (Money Commodity) का महत्व बढ़ने लगा। जबकि प्राचीन काल में सबसे अधिक सर्वउपयोगी वस्तु 'पशु' ही मुद्रा के रूप में प्रचलित था, अब उसका स्थान बहुमूल्य धातुओं ने ले लिया।

1 इसी अवस्था में ऋग्वेद में वर्णित अयस्कर (धातु गलाने वाले) और तन्तुवाय (बुनाई का काम करने वाले) उत्पन्न हुए थे।

2 एंगेल्स—**परिवार की उत्पत्ति**।

इन सब बातों का असर गण साम्य संघों के सदस्यों के परस्पर संबंधों पर, उनकी संपत्ति और उत्पादन संबंधों पर क्या पड़ा?

उत्पादन की नयी शक्तियों ने साम्य संघ में, उसके सामाजिक या साम्पत्तिक सम्बंधों में एक क्रान्ति ला दी थी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि वर्णों के रूप में प्रकट होकर सामाजिक श्रम-विभाजन ने उत्पादन की सामूहिकता का नाश कर दिया था। पहले सार्वजनिक यज्ञ की पद्धति के अनुसार सार्वजनिक अग्नि के चारों ओर उत्पादन और उपभोग किया जाता था। उसके स्थान पर अब अलग-अलग गृहस्थियों और गृह-अग्नियों का निर्माण होने लगा। साम्य संघ की महाग्नि, जिसे त्रेताग्नि भी कहते हैं, के साथ-साथ व्यक्तिगत गृह-अग्नियों[1] का भी उदय होने लगा। जब उत्पादन की सामूहिकता नष्ट हो गयी तो उसका सामूहिक उपभोग और सामूहिक नियंत्रण भी नष्ट हो गया। व्यक्तिगत परिश्रम, व्यक्तिगत नियंत्रण और व्यक्तिगत विनिमय का प्रभुत्व समाज पर होने लगा। दूसरे शब्दों में साम्य संघ के गर्भ में निजी संपत्ति का अस्तित्व हो गया था।

व्यक्तिगत उत्पादन और नियंत्रण के द्वारा संपत्ति की विषमता उत्पन्न होती है। इसका अर्थ यह है कि साम्य संघ दो वर्गों को जन्म देता है। एक वर्ग धनी और दूसरा निर्धन, एक शोषक और दूसरा शोषित होता है और जल्दी ही ये दो वर्ग स्वामी और दास वर्गों में परिणत हो जाते हैं।

सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि यह सम्पत्ति किस स्थान पर केन्द्रित होती है और अपना प्रभुत्व स्थापित करती है?

उन्नतिशील साम्य संघ अपने आन्तरिक श्रम-विभाजन में इस बात के लिए बाध्य हो जाता था कि युद्ध परिचालन और सुरक्षा के काम को किन्हीं विशेष चुने हुए व्यक्तियों और अधिकारियों के हाथों में सौंप दे। ये ही युद्ध के परिचालक और सुरक्षा के अधिकारी क्षत्र हो गये। उसी तरह से ऋतुओं की प्रकृति का निरीक्षण, बाढ और नदियों आदि की गति का ज्ञान—जिससे सामाजिक-आर्थिक चेष्टाओं को गति दी जा सके—कुछ लोगों पर छोड़ दिया गया जो बाद में ब्राह्मण कहलाये, और बाकी सब विश या साधारण जनता थे। इन लोगों की संख्या सबसे अधिक थी।* ये पशुपालन करते थे, उनकी नस्ल बढ़ाते थे, दस्तकारी और खेती का काम करते थे। पर अभी तक वे एक थे और एक ही साम्य संघ में

[1] इसी अवस्था से अथर्ववेद के गृह्य-सूत्रों और गृह्य-कर्मों का आरम्भ होता है क्योंकि इसका उदय पुरातन देवों द्वारा दी गयी सामूहिक सम्पत्ति और तीन वेदों की त्रेताग्नि के खण्डित और पतित हो जाने के बाद निजी सम्पत्ति के आधार पर हुआ था, इसलिए अथर्ववेद को (साथ में गृह्य को भी) उतनी महत्वपूर्ण धार्मिक प्रतिष्ठा नहीं दी गयी जितनी कि अन्य तीन वेदों को मिली थी। त्रयी और त्रिविद्या की प्रतिष्ठा विशेष रूप से की गयी थी।

* ते भूयांसः। तैत्ति. संहिता ७-१-१-४।

निवास करते थे। लेकिन वे उस अवस्था की ओर तेजी से बढ़ रहे थे जहां विस्फोट द्वारा साम्य संघ टूटने जा रहा था। श्रम-विभाजन और विनिमय के कारण जैसे-जैसे निजी संपत्ति के एकत्रीकरण द्वारा शोषक और शोषित वर्गों का विरोध पैदा होता जा रहा था, वैसे-वैसे विस्फोट की अवस्था परिपक्व हो रही थी।

गण-युद्धों का परिचालन और वस्तुओं के विनिमय का काम पहले साम्य संघ के गणपति, बृहस्पति अथवा प्रजापति करते थे। ये लोग ब्रह्म अथवा क्षत्र वर्ण के होते थे। पकड़े हुए युद्ध-बंदी, पशु और धन पहले उनके पास आते थे और उनके द्वारा साम्य संघ के पास पहुंचते थे। इसलिए व्यापार और धन की उन्नति उन्हीं के द्वारा हो रही थी।

धीरे-धीरे जब सामूहिकता टूटने लगी तब विनिमय के क्षेत्रों में धन-संपत्ति एकत्र होकर क्षत्र और ब्रह्म के अथवा प्रजापतियों या गणपतियों के हाथों में संचित होने लगी। समाज वर्गों में बंट गया था। एक ओर धन संपत्ति वाले क्षत्र और ब्रह्म थे और दूसरी ओर परिश्रम करने वाले विश् तथा अन्य लोग हो गये थे। समाज अमीरों और गरीबों में बंट गया। व्यापार के द्वारा जब बहुमूल्य धातुओं ने (हिरण्य-सोना) धन का रूप लिया तो सम्पत्ति को एकत्र करना और आसान हो गया। क्षत्र और ब्रह्मन पशु, अन्न और धन के दर्पयुक्त अधिकारी बन गये—बाद में दासों पर भी उनका अधिकार होने लगा।

फिर भी यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य है। यह नहीं माना जा सकता कि धनी शोषक और दरिद्र शोषित का भेद ब्रह्म-क्षत्र और विश्-शूद्र वर्ण के भेद में पूरी तरह से व्याप्त था, यद्यपि ब्रह्मन-क्षत्र वर्ण के अधिकतर लोग शोषक वर्ग में सम्मिलित हो गये थे, तब भी ब्रह्मन-क्षत्र के व्यक्ति दरिद्र वैश्यों के समान सम्पत्तिहीन भी थे।

शूद्र वर्ण अथवा दास-प्रथा के शुरू होते ही तीनों वर्णों का उदय हुआ। इसका क्या कारण था? इसका कारण यह था कि जिस प्रगति द्वारा दासता का जन्म हुआ था उसी से वर्णों की भी उत्पत्ति हुई थी। परिश्रम की विभिन्नता तथा उसकी उत्पादन-शक्ति में वृद्धि, विनिमय और निजी सम्पत्ति ने दोनों को जन्म दिया था। ''जैसे ही मनुष्य ने वस्तुओं का विनिमय शुरू किया उसका स्वयं विनिमय होने लगा।'' (एंगेल्स)

एंगेल्स कहते हैं :

''पशुपालन, खेती, घरेलू दस्तकारी आदि विभागों में उत्पादन की वृद्धि ने मानव की परिश्रम-शक्ति को इस योग्य बना दिया कि वह अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन कर सके। साथ ही साथ, गण संघ, परिवार में बंटी हुई जाति या एक परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रतिदिन के परिश्रम की मात्रा बढ़ गयी। यह आवश्यक हो गया कि नयी परिश्रम-शक्तियों को काम में लगाया जाय। परिश्रम की ये शक्तियां युद्धों से प्राप्त होती थीं। युद्ध के

बन्दियों को दासों में परिणत किया जाता था। अपने परिश्रम की उत्पादन शक्ति के साथ-साथ धन की वृद्धि तथा उत्पादन क्षेत्र के विस्तार ने जो महान सामाजिक श्रम-विभाजन उस समय की सामान्य ऐतिहासिक अवस्था में किया, उसके साथ दासता का आना अनिवार्य था। सामाजिक श्रम के प्रथम बड़े विभाजन से प्रथम बार समाज दो बड़े वर्गों—स्वामी और दास, शोषक और शोषित—में बंट गया।''

यह हम देख चुके हैं कि गण साम्य संघ में अथवा उस प्राचीन ब्रह्मन में जहां पर यज्ञ-विधि के अनुसार उत्पादन होता था, दास या शूद्र के लिए कोई स्थान नहीं था। इसलिए गणों में जब परस्पर युद्ध होता था तो अधिकतर पकड़े हुए बन्दियों को पुरुषमेध के अनुसार मार डाला जाता था। लेकिन जब मनुष्य की श्रम शक्ति, उत्पादन के नये साधनों और उत्पादक शक्तियों के द्वारा अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन करने लगी और स्वयं का भी निर्माण करने लगी तब यह संभव हो गया कि युद्ध-बन्दियों का उपयोग बिना उनकी हत्या किये हुए किया जाय। उनसे परिश्रम लिया जा सकता था। उनके अतिरिक्त उत्पादन से उनके स्वामी अपना जीवन निर्वाह कर सकते थे। दास प्रथा के आते ही सत्र—जो जनमेजय द्वारा किये गये सर्प सत्र की भांति युद्ध बन्दियों की हत्या कर सकता था—यज्ञ-पद्धति की ऐतिहासिक अवस्था से एकदम लुप्त हो गया। अब आर्यों के सामाजिक संगठन में पराजितों को चौथे वर्ण या शूद्र के रूप में स्थान मिलने लगा। उसको आर्यों के समाज की सेवा का काम सौंपा गया। आर्यों के समाज ने अपने लिए स्वतंत्रता और अनार्यों के स्वामी होने के पद को सुरक्षित रखा। ये अनार्य या तो युद्ध के बन्दी होते थे या और किसी प्रकार से पकड़ लिए जाते थे। इन अनार्यों को बेचा जा सकता था, किराये पर लिया जा सकता था अथवा मार डाला जा सकता था। उन्हें किसी भी संपत्ति पर अधिकार नहीं था, उनका कोई परिवार नहीं हो सकता था और न उनका कोई देवता ही था। यद्यपि सृष्टि की योजना में प्रत्येक वर्ण की भांति उनको भी एक पशु—घोड़ा—दिया गया था जो युद्ध स्थल में सबसे अधिक महत्वशील पशु था, पर इसका अर्थ केवल इतना ही है कि युद्ध के सेनानी, गण के अधिपति अथवा क्षत्र वर्ण के लिए वे अश्व के ही समान थे। बाद में वे गण के सदस्यों के हाथों में बेच दिये जाते थे जो उनसे परिश्रम लेते थे।*

अपने आरम्भ काल में दासता, पितृसत्ता के नीचे काम करती थी। यह पितृसत्ता परिवार-गत जाति से संबद्ध होती थी। इस पितृसत्ता के कुटुम्ब में दास लोग नर और नारियों के साथ, तथा पुत्र और पुत्रियों के साथ

* तस्मात् तौ भूतसंक्रामिणौ अश्वाश्च शूद्राश्च
तस्मात् शूद्रो यज्ञे अनवक्लृप्तो न हि देवताः अन्घ सृज्यन्त।
तस्मात् पादौ उपजीवतः। तैत्ति० सं० ७-१-१-४।

गृहपति की देख-रेख में काम करते थे। पर विनिमय की वृद्धि के साथ जब व्यापार और विनिमय की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ने लगा तब दासों से बहुत कठोर परिश्रम लिया जाने लगा, उनको झुंडों में जमा कर उनसे दस्तकारी, खेती और खनिज पदार्थ निकालने का काम लिया जाता था। उस समय दासता का पितृसत्तात्मक रूप खत्म होने लगा और दासों के लिए दासता एक दारुण अत्याचार के रूप में प्रकट होने लगी। दासों के स्वामियों में धन एकत्र करने का लोभ तीव्र होता गया। ऋगवेद के युग में दासता इस व्यापारिक अवस्था तक नहीं पहुंच पायी थी, लेकिन इस अवस्था तक शीघ्र ही पहुंचने वाली थी। ऋगवेद के लेखक अपने इस आविष्कार पर अत्यंत प्रसन्न दिखायी देते हैं। दासों के द्वारा स्वामियों को जो आनन्द मिलता था उसका बड़े उत्साह के साथ वे गुणगान करते थे। आज वे ही गीत ''ईश्वर से दी हुई'' हिन्दुओं की वैदिक परम्परा का एक अंग हैं। इस व्यवस्था की अलौकिक 'कृपा या करुणा', जिसको दासों का अधिकार माना जा सकता है, यह थी कि पहले की व्यवस्था में युद्ध के बन्दी पुरुषमेध की अग्नि में मार डाले जाते थे जबकि अब उनको मारा नहीं जाता था और उनके जीवन को द्विज आर्यों के शोषण की धीमी आंच में जलने के लिए और 'पुरुष-सूक्त' को गाने की प्रेरणा देने के लिए छोड़ दिया जाता था। स्वतंत्रता से लेकर पराजय और शूद्र-दासता तक, सम्पूर्ण नाश से लेकर शोषण तक—क्या यह उस अवस्था में समाज के विकास में एक प्रगतिशील चरण नहीं था? दास को अपना जीवन मिल जाता था, आर्यों को अपना धन मिल जाता था। इसी के आधार पर दोनों और अच्छे जीवन के लिए आगे बढ़ते थे। इसका निर्माण उत्पादन शक्तियों को और भी बढ़ावा देता था। उत्पादन की ये शक्तियां केवल दासता के द्वारा ही बढ़ सकती थीं। इस शैली में आर्य-जाति के लोग अपनी बात नहीं कहते थे। ''महान ब्रह्मन ने शूद्र को केवल दासता करने के लिए उत्पन्न किया। और यह दासता स्वाधीन आर्यों के तीन वर्णों की गुलामी थी। ऐसा करने के बाद ब्रह्मन उन्नत होता गया—'' इस प्रकार से वे पूरी बात को कहते थे। पर अब वह पुराना आनन्दमय ब्रह्मन नहीं था।

पुरातन यज्ञ-पुरुष के महान प्राचीन ब्रह्मन ने दासता, तीन वर्ण और शूद्र को वर्ग-विभेद तथा उसके द्वारा उत्पन्न द्वापर युग के वर्ग संघर्ष को जन्म दिया। यह उसका अन्तिम कृत्य था। एक समय जब अग्नि और पशु का आविष्कार हुआ था तो मरणासन्न ब्रह्मन-प्रजापति जीवित हो उठा था और यज्ञ द्वारा उसकी वृद्धि होने लगी थी। पर अब खेती, दस्तकारी, विनिमय, निजी संपत्ति और वर्णों की उत्पत्ति के कारण उन घटनाओं का एक क्रम चला जिसमें वर्ग संघर्ष और वर्ग-शासन उत्पन्न हुआ और उसने ब्रह्मन को सदा के लिए मार डाला। ब्रह्मन की इस मृत्यु पर **महाभारत** में अनेक शब्दों में करुण विलाप किया गया है—''ब्रह्मननाश है।'' आगे हम देखेंगे कि यह कैसे संभव हुआ?

अध्याय ६

मरणासन्न साम्य संघ का आर्त्तनाद और उठती हुई निजी सम्पत्ति के विरोध में उसका संघर्ष

वर्णों के रूप में सामाजिक श्रम का विभाजन एक आवश्यकता थी जो उत्पादनों की विभिन्नता के विकास, उत्पादन, तथा विभिन्न कार्यों से उत्पन्न हुई थी। जब तक समाज के ऊपर विनिमय के लिए उत्पादन को बढ़ाने की पागल दौड़, मुनाफे का लोभ और चीजों को सस्ती करने की प्रतियोगिता नहीं छा जाती, तब तक सामाजिक-विभाजन उत्पादन तथा उसके गुणों की उपयोगिता को बढ़ाया करता है। ''उत्पादन के सामाजिक विभागों को अलग-अलग कर देने से वस्तुएं अच्छी तरह से बनायी जाती हैं तथा व्यक्ति अपने सम्मान और प्रतिभा के अनुसार उपयुक्त क्षेत्र चुन सकते हैं। बिना किसी नियंत्रण के किसी खास फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए श्रम के विभाजन से उत्पादन और उत्पादक दोनों की भलाई होती थी।''[1] प्राचीन वैदिक समाज की वर्ण-व्यवस्था और जहां तक जातियां पेशों से मेल खाती थीं वहां तक परवर्ती समय की जाति-व्यवस्था की स्थिरता की नींव इसी बात पर रखी हुई थी।

लेकिन इस प्रकार का सामाजिक श्रम-विभाजन पहले से एक ऐसे समाज के अस्तित्व को मानता है जिसमें उत्पादन के साधन पिछड़े हुए हों और जिसका आधार खेती तथा दस्तकारी हो जैसा कि हम भारत के मध्य-कालीन और प्राचीन समाज में पाते हैं। जिस क्षण उत्पादन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगते हैं और उनके स्थान पर आधुनिक साधनों का प्रयोग शुरू हो जाता है उसी क्षण पुराना सामाजिक संगठन अपनी सत्यता के प्रमाण और आवश्यकता को नष्ट कर छिन्न-भिन्न होता हुआ गिरने लगता है।

यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि वर्णों में बंट जाने की वजह से ही वर्ग-संघर्ष या वर्ण-युद्ध आरंभ हो जाय। अगर प्राचीन साम्य संघ की आर्थिक-व्यवस्था में दासता और निजी संपत्ति ने आकर उन वर्गों को जन्म न दिया होता जिनके हित एक-दूसरे के विरोधी थे तो वर्ग-संघर्ष शुरू नहीं हो सकता था।

[1] मार्क्स, कैपिटल, जिल्द १, एलेन अनविन सं., डोना टोर द्वारा संपादित, पृष्ठ ३५६।

पर यह एक बिल्कुल नया तत्व था जिसने उस साम्य संघ के लोगों की कल्पना को विचलित कर दिया जिसमें अधिक जनसंख्या दरिद्रों की थी। गण लोकतंत्रवाद ने वर्णों को अपने-अपने कर्म क्षेत्रों को विकसित करने और अपने परिश्रम के फल को खाने की आज्ञा दी थी। वर्ण-धर्म ने उन नियमों का प्रतिपादन किया जिनसे यह मालूम होता था कि हर वर्ण के व्यक्ति को क्या करना चाहिए, क्या मिलना चाहिए, और उसे कैसा आचरण करना चाहिए जिससे सबका कल्याण हो और सब लोग आनन्द से रहें। प्राचीन कृत-त्रेता युग में यज्ञ-क्रियाशीलता का समस्त फल सबको मिलता था। उन दिनों में वर्णों के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं थी। जो कुछ भी उत्पन्न होता था उसमें हवन के द्वारा सबको बराबर भाग मिलता था। जब सार्वजनिक क्रियाशीलताएं अनेक हो गयीं तब उनको वर्णों में बांट दिया गया, और उसी प्रकार से उनके फल भी बांट दिये गये। लेकिन साम्य संघ की दरिद्रता और वैभव का बंटवारा समान रूप से नहीं किया गया। उसके स्थान पर कुछ थोड़े से लोगों के पास तो सारा वैभव संचित हो गया, और दूसरे सब लोगों को दरिद्रता सौंपी गयी।

वे व्यक्ति, जिनको यज्ञ-उत्पादन को संचालित करने के लिए चुना जाता था, अथवा ब्राह्मण, सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के नेता बन गये। संचालन और विधि के ज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति का उपयोग उन्होंने किया। उनकी क्रियाशीलता से जो पहले फल निकलता था उसका उपभोग सब लोग करते थे—लेकिन अब वे स्वयं उस फल के स्वामी बनने लगे। क्षत्र सरदारों ने भी वैसा ही किया। ये लोग युद्ध का संचालन करने के लिए गण द्वारा चुने जाते थे। केवल विश् लोकतंत्र, शूद्रों के साथ मिल कर दरिद्रता और कठोर परिश्रम को सहता रहा। निजी संपत्ति, अधिकार और धनी होने के विरुद्ध, सामूहिक संपत्ति असंतोष की भावना प्रकट करती रही। यज्ञ-पद्धति के साम्य संघ में ऐसा कभी नहीं हुआ था कि कुछ लोगों को अन्न मिले और दूसरे लोग भूख से मरें। प्राचीन देव गणों में लोग उस जघन्य वस्तु के पीछे शिकारी की तरह नहीं टूटते थे जिसे स्वर्ण, हिरण्य या मुद्रा कहा जाता था। प्राचीन युग के इन्द्र ने पत्थरों और हड्डियों के हथियारों से युद्ध किया था; गायों, उनके चरागाहों और जल पर विजय पायी थी। वह पीता था और गर्जन करता था। पर उन दिनों में वे किसी धन को अपना मान कर, केवल अपने लिए संचित करके नहीं रखते थे। उन बीते हुए दिनों में वे छोटे गणों में अथवा 'अश्मव्रज' की छोटी बस्तियों में निवास करते थे। एक सार्वजनिक अग्नि को चारों ओर से घेर कर बैठते थे। गण की माता उनको भोजन कराती थी। वे एक साथ गाते थे। दरिद्र होने पर भी वे प्रसन्न थे।

पर अब ऋगवेद में कवि ने जैसे दुःख भरे शब्दों में कहा था :

"क्या ईश्वर के हाथों से मनुष्य के लिए अकेला दंड भूख है? अगर देवता की यह इच्छा है कि दरिद्र लोग भूख से मरे तो धनी लोग अमर क्यों नहीं हैं? (धनी) मूर्ख के पास भोजन का जमा होना किसी की भलाई नहीं करता। वह सिर्फ अपने आप ही खाता है, अपने दोस्तों को भोजन नहीं देता। लोग उसकी बुराई करते हैं।"[1]

विनिमय, बाजार, व्यक्तिगत परिश्रम और उसका नियंत्रण जब समाज में होने लगा तो वह नयी व्यवस्था प्रत्यक्ष हो गयी जहां पर मनुष्य धन व नौकरी के लिए तथा अपनी चीजों और मेहनत को खरीदने वाले ग्राहक के लिए दौड़-धूप शुरू कर देता है।

वेद का कवि फिर असंतुष्ट होकर कहता है :

"हमारे पास अनेक काम, अनेक इच्छाएं, और अनेक संकल्प हैं। बढ़ई की कामना आरे की आवाज सुनने की है। वैद्य रोगी की कराह सुनने की अभिलाषा रखता है। ब्राह्मण को यजमान की लालसा है। अपनी लकड़ी, पंखा निहाई और भट्टी को लेकर लुहार किसी धनी की राह देख रहा है। मैं एक गायक हूं। मेरा पिता वैद्य है। मेरी मां अन्न कूटती है। जिस तरह से चरवाहे गायों के पीछे दौड़ते हैं, हम लोग उसी तरह से धन के पीछे दौड़ रहे हैं।"[2]

ऋगवेद के उन मण्डलों में जो बाद में लिखे गये हैं कर्जदार, जुआरी, दासों, आदमियों के बीच आपस में ईर्ष्या और घृणा का वर्णन किया गया है।

यह तस्वीर उस समय की है जब गण-समाज या साम्य संघ में क्रय-वस्तुओं का उत्पादन शुरू हो गया था और सामूहिकता का नाश हो गया था। पहले जब उत्पादक वस्तुओं का निर्माण उपयोग के लिए करता था तो उस उत्पादन पर उसका नियंत्रण होता था। उसके उत्पादन और उत्पादित वस्तुओं पर सामूहिक नियंत्रण रहता था। वे अपने उत्पादन के भविष्य को जानते थे और वे जानते थे कि उनका क्या उपयोग होता है। वे उनका उपभोग करते थे—उनके साथ में वे कोई छल-कपट नहीं कर सकते थे।

परन्तु विनिमय और क्रय-वस्तु के निर्माण द्वारा वस्तु एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती थी। उत्पादक वस्तु को विनिमय में दूसरे को दे देता था, और उनका भविष्य में क्या होगा, इस बारे में वह कुछ नहीं जानता था। इसी व्यवस्था में एक नया तत्व आ गया—मुद्रा; एक नया वर्ग आ गया—व्यापारी वर्ग; और एक नयी शक्ति आ गयी—अनजाना बाजार। उत्पादक और उपज, बाजार, मुद्रा, मांग और अवसर के अधीन हो गये। उत्पादक अपने परिश्रम के फल का उपभोग सीधी तरह से अपने लिए नहीं कर सकता था—वह 'भाग्य' के अधीन हो गया। अब उसके

[1] ऋगवेद : १०; ११७।
[2] ऋगवेद : ६; ११२-१-३।

सामने ऐसी विरोधी दृढ़ शक्तियां आ गयीं जिनको उसने कभी देखा नहीं था, और जाना भी नहीं था। उन शक्तियों पर कोई नियंत्रण नहीं था। उस नयी शक्ति ने उसके पूरे जीवन और परिश्रम करने की क्षमता को जकड़ लिया। वह शक्ति सजीव और दृढ़ थी, फिर भी यह उसी शक्ति के ऊपर निर्भर था कि वह दूसरों को भोजन देगी या नहीं। धनी और दरिद्र के बीच, नये वर्गों—शोषक और शोषितों—के बीच इस प्रकार से विरोध बढ़ने लगा।[1]

यज्ञ गण संघ ने जिसकी कल्पना तक नहीं की थी और जो गण संघ के गर्भ में धीरे-धीरे परिपक्व हो रहा था, वह विरोध हिंसात्मक रूप में फूट पड़ा। उस वर्ग के दो भागों में, जो समाज की आर्थिक व्यवस्था पर अधिकार किये हुए थे, शोषण द्वारा प्राप्त संपत्ति पर प्रभुत्व जमाने के लिए संघर्ष शुरू हो गया। जिस संपत्ति का उत्पादन विस्तृत विश् कृषक-लोकतंत्र और शूद्र मिल कर करते थे उसको आत्मसात् करने के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में युद्ध होने लगे। शोषण करने की शक्ति पर अधिकार करने के लिए तो ब्राह्मण और क्षत्रिय आपस में लड़ते थे पर विश्-समाज के विरोध में खड़े होने के लिए दोनों एक हो जाते थे। विश्-समाज अब भी पुराने साम्य संघ के अस्तित्व के लिए, उसके धर्म, आचार और नैतिकता के लिए, उसकी आर्थिक-व्यवस्था और संगठन के लिए लड़ रहा था। इस समय सार्वजनिक भूमि और पूरी जाति के कल्याण के लिए उस पर की गयी सार्वजनिक खेती ही सामूहिकता का आधार रह गयी थी। बिना संघर्ष के यह सामूहिकता निजी संपत्ति के सामने आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार नहीं थी। अभी तक चला आता हुआ अखण्ड ब्रह्मन अधिकार-युक्त वर्ण वर्गों के एकांतिक निजी स्वार्थों से पराजित होने से इंकार कर रहा था। एक रक्तपात-पूर्ण युद्ध प्रारंभ हो गया। वैदिक और महाकाव्यों की परंपरा के आधार पर कहा जा सकता है कि यह युद्ध अनेक वर्षों तक चला था।

ऐसा लगता है कि अपने विकास के आरम्भिक युद्धों में शोषक वर्ग हराया गया था। उस हार की यादगार कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तरीय अरण्यक (५-१) की एक आख्यायिका में सुरक्षित मिलती है। इस आख्यायिका (कथा) में विष्णु का अन्य देवों के साथ किसी युद्ध का वर्णन है। अगर इस कथा पर चढ़ाये गये धार्मिक, रहस्यमय अथवा अर्ध वन्यता के वेष्ठा

[1] और उसके बाद पहली बार हिन्दू समाज में कर्म-दर्शन और कर्म से मोक्ष पाने, यानी मोक्ष सम्बन्धी प्रश्नों का उदय हुआ था। वैदिक साम्य संघ में इस प्रकार के प्रश्न नहीं उठ सकते थे।

किं तु कर्मस्वभावोऽयं ज्ञानं कर्मेति वा पुनः।
पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमेके प्रशसंति स्वभावमपरे जनाः। महाभारत, शान्ति पर्व, २४४-४।

को हटा कर देखा जाये तो यह कथा दो विरोधी वर्गों के संघर्ष को इस प्रकार से कहती है।

प्राचीन काल में देवों ने एक सत्र शुरू किया। हम देख चुके हैं कि यज्ञ-विधि के अनुसार जो सामूहिक उत्पादन किया जाता था उस क्रिया का नाम सत्र था। इस सत्र को शुरू करने के पहले उन लोगों ने आपस में यह समझौता किया कि इस सत्र द्वारा जो भी उत्पादन होगा उस पर सबका अधिकार होगा और हर व्यक्ति को उस उपज का समान भाग मिलेगा। (जहां तक इस समझौते का सवाल है वह तो पहले से ही उस यज्ञ में निहित था, क्योंकि वह सत्र यज्ञ थां। परन्तु परवर्ती काल का लेखक इस बात को और भी स्पष्ट रूप से कहना चाहता है जो इस इतिहास के लिये और भी कल्याणकारी है !) इस यज्ञ में सम्मिलित होने वाले देवों की संख्या इतनी अधिक थी और यज्ञ की अग्नि इतनी विशाल थी कि इस यज्ञ का विस्तार बहुत बड़े क्षेत्र में हुआ। कुरुक्षेत्र उस यज्ञ की वेदी बना। उस वेदी के दक्षिण में खाण्डव प्रदेश था। वेदी की पश्चिमी सीमा की रेखा को छूता हुआ परिणत (समुन्नत और विकसित चरागाह भूमि) प्रदेश था। वेदी के उत्तर में तुघ्र क्षेत्र था (तुरुष्क अथवा तुर्वष गण का निवास स्थान)। जलहीन व सूखा हुआ मरु (मारवाड़) का प्रयोग सत्र के धूर के रूप में किया गया। सत्र यज्ञ में, जैसा हम जानते हैं, प्रत्येक भाग लेने वाला व्यक्ति ऋत्विज होता था और गृहपति यजमान होता था। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को काम करने और उपभोग करने का समान अधिकार होता था। लेकिन यज्ञ को संचालित करने के लिए अपने बीच में से सब लोगों को एक गृहपति को चुनना पड़ता था। देवताओं के इस सत्र यज्ञ में विष्णु को गृहपति चुना गया और यज्ञ आरंभ हुआ। यद्यपि इस यज्ञ में सभी देवता समान परिश्रम कर रहे थे लेकिन चारों ओर यह बात फैल गई कि ''विष्णु द्वारा सत्र यज्ञ हो रहा है।'' विष्णु ने सत्र द्वारा उत्पन्न वस्तुओं को, जिनको 'कर्तृत्व' कहते हैं, स्वयं आत्मसात् करने की कोशिश की। उन्हें अभिमान हो गया। वे खुले रूप में देवों के शत्रु बन गये। इसलिए सब देवों ने मिल कर विष्णु पर आक्रमण किया जिससे वे यज्ञ में उत्पन्न वस्तुओं को उनसे जबरदस्ती छीन न सकें। पर विष्णु को चुनाव द्वारा सबका अधिकारी चुना गया था। इसलिए केवल वे ही हथियार रख सकते थे। उनके पास धनुष और बाण था। और यज्ञ की विधि के अनुसार देवताओं के पास अस्त्र नहीं थे। विष्णु को सशस्त्र देख कर देवता लोग भाग गये। इस विजय के कारण विष्णु अपनी रक्षा के बारे में सावधान नहीं रहे। आगे उन्होंने कुछ नहीं किया। धीरे-धीरे उनकी शस्त्र की सजगता भी कम होती गई। और इसलिए जो यज्ञ-तेज उन्होंने पहले पाया था, वह क्षीण होने लगा। लड़ कर विजय पाने की शक्ति (यज्ञ-तेज) जब विष्णु में नहीं रही तब देवताओं ने उस शक्ति को पकड़ कर 'श्यामत' की झाड़ियों

में दबा दिया। यह देख कर कि देवता लोग तितर-बितर हो गए हैं, विष्णु ने अपना धनुष जमीन पर रख दिया, और अपनी ठोड़ी को धनुष की कोटि पर टेक कर लेट गए। यह देख कर देवताओं ने दीमकों की सहायता ली। उन्होंने दीमकों से कहा कि वे विष्णु के धनुष की डोरी को काट दें। जब धनुष की डोरी कट गई तब धनुष छूट गया और विष्णु का सर उड़ गया। उस समय यज्ञ-पुरुष यानी विष्णु का शरीर तीन देवताओं के बीच बांट दिया गया। अग्नि, इन्द्र और विश्वदेव को वे भाग मिले। पर शरीर में सर नहीं था। इसलिए यज्ञ का फल प्राप्त नहीं हो सका। तब देवताओं ने अश्विनों को बुलाया। वे देवों के वैद्य थे। इस शर्त पर कि उनको भी कुछ भाग मिलेगा उन्होंने सर को शरीर से जोड़ दिया। तब यज्ञ का फल प्राप्त हुआ।

आर्यों के समाज में गृह युद्ध का, शायद सबसे प्राचीन वर्ग-संघर्ष का वर्णन करने वाली यह कथा है। यह स्वयं इतनी स्पष्ट है कि इस पर टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जातिगत उत्पादन और वितरण की समानता को गिरा कर नष्ट कर दिया गया था। असमानता अथवा विषमता, धनी और दरिद्र का संघर्ष, साम्य संघ का विभाजन—इस कथा में वर्णित यज्ञ-पुरुष का तीन वर्णों में बंटना, कथा में आये हुए तीन देवता तीन वर्णों के प्रतिनिधि हैं : अग्नि (ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि), इन्द्र (क्षत्र वर्ग का प्रतिनिधि), और विश्वदेव (वैश्य वर्ग का प्रतिनिधि), उस नये नियम का पालन करना जिसके अनुसार सशस्त्र संचालक को अभिषिक्त कर प्रतिष्ठित किया जाता था यानी शासन सत्ता का एक रूप—ये सब वस्तुएं अस्तित्व में आने के लिए संघर्ष कर रही थीं। समाज उन दो विभागों में बंट गया था जिनमें से एक उत्पादन करता था। दूसरा उत्पादकों की अतिरिक्त उपज पर अपना अधिकार या नियंत्रण करता था। एक विभाग शोषकों का था और दूसरा शोषितों का। शोषित दरिद्रों को अपने सत्र वाले समान-अधिकारों और समूहवादिता को, शोषकों के शासन के आगे या तो छोड़ना पड़ता था या लड़ना पड़ता था। यह बात स्वीकार कर ली गई थी कि समाज दो विरोधी तत्वों में बंट गया है और अब उन दोनों में कोई समझौता नहीं हो सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण के लेखक ने इसी सीधी कथा को कहा है। इस पहले गृह-युद्ध में विष्णु, जिनको सार्वजनिक इच्छा से संचालक के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था, अपने इस लक्ष्य में सफल नहीं हो सके थे कि सामूहिक परिश्रम के फल को अपने या अपने वर्ग के अधिकार में कर सकें। सत्र का विधान उन पर विजयी हो गया था, फिर भी इससे यह पता लगता है कि वर्ग की नई शक्ति और सशस्त्र शासन-सत्ता किस तरह से एक दमन के साधन के रूप में अथवा शोषित मेहनतकश वर्ग पर शक्तिवान वर्ग की शक्ति के रूप में उत्पन्न हो रही थी। अर्ध-वन्य अवस्था के लेखक ने यह विश्वास दिलाना

चाहा है कि यह सब दिव्य या अलौकिक आवश्यकता के अनुसार हो रहा था। फिर भी लेखक उस संघर्ष के युग के इतना निकट था कि वह आर्थिक-वर्गों के स्पष्ट विरोधों को छिपा नहीं सका। सत्र-परिश्रम और उसके साम्य संघ में से ये आर्थिक विरोध फूट कर निकल रहे थे।

प्राचीन साम्य संघ में इस बात को कोई भी नहीं जानता था कि एक ही गण के भीतर अपने ही सगे संबंधियों में या भाइयों के बीच में युद्ध होना संभव है। एक गण की दूसरे गण के साथ लड़ाई होती थी। अदिति के पुत्र दिति के पुत्रों से लड़े थे। विनता के पुत्र कद्रु के पुत्रों से लड़े थे। पर क्या किसी ने यह भी सुना था कि अदिति के पुत्र आपस में लड़ रहे हों, एक-दूसरे की हत्या कर रहे हों, या दास बना रहे हों? क्या वसु गण अपने रक्तवाले वसुओं से कभी लड़े थे जो उन्हीं के गण-गोत्र के थे, उनके ही यज्ञ साम्य संघ के थे? नहीं। ऐसा कभी नहीं हुआ था। उस प्राचीन आदिम यज्ञ साम्य संघ के अन्दर इस प्रकार के अन्तर्युद्ध, गृह युद्ध, वर्ग युद्ध या वर्ण युद्ध के लिए कोई स्थान नहीं था, क्योंकि अभी उन गणों में व्यक्तिगत संपत्ति और शोषण का उदय नहीं हुआ था। लेकिन एक बार जब इनका उदय हो गया तो गण युद्धों के साथ-साथ गृह युद्ध भी शुरू हो गये। एक गण का युद्ध जब दूसरे गण से होता था तब उनका लक्ष्य दासों, पशुओं और अन्य सम्पत्ति को आत्मसात् करना होता था और उसके बाद जब वे वर्ण (वर्ग) गृह युद्ध करते थे तो उसका लक्ष्य उस सम्पत्ति को निजी बना कर वैभवशाली होना और अपने ही परिश्रम करने वाले सगे संबंधियों को दास बनाना होता था। जैसा **विष्णु पुराण** में कहा गया है—''ईश्वर ने विभिन्न वर्णों को उनके भले और बुरे गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) के अनुसार बनाया है।'' लेकिन प्राचीन काल में वे सब निश्चेष्ठ, शांत तथा स्वस्थ थे, सब वर्ण प्रसन्नता से रहते थे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उनमें 'कामना' आती गई। उन्होंने नगर और दुर्ग बनाये, और युद्ध किये। इसलिए वे दुखी होने लगे। **महाभारत** में भीष्म से यह प्रश्न किया गया था कि किस तरह से राजसत्ता और गृह युद्ध का प्रारम्भ हुआ? उन्होंने भी यह कहने के बाद कि पहले कोई गृह युद्ध नहीं था, राजा नहीं था, शासन-सत्ता नहीं थी—यह कहा कि प्राचीन साम्य संघ का नाश इसलिए हुआ कि साम्य संघ के सदस्यों में नई कामनाएं, लालसाएं और इच्छाएं जागने लगी थीं। उनमें 'मोह', आकर्षण या यथार्थ के प्रति भ्रम छा गया था। उनका विवेक नष्ट हो गया था। तब उनमें लोभ आ गया। लोभ के कारण वे उन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए सोचने लगे जो उनके पास नहीं थीं। नयी कामनाओं में फंस कर उनमें क्रोध, काम, राग, ईर्ष्या उत्पन्न होने लगे। वे अपने सगे संबंधियों को भूल गये, उनके प्रति क्या धर्म या कर्त्तव्य है इसको भूल गये, धर्म को उन्होंने खो दिया।

वे परस्पर लड़ने लगे। और इस तरह से ब्रह्मन का नाश हो गया। गृह युद्ध और नई शासन-सत्ता के उदय होने के लिए तथा कृत-त्रेता युग के प्राचीन, सुखी, शान्त धर्म के नष्ट होने के लिए इन पापों के क्रमागत आक्रमण की बात प्रायः सभी हिन्दू धर्म ग्रथों में दुहराई गई है।

पर वे धर्म ग्रंथ हमको इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि जब दिति और अदिति के पुत्र, क्रोध में भरे हुए संघर्षशील और गरजते हुए इन्द्र आदि जब अपने शत्रुओं से लड़कर पशु और धन आदि जीत लाते थे तब वे मोह, काम, लोभ और अपने ही सगे बन्धुओं पर आधिपत्य जमाने के लिए गृह युद्ध करने आदि में क्यों लिप्त नहीं होते थे? अर्ध-वन्य अवस्था के बेचारे लेखक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि ये लोग पुण्यात्मा थे जब कि और लोग पापी थे। लेकिन ऐसा लगता है कि वे लोग अपने आप पापी नहीं हो गये थे बल्कि पाप ही जैसे सजीव और गतिमान हो उठा था जिसने उन लोगों को जाकर जकड़ लिया था, और उसके वे बेबस लोग, जो बहुत पिछड़े हुए और दरिद्र होते हुए भी सुखी थे, एक दूसरे को मारने लगे, अपने और दूसरे लोगों को दास बनाने लगे तथा धन का संचय करने लगे। पर इस सब का यथार्थ कारण जैसा हम देख चुके हैं—प्राचीन साम्य संघ के उत्पादन की शक्तियों में क्रांतिकारी परिवर्तन है। उत्पादन की नई शक्तियां नये उत्पादन-संबंधों को जन्म देती हैं। महाभारत, पुराण तथा अन्य ग्रंथों में लिखे हुए इन पापों की सूची के परदे को हटा कर यदि देखें तो हमें नई उत्पादन-शक्तियां, क्रय-वस्तुओं का विनिमय—उस वस्तु को बेचना जिसका उपभोग न किया जा सकता हो और उस चीज को बदले में पाना जो अपने पास नहीं है या जिसका उत्पादन अपने से नहीं किया जा सका है—दिखायी देंगी।[1] हम निजी संपत्ति और संचय को लोभ, स्वार्थ और अन्य रागों को पैदा करते हुए देखते हैं, सामाजिक परिश्रम के फल पर अधिकार करने के लिए शक्ति का प्रयोग करते हुए देखते हैं, और उस से भी आगे अपने ही लिए संपत्ति का संचय करने की पागल कामना को और भी तेज होता हुआ देखते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता हुआ पर संगठित साम्य संघ टूट कर खेती, दस्तकारी, शहर, देहात, आदि में बिखर गया था। और एक नया युग

[1] महाभारत के अनुसार इन पापों का क्रम इस प्रकार से है :

दैन्यम्
मोहः
अप्राप्तस्य अभिमर्ष
कामः
रागः
रक्तस्य अनभिज्ञानम् विप्लवः—ब्रह्मनाश—विप्लुते नरलोके ब्रह्म ननाशं ह।
(शांति पर्व, ५८)

आरंभ हो गया था जिसमें नई भावनाएं, नये पाप और पुण्य, शासक और शासितों का नया संसार, शोषित और शोषकों का आगमन हो गया था। जब तक इस निजी संपत्ति का नाश दुबारा नहीं हो जाता—लेकिन यह नाश उत्पादन की अतिशयता के आधार पर होगा, प्राचीन आदिम दरिद्रता के आधार पर नहीं—तब तक मनुष्य को इन पापों, गृह युद्धों और अन्त में समस्त युद्धों से छुटकारा नहीं मिल सकता। और यह काम भविष्य में आने वाले नये साम्यवादी संसार में होगा।

इसके पहले कि हम इस वर्ग युद्ध के विकास का आगे वर्णन करें हम यह देखेंगे कि साम्य संघ में और कौन से शक्तिशाली परिवर्तन नयी उत्पादन शक्तियों, निजी सम्पत्ति और दासों के साथ साथ होने लगे थे ? सम्पत्ति के नये संबंधों ने साम्य संघ के संगठन पर प्रत्येक संभव तरह से अपना प्रभाव डाला था। निजी संपत्ति ने सगे संबंधियों के प्राचीन संगठनों और व्यक्तिगत संबंधों को नष्ट कर दिया था। साम्य संघ की मातृ-सत्ता का नाश भी इसी के द्वारा हो गया था। उन दिनों में साम्य संघ के कुल, युग्म परिवार के आधार पर रचे हुए थे। जो सगे संबंधी नहीं थे उनको साम्य संघ में न सम्मिलित करने का निषेध भंग कर दिया गया। इस नयी व्यवस्था के अनुसार पितृसत्तात्मक निजी परिवार, पिता का आधिपत्य और संपत्ति का उत्तराधिकार, पितृत्व की परंपरा तथा उससे संबद्ध अनेक निष्कर्षों का उदय होने लगा। गण गोत्र की एकता और समानता नये निजी परिवारों और वर्ग-संघर्षों में आकर छिन्न भिन्न हो गयी। शत्रु पक्ष के दासों के साथ-साथ नारी ने भी अपनी स्वाधीनता खो दी। और कुछ ही दिनों के बाद स्वाभिमानी और स्वाधीन आर्यों के विश् को भी बांध कर बाजार में बेचे जाने के लिये खड़ा कर दिया गया।

अध्याय १०

नारी की दासता और मातृसत्ता का अन्त

''पशुओं के झुण्ड और दूसरे प्रकार के नए धनों के अस्तित्व में आ जाने के कारण परिवार के ऊपर भी क्रांति आ गई। जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करना हमेशा से पुरुष का काम रहा था। वह उत्पादन करता था और उत्पादन के साधनों पर उसका अधिकार होता था। (वे साधन शिकार के हथियार आदि होते थे।) इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पशु नये साधन थे। पहले उनको पालतू बनाना और बाद में उनकी नस्ल बढ़ाना पुरुष का काम था। इसलिए पशुओं पर और उनके विनिमय द्वारा प्राप्त वस्तुओं तथा दासों पर भी उस पुरुष का अधिकार होता था। इस युग में जीवन की आवश्यकताओं के अलावा जो अतिरिक्त उत्पादन होता था उस पर भी पुरुष का अधिकार होता था। नारी उपभोग में भाग लेती थी, पर उन वस्तुओं के अधिकार में उसका कोई भाग नहीं था। 'वन्य-अवस्था' का योद्धा या शिकारी पुरुष घर के अन्दर नारी को प्रमुख सत्ता मान कर रहने में संतुष्ट था। लेकिन उससे अधिक 'कोमल और सभ्य' चरवाहा पुरुष अपने धन के गर्व से गर्वित हो कर उसी अवस्था में घर के अन्दर नहीं रह सका। उसने नारी की प्रभुत्व सत्ता का अन्त कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। घर का वह प्रमुख व्यक्ति हो गया। नारी उसकी आश्रिता हो गई। नारी कोई शिकायत भी नहीं कर सकी। अभी तक घर के अन्दर जो श्रम का विभाजन था उसके अनुसार नर और नारी के बीच संपत्ति के अधिकन्र का विभाजन होता था। श्रम का विभाजन तो वही रहा किन्तु फिर भी इसने पहले के पारिवारिक संबंधों को उलट दिया क्योंकि घर के बाहर श्रम का विभाजन बदल गया था। जिस कारण से घर[1] के अन्दर नारी का आधिपत्य स्थापित हुआ था—उसकी क्रियाशीलता का क्षेत्र घरेलू परिश्रम से बंधे होने के कारण उसका घर के अन्दर प्रभुत्व था—उसी कारण ने अब घर में पुरुष का आधिपत्य सुर-

1 सत्र-परिश्रम में संगठित साम्य संघ का घर जिस पर नारी, प्रथम माता अदिति का आधिपत्य था।

क्षित कर दिया। पुरुष द्वारा जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने के परिश्रम के सामने घरेलू श्रम की प्रमुखता नष्ट हो गयी। बाहर का श्रम, जीवन के लिए सब कुछ हो गया—घर का श्रम निमूर्ल्य हो कर रह गया।

''अब घर के अन्दर भी पुरुष का पूरा आधिपत्य स्थापित हो गया तो मानो उसके सम्पूर्ण आधिपत्य में जो आखिरी बाधा थी, वह भी टूट गई। इस स्वसत्ता (Autocracy) को दृढ़ और स्थिर बनाये रखने के लिए मातृसत्ता को नष्ट कर पितृसत्ता की स्थापना की गई और धीरे-धीरे युग्म-विवाह को एकनिष्ठ विवाह में बदल दिया गया। लेकिन इस परिवर्तन ने गण के विधान में एक-दरार पैदा कर दी। अकेला कुटुम्ब एक शक्ति बन गया—जो गण के लिए घातक था।'' (एंगेल्स, **परिवार...की उत्पत्ति**)

जहां तक हमने देखा है वैदिक साहित्य में मातृसत्ता का अन्त और पितृसत्ता की उत्पत्ति को स्पष्टता से नहीं कहा गया है। लेकिन अगर हम कुटुम्ब के विकास को देखें तो यह परिवर्तन साफ दिखायी दे जा सकता है। सबसे पहले तो हम यह देखते हैं कि जैसे ही वर्ण, विनिमय और निजी संपत्ति की उत्पत्ति हुई वैसे ही अपने गृह युद्धों और गण युद्धों के साथ साथ प्रजापति और गृहपति इतिहास के लोक में सबसे आगे आ गये। अदिति और दिति आदि माताओं की सन्तानों के गण युद्ध इतिहास में विलीन होने लगे। दूसरे, गोत्र-अपत्य अब पिता के पुत्रों की परंपरा के अनुसार होने लगे। माता के अनुसार जिनके गोत्र का परिचय होता था वे कम होते जा रहे थे। तो भी, यह प्रथा इतिहास में बहुत दिनों तक चलती रही—दक्षिणी भारत में तो कुछ समय पहले भी यह प्रथा प्रचलित थी। तीसरे, क्योंकि निजी संपत्ति और पिता की सत्ता का विकास गण के विकास के साथ साथ हुआ था, इसलिए जब गणों की जनसंख्या बढ़ी और वे बिखर कर विस्तृत प्रदेशों में रहने लगे तो सामाजिक दृष्टि से मातृ-गत परंपरा और उससे उत्पन्न परस्पर के संबंधों का यथार्थ रूप क्षीण होने लगा था और उसके स्थान पर पिता की परंपरा के 'प्रवरों' का जन्म होने लगा था। समूहवाद और गोत्रों के यूथ विवाहों के नष्ट हो जाने के साथ साथ एकनिष्ठ विवाह के आधार पर व्यक्तिगत निजी परिवार ने अपनी संपत्ति, सन्तान और उत्तराधिकार की स्थापना कर ली थी। पहले के सगे संबंध बिखर गये और भुला दिये गये थे। अब सगे संबंधियों के साथ साथ जो संबंधी नहीं थे जैसे नये दास, वे नये लोग जो वस्तुओं का व्यापार करते थे आदि गण-गोत्र में शामिल होने लगे। युद्धों के विकास के साथ साथ गण आपस में मिलने लगे और अतीत की स्मृति के आधार पर—इस बात की यादगार पर कि बीते हुए समय में एक ही पूर्वज और संबंधों से वे सब लोग जन्मे हैं—संयुक्त होने लगे। आर्यों के बिखरे हुए सगे संबंधी गण-गोत्रों का जब एकीकरण हुआ

तो उसने प्रवरों का रूप धारण कर लिया। प्रवर अपना उद्गम किसी एक पूर्वज पिता से कल्पित करते थे—जिस तरह पहले माता को गण-गोत्र का उद्गम माना जाता था, वैसा इसमें नहीं होता था। प्रवर संगठन का नेतृत्व नौ पुरुष प्रजापतियों के हाथों में था जिनकी उत्पत्ति स्पष्ट रूप से गोत्रों के फैलने के बहुत बाद हुई थी। उनके द्वारा जिस पितृसत्ता के दर्शन होते हैं वह जैसे मातृसत्तात्मक उद्गम के बिना संबंधी गणों को एक में मिलाने का विकृत विधान था। इसलिए जैसा गोत्रों में नहीं होता था, प्रवरों की समानता के आधार पर किसी ऐसे कड़े निषेध का नियम नहीं बना था कि एक ही प्रवर के व्यक्तियों में विवाह न हो। निस्सन्देह इस विषय में पितृसत्तात्मक प्रवरों ने गण-निषेधों की नकल करने की बात सोची थी, लेकिन गण निषेधों का आधार यथार्थ पर था। उसका आधार यथार्थ मातृसत्ता के यूथ-विवाहों से जन्मे हुए रक्त संबंध थे जबकि प्रवर-निषेधों का कोई यथार्थ आधार नहीं था। प्रवर-निषेध यथार्थ अतीत की स्मृति के आगे सर झुकाना मात्र था। वह एक नये उठते हुए समाज में प्राचीनता के रूप का दिग्दर्शन मात्र था। इसलिए एक पूर्वजकता को स्थापित करने का प्रयास प्रवर द्वारा किया गया। सैद्धांतिक दृष्टि से प्रवरों ने यह भी चेष्टा की कि एकनिष्ठ विवाह, पितृसत्ता और व्यक्तिगत संपत्ति की नई व्यवस्था में भी वे मृत साम्य संघ की भस्म को साथ साथ चिपकाये रहें।

गोत्र-प्रवर संगठनों ने संबंधों को व्यवस्थित किया। जब अन्य तत्व आर्यों के समाज के संपर्क में आने लगे और उसमें प्रवेश करने लगे तो उन्होंने संबंधी-गणों व असंबंधियों और आर्यों तथा अनार्यों के बीच एक विभाजन-रेखा खींची। प्रवर संगठन का वह एक नया रूप भी था जिसके द्वारा गण-विधि के आधार पर सामाजिक धार्मिक कृत्यों को व्यवस्थित करने की कोशिश की गयी जब कि एक ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था का जन्म हो चुका था जिसमें वर्ण, वर्ग, शासन-सत्ता के नये संगठन थे, जिसके सब सदस्य सगे संबंधी ही नहीं होते थे, जहां पर जैसा कि आर्य लेखक का कहना है, सबको यजन, याजन करने का अधिकार नहीं था। एक नये समाज की रचना हो रही थी। उसके तत्व निर्धारित हो गये थे। क्षेत्रिक निवास (Territorial residence) उसकी सीमा थी। राज्य, राष्ट्र, या शासन-सत्ता के संगठन की सीमाओं में निवास करना उसका नया रूप था। पुराने गणों की भांति रक्त-संबंध के आधार पर इस नये समाज की रचना नहीं हुई थी। **रक्त संबंधों को अब आर्थिक संबंधों से पृथक कर दिया गया।** गोत्र-प्रवरों में अपरिचितों और शूद्रों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया, पर राज्य-संगठन में वे निवास कर सकते थे।

जिस प्रकार यूरोप के विद्वानों को काफी परेशानी हुई थी जब उन्होंने यूनानियों के बीच प्रवर-व्यवस्था का पता लगाया था, उसी प्रकार हिन्द आर्यों की प्रवर-व्यवस्था भी भारतीय विद्वानों के लिए एक सिरदर्द हो

गयी। गोत्र प्रवर का अस्तित्व आज भी चल रहा है और उसके अनुसार एक पूर्वजकता की घोषणा की जाती है। लेकिन हमारे विद्वान, गण साम्य संघ और गोत्र यूथ-विवाह के आधार पर एक पूर्वजकता को अस्वीकार करते हैं। इसलिए वे गोत्र-प्रवर को एक निरर्थक, मिथ्या बात मानने पर बाध्य हो जाते हैं।

गोत्र-प्रवरो के आलोचकों को उत्तर देने के लिए यह सबसे अच्छा होगा कि हम कार्ल मार्क्स द्वारा संक्षिप्त किये हुए मोरगेन के उस उत्तर का उद्धरण दें जो उन्होंने अपने आलोचकों को दिया था।

> ''गोत्रों के मौलिक रूप के अनुसार सगोत्रता की व्यवस्था ने—और अन्य मनुष्यों की भांति यूनानियों के पास भी ये गोत्र थे—गोत्र के सब सदस्यों के परस्पर संबंधित होने के यथार्थ को याद रखा था। उनके लिए यह निर्णायक महत्व का विषय था और वे बचपन से ही अभ्यास द्वारा इसको सीख लेते थे (जैसा कि प्रत्येक हिन्दू अपनी संध्या पूजा में प्रति दिन करता है)।[1] पर एकनिष्ठ परिवार के आ जाने से यह ज्ञान लुप्त हो गया। गण-संघ (गोत्र या प्रवर का नाम जो हिन्दू लड़कों को यज्ञोपवीत संस्कार के बाद बताया जाता है) द्वारा जिस वंश-वृक्ष की रचना की जाती थी उसके सामने निजी परिवार बहुत तुच्छ लगता था। इस गण संज्ञा का काम अब यह था कि वह उनकी वंश परम्परा की समानता की रक्षा करे जो एक पूर्वजकता से उत्पन्न हुए थे—लेकिन गणों का वंश-क्रम इतने प्राचीन समय तक चला गया है कि उसके सदस्य अपने बीच वर्तमान के यथार्थ संबंधों को प्रमाणित नहीं कर सकते। कुछ लोगों ने अवश्य किसी नजदीकी एक पूर्वज के आधार पर इन संबंधों को प्रमाणित किया था। यह संज्ञा या नाम स्वयं इस बात का प्रमाण है कि समान परम्परा का अस्तित्व था. . .। चूंकि सगे संबंध के बंधनों को, विशेषतया एकनिष्ठ विवाह के उदय होने के बाद से, सुदूर अतीत तक ले जाया जाता था और अतीत के यथार्थ की छाया धर्म कथाओं की कल्पनाओं में मिलती थी, हमारे कुछ दम्भी और खोखले विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला और अब भी निकालते जा रहे हैं कि —— —— —— —— —— काल्पनिक वंशावली अथवा परम्परावली से हुआ था।''[2] (एंगेल्स, **परिवार. . .की उत्पत्ति**)

पिता का अधिकार, निजी संपत्ति और उत्तराधिकारी नारी के लिए

[1] कोष्ठ मेरे हैं—लेखक।

[2] हमारे ''दम्भी और खोखले विद्वान'' किस तरह तर्क देते हैं इसे सबसे अच्छी तरह श्री करंदीकर द्वारा लिखित पुस्तक ''हिन्दू एक्जोगेमी'' में और ''वेद-विद्या'' (महाराष्ट्र ज्ञानकोश) में श्री केतकर द्वारा लिखे गये **प्रवर सम्बन्धी** वाद-विवाद में देखा जा सकता है। केवल श्री राजवाडे, मॉरगेन के काफी नजदीक तक पहुंचते हैं।

एकनिष्ठा की मांग करते हैं, उसके बिना पिता की सन्तानों को पहचाना नहीं जा सकता। एकनिष्ठ विवाह और उसके साथ-साथ नारी का सतीत्व, पुरुष के प्रति उसकी पति-भक्ति आदि ने संपत्ति के उत्तराधिकारी होने की समस्या को बहुत सरल कर दिया (जैसा हम देख चुके हैं)। लेकिन पहले-पहल इसका (सतीत्व आदि का—अनु.) आगमन या उद्भव पुरुष के आदेश के द्वारा नहीं हुआ था। नारी ने इसकी स्थापना स्वयं की थी। उस समय में और आज भी यूथ-विवाह के अधिकारों और आदतों को पुरुष छोड़ने को तैयार नहीं है। आज भी उसके ये अधिकार—बहुपत्नी विवाह, देवदासियों की व्यवस्था, मुरालियों की प्रथा और अन्त में वेश्यालय और पर-स्त्रीगमन में प्रकट होते हैं। समाज के विकास के साथ-साथ प्राचीन छोटे गोत्र, जिनके सदस्य अपने सगे-संबंधी होते थे, दूर-दूर के क्षेत्रों तक फैल चुके थे। नयी आर्थिक-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ, जिसकी इकाई अब एक कुटुम्ब के रूप में बन रही थी, पुराने गण गोत्र के सब सदस्यों का जो अधिकार दूसरे विवाह-योग्य गोत्र की नारियों पर होता था—फिर वह नारी चाहे जिस स्थान पर हो—वह अधिकार नारी के लिये एक कुत्सित और वीभत्स भार बन चुका था। छोटे गोत्र परिवार में, छोटे अश्मव्रज में, हर एक-दूसरे से परिचित होता था। समान और एक साथ परिश्रम करने के कारण—अपने छत्तों में जिस प्रकार मधुमक्खियां बिना संबंध चेतना के एक में संगठित रहती हैं उसी तरह—वे आपस में संबंध के बंधनों में बंधे हुए थे। पर अब एक ऐसे गण सदस्य का नारी के पास जाकर अधिकार जताना जिसको वह जानती या पहचानती नहीं थी, जिससे उसका कोई संबंध नहीं था और जो किसी दूर देश से आया था—उस नारी के ऊपर बलात्कार ही था। प्राचीन काल में अतिथि को अपनी पत्नी सौंपने की जो प्रथा थी वह यूथ-विवाह से ही उत्पन्न हुई थी। अतीत काल के समूह के किसी अपरिचित आदमी के अधिकार से स्वतंत्र होने के लिए नारी ने एकनिष्ठ विवाह पर जोर दिया—जैसा कि युग्म-विवाह की परिणति से ज्ञात होता है। "नारी के द्वारा युग्म-विवाह की स्थापना हो जाने के बाद ही पुरुष दृढ़ एकनिष्ठ विवाह की व्यवस्था को लागू कर सका। अवश्य ही यह एकनिष्ठा सिर्फ नारी के ही लिए होती थी।"

लेकिन वर्ग-विभक्त और वर्ग-शासित समाज में—जहां पर निजी संपत्ति और धनी शासक वर्ग लाखों नर नारियों के जीवन को नष्ट कर रहे थे—एकनिष्ठ विवाह नारी के लिए और भी तेज व्यंग्य हो गया। साम्य-संघ का अन्त हो जाने, दास-प्रथा के आरंभ होने और वर्ग शासन

विवाह, गोत्र-प्रवर और सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में हाल में 'हिन्दू ला कमिटी' के सामने हिन्दू रूढ़िवादियों ने जो मांगपत्र पेश किया था, वह बहुत ही दिलचस्प है और उससे यह जाहिर होता है कि यह विषय आज भी कितना अधिक जीवित है।

के स्थापित हो जाने के बाद से समाज में वेश्यावृत्ति और पर-स्त्रीगमन की स्थापना हो गयी। आर्थिक क्षेत्र में नारी की पराजय ने नारी को पुरुष और निजी संपत्ति का शारीरिक और नैतिक दास बना दिया।

> ''मातृसत्ता का नाश होना **नारी की पराजय** था। इस घटना ने **विश्व के इतिहास को बहुत प्रभावित किया।** घर के अन्दर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। नारी पद भ्रष्ट कर दी गयी। उसे दासी बना लिया गया। पुरुष की वासना की वह दासी बन कर रह गयी। उसको सन्तान उत्पन्न करने का एक यंत्र मात्र मान लिया गया।''
>
> (एंगेल्स, **परिवार...की उत्पत्ति**)

निजी संपत्ति के ''धर्म शास्त्र के प्रणेता'' निर्दयता व कठोरता के साथ पिता की संपत्ति को उत्तराधिकार में लेने के लिए एक पुत्र की आवश्यकता का उल्लेख करते हैं। उसके आगे नारी की एकनिष्ठा, भावना, सतीत्व और अपने 'निजी व्यक्तित्व' के अधिकार की भी अवहेलना कर दी जाती थी। इसकी झलक हम उन विवादों में देखते हैं जहां पर 'पुत्र का अधिकारी' कौन है यह प्रश्न उठाया जाता था जब कि वह पुत्र अपने पति के अलावा किसी दूसरे पुरुष द्वारा नारी को पैदा होता था। **महाभारत** के अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर बहुत गम्भीरता से पूछते हैं :

> ''कुछ लोग कहते हैं कि अपनी सन्तान वह है जो अपने क्षेत्र (नारी या पत्नी) में पैदा हुई हो। दूसरी ओर कुछ लोग यह कहते हैं कि अपना पुत्र वह है जो अपने बीज से उत्पन्न हुआ हो। क्या इस तरह के दोनों पुत्र समान हैं? वह पुत्र वास्तव में किसका है?''[1]

ऐसा स्पष्ट लगता है कि दासों का स्वामी एक किसान अपनी पत्नी को खेत (क्षेत्र-अनु.) मान कर बात कर रहा है और अपने पुत्र को उस खेत में उत्पन्न हुआ फल समझता है। फसल पर अधिकार किसका है? क्या उसका अधिकार है जो उस खेत का लगान देता है, बीज देता है और जोतता है? अथवा उसका अधिकार है जो उस खेत का मालिक है—जोतने-बोने वाला चाहे जो कोई भी हो। यज्ञ-विधि के साम्य संघ में नारी के विषय में इस प्रकार से और इस सिद्धान्त के प्रकाश में सोचना कभी सम्भव नहीं था—यद्यपि बाद के इन दासों के स्वामी सामन्तों की अपेक्षा, प्रजा की लालसा वे अधिक करते थे। साम्य संघ की नारी को वैदिक लेखक निस्संकोच होकर स्पष्टता से 'जनी' कहता था—जिसका अर्थ 'सन्तान पैदा करने वाली' होता है। और जो कुछ उसके द्वारा उत्पन्न होता था उस पर उसका अधिकार होता था तथा उसे 'जन' कहा जाता था। उनके मन में यह विचार ही नहीं उठ सकता था कि कोई सन्तान किसकी है, इसका क्षेत्र कौन है और इसका बीज क्या है? क्योंकि उन दिनों कोई भी ऐसी सम्पत्ति नहीं थी जिसको वह अपनी कह कर अलग रख सकता हो। पिता के शासन का जन्म तब नहीं हुआ था। नारी चल संपत्ति है और सन्तान उत्पन्न करने का साधन मात्र है—ये सिद्धान्त दासता के उस युग में बने थे जब धन का उत्पादन अपने स्वामी के लिए

करने के लिए मनुष्यों को पकड़ कर बेच दिया जाता था। उसी तरह से उस धन का उत्तराधिकारी पैदा करने के लिए नारी को लाया जाता था। युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया था :

"अगर बीज का स्वामी उससे उत्पन्न सन्तान का त्याग कर देता है तो वह पुत्र उसका हो जाता है जिसकी पत्नी से वह सन्तान उत्पन्न की गयी है। वह सन्तान जिसे अध्युध कहा गया है उस पर भी यही नियम लागू होता है। वह उसका होता है जिसके बीज से उसकी उत्पत्ति होती है। और अगर बीज का स्वामी उस पुत्र को छोड़ दे तो उस पुत्र की माता के पति की सन्तान वह हो जाता है। धर्म यही कहता है—इसको जानो।"

हिन्दू पुराणपंथी जिसको प्रमाण मानते हैं—वे मनु भी ऐसा ही कहते हैं।*

समूहवाद और युग्म-परिवार के युग में सन्तानें गण माताओं की होती थीं। जब पिता उस माता को छोड़ देता था, तो सन्तान माता के पास रहती थी जैसा कि हम विख्यात भीम, अर्जुन, आदि के बारे में देख चुके हैं। लेकिन दासता के युग में नारी को खरीदा और बेचा जाता था, अपने स्वामी द्वारा पशुओं की भांति नारी किराये पर बेच दी जाती थी या उधार दी जाती थी। और इस सब का उद्देश्य यही होता था कि "संपत्ति के उत्तराधिकार के लिए" शुद्ध सन्तानें, तथा दासी नारियों से "परिश्रम द्वारा संपत्ति का उत्पादन करने वाली सन्तानें" उत्पन्न की जायें।

नारी के प्रति इस तरह का व्यवहार केवल पत्नी तक ही सीमित नहीं था वरन पुत्रियों और अन्य नारियों के साथ भी यही व्यवहार सम्भव था। पुत्री को लगातार किराये पर उठाने की लम्बी कहानी ऋषि गालव की कथा के नाम से **महाभारत** के उद्योग पर्व में वर्णित है। ऋषि गालव को गुरु-दक्षिणा चुकानी थी। वे दरिद्र थे। इसलिए राजा ययाति से उन्होंने सहायता मांगी। राजा ययाति ने अपनी कन्या माधवी को उन्हें सौंप दिया। गालव ऋषि ने उस कन्या को क्रमश: तीन राजाओं के पास प्रत्येक से दो दो सौ घोड़ों के बदले में किराये पर दे दिया। प्रत्येक राजा ने एक-एक सन्तान उत्पन्न करने के बाद माधवी को उसके पिता के पास लौटा दिया। गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए ऋषि गालव ने उन घोड़ों और उस कन्या को अपने गुरु विश्वामित्र के हाथों में सौंपा। गुरु विश्वामित्र ने

* भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्त्तरि।
आहुरुत्पादकं केचिद परे क्षेत्रिणं विदुः।।**मनुस्मृति**, ९-३२.
सर्व भूत प्रसूतिर्हि बीजालक्षण लक्षिता।। **मनुस्मृति**, ९-३५.

पराशर स्मृति में भी कहा गया है:
ओघवाताहृत बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति
स क्षेत्री लभते बीजं न बीजी भोगमर्हति। ४-३२।

अति निन्दित भौतिकवादी भी बात को इतनी स्पष्टता से नहीं कह सकते थे

भी उससे एक सन्तान उत्पन्न की और उसे गालव के पास भेज दिया। बाद में ऋषि गालव ने उसे राजा ययाति के पास लौटा दिया। फिर इस बेबस नारी के कष्टों का अन्त नहीं हुआ। इन सब दासताओं से लौटने के बाद ययाति ने उससे स्वयंवर में अपने मन के मुताबिक पति चुनने को कहा। उस स्वयंवर में बहुत से राजा और धनी, युवक और अन्य लोग जमा हुए थे। लेकिन इतना हो चुकने के बाद माधवी के मन में जीवन, और नर की गुलामी करने, के प्रति इतनी घृणा हो गयी थी कि पहले तो उसने सबको नमस्कार किया और फिर व्रत, तपस्या आदि करने के लिए बन में चली गयी तभी वह नारी की दासता और वर्ग समाज से मुक्ति पा सकी थी।[1]

पितृसत्ता के अधिकारों—दासों के अधिकारी पति के अधिकारों की सीमा इतनी ही नहीं थी कि वह अपनी पत्नी, पुत्री या पुत्र को दूसरों को किराये पर दे सकता था, वरन उनके जीवन पर भी उसका पूरा अधिकार होता था। अपनी इच्छा के अनुसार वह उनके प्राण तक ले सकता था। साम्य संघ के युग में गोत्र विवाह में जो स्वतंत्रता थी उसमें और नारी के प्रति इस व्यवहार में जमीन-आसमान का अन्तर था। तब नारी की प्रतिष्ठा थी। जीवनदायिनी होने के कारण माता पवित्र मानी जाती थी। और माता की हत्या करना सबसे बड़ा पाप माना जाता था। दास-युग में जब उस सिद्धान्त को लेकर चलने की कोशिश की गयी तो दासों के स्वामी वर्ग के स्वार्थों के विरोध में यह सिद्धान्त टकराता था। वह वर्ग अपनी संपत्ति पर पूरा अधिकार चाहता था। अपनी संपत्ति में दासों के साथ-साथ वह पत्नी और पुत्र आदि को भी गिन लेता था।

नारी ने अपने स्वत्व की रक्षा के लिए संघर्ष भी किया, कुछ स्थानों पर साम्य संघ की पुरानी रूढ़ियों ने जीवित रहने की कोशिश की। पर दासों के स्वामी पुरुष ने उन सबको निर्दयता और कठोर हिंसा के द्वारा दबा दिया। इस बात का विवरण हमें तीन कथाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है। सुदर्शन और ओघवती, गौतम और गौतमी तथा जमदग्नि और रेणुका की कथाओं में इसको स्पष्टता से देखा जा सकता है। वे कथाएं यह भी बताती हैं कि किस प्रकार गोत्र-साम्य संघ युग की रीति और विचारधारा दास युग में बदल गयी थी। ऋषि सुदर्शन आश्रम से कहीं बाहर गये थे। आश्रम में उनकी पत्नी ओघवती थी। एक ब्राह्मण अतिथि उस आश्रम में आया। उसको केवल भोजनादि से ही प्रसन्न नहीं किया गया किन्तु गण-गोत्र की परंपरा के अनुसार उसके साथ ओघवती सोई भी थी। जब सुदर्शन ऋषि लौट कर आये और उन्होंने अपनी पत्नी के व्यवहार को सुना तो बहुत प्रसन्न हुए—क्योंकि उसने अतिथि सेवा का कर्तव्य पूरी तरह से निभाया था। यह घटना उस युग की है जब गणों का प्रसार दूर-दूर के क्षेत्रों तक हो चुका था। साम्य संघ टूट रहा था। और इसलिये प्राचीन यूथ-विवाह की रूढ़ि का विरोध नारी कर रही थीं। वे अब अपने

[1] महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय १२०।

पतियों के साथ युग्म रूप के परिवारों में रह कर स्वतंत्र कुटुम्बों की रचना कर रही थीं। इसीलिए सुदर्शन ऋषि इस बात से डरते थे कि कहीं उनकी पत्नी अतिथि-सेवा के व्रत का पालन ठीक प्रकार से न करे और इसलिए जब उन्होंने पूरा वृतान्त सुना तो उनको प्रसन्नता हुई कि उनका वह भय निर्मूल था—ओघवती ने प्राचीन रूढ़ि का विरोध नहीं किया था।

दूसरी कथा में युग बदल गया है। गौतम ऋषि आश्रम में नहीं थे। उनकी पत्नी गौतमी (अहिल्या—अनु.) आश्रम में थी जब इन्द्र अतिथि के रूप में वहां पहुंचे। उन्होंने गौतमी के साथ संभोग किया। बाद में यह सुन कर गौतम ऋषि बहुत कुपित हुए। उन्होंने अपने पुत्र चीरकरी से गौतमी का सर काट लेने के लिए कहा और वे चले गये। पुत्र विचार संकट में पड़ गया। वह जानता था कि पुरानी परम्परा और शास्त्र के अनुसार उसकी माता ने ठीक ही किया था। और वह यह भी जानता था कि वह उसका पुत्र है इसलिए अपनी माता की हत्या नहीं कर सकता। माता की हत्या करना सबसे बड़ा पाप होगा। लेकिन नये युग के अनुसार—नये वर्ग संबंधों, कुटुम्बों और वर्ग शास्त्र के अनुसार उसको अपने पिता की आज्ञा का पालन करना आवश्यक था।* उसने रुक कर विचार किया। जब गौतम लौट कर आये तो उनका क्रोध शांत हो गया था। उन्होंने उस आचरण को

* पितुराज्ञा परोधर्म स्वधर्मो मातृरक्षणम्।
अस्वतंत्रं च पुत्रत्वं किं तु मां नापीड्यते।
स्त्रियं हत्वा मातरं च को हिजातु सुखी भवेत।
पितरं चप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठा माप्नुयात्।।१२।।

इस उद्धरण में परस्पर विरोधी विचार बहुत मनोरंजक हैं :

पिता की आज्ञा मानना दूसरों द्वारा कहा हुआ धर्म (परोधर्म) है। माता की रक्षा करना अपना स्वाभाविक धर्म (स्वधर्म) है। लेकिन दास युगों में आकर पुत्र ने अपनी स्वतंत्रता को खो दिया था। इसलिए उसको यह अधिकार नहीं था कि वह गण धर्म का पालन कर सके और पिता की आज्ञा से इंकार कर माता की आज्ञा का पालन करे। माता की हत्या करने से उसके परंपरागत भावों को चोट पहुंचेगी और उसे कष्ट होगा। पर पिता की आज्ञा न मान कर समाज में उसे प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। माता की सत्ता अतीत में थी और अब खत्म हो रही थी। पिता की सत्ता उठ रही थी और भविष्य में शक्तिशाली होने जा रही थी।

नयी व्यवस्था के अनुसार किसका फल अधिक भयंकर था? माता की हत्या एक ओर थी, दूसरी ओर पिता के वचनों का न पालन करना मात्र था। यहां पर दासों के स्वामी के एकाधिपत्य का नंगा रूप देखा जा सकता है।

प्राचीन युग को याद रखिये। जब दीर्घतमा व्यर्थ में उल्टी-सीधी बातें ज्यादा बोल रहा था तो अपनी माता की आज्ञा से उसके पुत्रों ने उसके हाथ पैर बांध कर साम्य संघ से बाहर निकाल दिया था। इसी प्रकार से श्वेतकेतु ने जब अपनी माता को एक गोत्र-मित्र के साथ जाते हुए देख कर रोका था तब

ठीक मान लिया और संतुष्ट हुए। इस घटना में माता और पुत्र विजयी हो गये थे—पर इसलिए नहीं कि वह उनका अधिकार था—बल्कि इसलिए कि नया धर्म अभी इतना शक्तिशाली नहीं हुआ था।

तीसरी कथा, जमदग्नि और रेणुका की कथा में रेणुका ने एक बार गंधर्व चित्ररथ को प्रेम की दृष्टि से देख भर लिया था। जमदग्नि ने अपने पुत्र परशुराम को यह आज्ञा दी कि वह अपनी माता की हत्या कर दे। परशुराम ने तुरन्त अपने पिता की आज्ञा का पालन किया और रेणुका को मार डाला। यहां पर नारी के जीवन के ऊपर पितृसत्ता ने अपना पूरा अधिकार कर लिया था। इस युग में नारी का कोई व्यक्तित्व, उसकी कोई स्वाधीनता और उसका कोई विचार अपना नहीं रह गया था। दास-स्वामी के निर्दय, भयंकर, हिंसात्मक एकाधिपत्य ने उसकी स्वाधीनता और उसके व्यक्तित्व का नाश पूरी तरह से कर दिया था।

इन तीन कथाओं से हमें मालूम हो जाता है कि निजी संपत्ति और परिवार की उत्पत्ति, पुरुष का शासन और नारी को दासी बना कर उसका अपहरण किस प्रकार से सम्भव हुआ था? आज की दलित भारतीय नारी के पास कोई अधिकार, कोई व्यक्तित्व, कोई प्रतिष्ठा और कोई आजादी बाकी नहीं रह गयी है। वह संस्कृति और प्रेम, सदाचार और नैतिकता, आदर्शवादी दर्शन और भारत के असाधारण अध्यात्म से उत्पन्न नहीं हुई है—यह नारी जिसको आज हम अपने सामने देख रहे हैं दास-स्वामी वर्ग के हिंसात्मक एकाधिपत्य के हाथों से गढ़ी गयी है।

इस विकास के पीछे कौन सी मूल-शक्ति काम कर रही थी? केवल हिंसा द्वारा इसको नहीं किया जा सकता था। पुरुष की इस हिंसा के पीछे वह शास्त्र या धर्म था जिसको नयी शासन-सत्ता व्यवहार में ला रही थी और उस शासन-सत्ता की उत्पत्ति, उत्पादन की नयी शक्तियों तथा संपत्ति और समाज के नये संबंधों से हुई थी। साम्य संघ के अन्त, निजी संपत्ति के उदय तथा वर्ण और वर्गों के अस्तित्व ने इस नये परिवार की रचना की थी जिसके अन्दर नारी के पारिवारिक परिश्रम का कोई सामाजिक मूल्य नहीं रह गया था। उस व्यवस्था में दासों द्वारा खेतों और छोटे कारखानों में किया गया सामाजिक परिश्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उससे जो संपत्ति उत्पन्न होती थी उसे निजी संपत्ति की हैसियत से पुरुष आत्मसात् कर लेता था।

निजी संपत्ति के उदय होने पर शूद्र दासों के साथ-साथ नारी ने भी अपनी स्वाधीनता खो दी। सदियों बाद जब दासों को रखने की निजी

उसे इस अज्ञान के विषय में चुप कर दिया गया था। साम्य संघ के अन्त के साथ-साथ स्वाधीन और सुखी मातृत्व का नाश हो गया था। नारी का पति उसके लिए दासों को हांकने वाला और पुत्र उस पिता की आज्ञा को व्यवहार में लाने वाला हो गया। दिव्य धर्म और शास्त्र पुरुष की ओर हो गये और उसने नारी को भविष्य में सदियों के लिए निहत्था कर दिया।

संपत्ति का अन्त हुआ तो दूसरी प्रकार की निजी संपत्ति का उदय हुआ—उसका स्वामी सामन्ती जमींदार होता था। जब उसका भी अन्त हो गया तो पूंजीपति की निजी संपत्ति का उदय हुआ। इसलिए नारी की दासता की दशाएं भी उसी प्रकार से बदलती चली गयीं। दासी से वह चेरी (Serf) बनी और चेरी से सर्वहारा हो गयी। लेकिन उसकी दासता कभी नहीं मिटी।

इसलिए नारी की स्वाधीनता का प्रश्न कोई नैतिक, आचार शास्त्र या अध्यात्म का प्रश्न नहीं है बल्कि वर्ग-शासन का प्रश्न है।

जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर यह देखा जा सकता है कि नारी को स्वाधीन बनाने और उसे पुरुष के बराबर बनाने का काम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसको निजी पारिवारिक परिश्रम की सीमाओं से बाहर निकाल कर सामाजिक उत्पादन के परिश्रम में नहीं लगाया जाता। नारी तभी स्वाधीन हो सकती है जब वह सामाजिक उत्पादन में बहुत बड़ी संख्या में भाग लेने लगे और पारिवारिक परिश्रम में उसे कम से कम समय देना पड़े। इस युग में नारी की स्वाधीनता सम्भव होने लगी है। इस युग के आधुनिक उद्योग-धंधों में बड़ी संख्या में नारी को सिर्फ काम करने का अधिकार ही नहीं दिया गया है बल्कि उसकी मांग भी की गयी है। दूसरी ओर इन मशीनों के द्वारा परिवार के सबसे अधिक कठोर परिश्रमों को सार्वजनिक उद्योग-धंधों में बदला जा रहा है। नारी की स्वाधीनता पूरी तरह से तभी सम्भव हो सकेगी जब बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों का समाजीकरण होगा और वर्गों को नष्ट कर दिया जायगा।

इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय पूंजीवाद के नेतागण क्यों पारिवारिक परिश्रम के गुण गाते हैं? जब कि उसके उद्योगों के कप्तान (पूंजीवादी उद्योग-धंधों के कप्तान=सेठ-मालिक आदि—अनु.) अपनी मिलों में नारी के सस्ते परिश्रम को काम में लाते हैं। ये दोनों मिल कर नारी और समाज की स्वाधीनता की असली राह को कुहरे से ढक कर उसे देखने नहीं देते। असलियत यह है कि नारी की स्वाधीनता का मार्ग न तो पारिवारिक परिश्रम में है और न मध्य-वर्गीय "शिक्षिता कमाने वाली नारी" बनने में ही है। यह रास्ता सामाजिक क्रांति में है, वैसी सामाजिक क्रांति में है जो उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत संपत्ति का, वर्ग-शासन का और साथ ही साथ नारी के ऊपर पुरुष की सत्ता का नाश करे। लेकिन इस समय हम इस बात पर विवाद नहीं कर रहे हैं।

अध्याय ११

असंधेय* आत्म-विरोधों का संघर्ष

आर्यों का प्राचीन साम्य संघ तेजी से टुकड़े-टुकड़े होकर गिर रहा था। वह ऐसे आत्म-विरोधों द्वारा टूट रहा था जिनमें परस्पर कोई समझौता नहीं हो सकता था। यज्ञ-पद्धति के उत्पादन के अनुसार जिस प्राचीन धर्म की स्थापना हुई थी और चूंकि वह उत्पादन-पद्धति स्वयं टूट रही थी, इसलिए उसके अन्तर्गत इन विरोधों का समाधान नहीं हो सकता था। उत्पादन के साधनों में विकास होने के कारण उत्पादन के नये संबंध अस्तित्व में आ गये थे और प्राचीन यज्ञ गण गोत्र संबंधों के विरोध में वे संघर्ष करते हुए ऊपर उठने की कोशिश कर रहे थे। स्वाधीनता और समानता के आधार पर टिकी हुई सामूहिक संपत्ति की व्यवस्था को दास व्यवस्था के आधार पर रची गयी निजी संपत्ति मिटाने की कोशिश कर रही थी। आर्यों के गणों को एक हिंसात्मक गृह युद्ध छिन्न-भिन्न कर रहा था। पिछले अध्यायों में हमने जिन आत्म-विरोधों को विकसित होते हुए देखा था उनको हम पहले एक साथ देखेंगे, फिर उस गृह युद्ध का और उसके परिणाम—गण-विधान का अन्त और शासन-सत्ता का उदय—का वर्णन करेंगे।

सामूहिक यज्ञ के परिश्रम द्वारा रचे गये छोटे साम्य संघ पहले विस्तृत होने लगे, फिर बंट गये और इस प्रकार उनकी संख्या बढ़ती गयी। जो पहले एक था वह अनेक हो गया, जो पहले छोटा था वह विशाल हो गया। यही प्रजापति की कामना थी। और यह सब पशु तथा अग्नि के द्वारा सम्भव हुआ था।

"बहुतों के साथ एक का संबंध कैसे संगठित किया जाय?" इस प्रश्न ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। कृत युग का एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता हुआ वन्य गण अब दूर-दूर तक फैले हुए त्रेता युग के संबंधी गण-गोत्रों के रूपों में विकसित हो गया था। उत्पादन करने और अपनी संख्या वृद्धि करने से, महान यज्ञ की सार्वजनिक अग्नि के चारों ओर परिश्रम करने और उसका उपभोग करने में तथा गोत्र साम्य संघ के प्राकृतिक एवं स्वाभाविक नियमों का पालन करने से अर्ध वन्य अवस्था के प्रथम भाग की समस्याएं सुलझ गयी थीं।

परिश्रम और धन बढ़ता गया। इस बढ़ती की वजह से श्रम के विभा-

* जिनके बीच समझौता न हो सकता हो, ऐसे आत्म-विरोध—अनुवादक

जन की आवश्यकता पैदा हुई। दस्तकारी, खनिज का काम, धातुओं का काम, और खेती का काम आरम्भ हुआ। इनसे नयी समस्याओं का भी जन्म हुआ। गण साम्य संघ के अन्दर वर्णों का विभाजन हो गया। उन वर्णों के अलग-अलग आर्थिक परिश्रम थे। फिर समूह की सीमा के अंदर ही यह विभाजन हुआ था। प्राचीन अखंड गण की आर्थिक व्यवस्था के गर्भ से खण्डों में विभक्त वर्ण आर्थिक व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। गण के अधिकार वर्णों के अधिकारों से टकराने लगे।

एक क्षेत्र के गणों और कबीलों में कुछ विशेष प्राकृतिक वस्तुओं तथा धन के विभिन्न रूपों का उत्पादन होता था। उन वस्तुओं को लेकर वे दूसरे गणों के सम्पर्क में आते थे जिनके पास उनके अपने उत्पादन होते थे। इससे विनिमय का प्रारम्भ होने लगा। उपभोग के लिए जो उत्पादन होता था उससे विनियम के लिए किये गये उत्पादन की महत्ता ज्यादा बढ़ गई। 'हवन' के लिए जो उत्पादन होता था वह पीछे पड़ता गया और 'हिरण्य'[1] के लिए उत्पादन बढ़ता गया।

विनिमय ने सामूहिक उत्पादन और सामूहिक अधिकार का भी नाश कर दिया। निजी उत्पादन और निजी अधिकार का मतलब यह था कि निजी संपत्ति का आगमन हो गया था। उस समय तक जिन विभागों और विरोधों को कोई जानता भी नहीं था, वे नये विभाग और विरोध उन सगे संबंधियों और एक गण के अन्दर ही प्रकट होने लगे। यह विरोध और विभाग अमीरों तथा गरीबों में था। गण दुर्दशा की अवस्था में पहुंच चुका था। जब आर्थिक समस्याओं का हल और किसी प्रकार से नहीं मिल सका तो उसने धार्मिक या नैतिक प्रचार से समस्या को हल करने की चेष्टा की। उसने यह मांग उठायी कि लोग 'हवन' और 'दान' के नियमों का पालन कठोरता से करें—जैसा कि प्राचीन प्रथा के अनुसार उत्पादन का उपभोग, वितरण और उपयोग होता चला आया था। पर यह उपदेश असफल रहा। कौन शक्ति इसको लागू कर सकती थी? ब्रह्म-क्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय—अनु.) इस उपदेश को नहीं मानते थे और सम्पूर्ण हवन तथा दान का उपभोग वे स्वयं करना चाहते थे। वर्ण-विभाजन के आधार पर संपत्ति एकत्र हो रही थी। यद्यपि हर वर्ण में धनी और दरिद्र होते थे, फिर भी साधारण रूप से ब्रह्म-क्षत्र वर्ण दासों और पशुओं के स्वामी बन चुके थे। सम्पत्तिशाली वर्ग होने के कारण विशों और शूद्रों के परिश्रम के शोषक भी ये ही वर्ण हुए। इस तरह से वर्ण-भेद शीघ्रता से वर्ग भेद में बदल गया और आत्म-विरोध उठ खड़ा हुआ। ''एक ही गण में संपत्ति या धन के अन्तर के कारण उसके हितों की एकता खंडित हो गई और उसके सदस्यों के बीच विरोध पनपने लगा'' (कार्ल मार्क्स)। ब्रह्म-क्षत्र की सम्पत्ति विशाल विश् लोकतंत्रवाद के अधिकारों के विरोध में खड़ी हो गई।

1. कार्मारो अश्मभिद्युभि **हिरण्य** वन्तमिच्छन्तीन्द्रायेन्द्रो परिस्रव। ऋ. ९-१११।

विनिमय ने मुद्रा को जन्म दिया। मुद्रा द्वारा धन का संचय करना आसान हो गया। और वे लोग जो धन का संचय करते थे उस वर्ण के होते थे जिनको परंपरा और अधिकार के द्वारा शक्ति और अस्त्र प्राप्त थे। वे युद्ध-संचालन की क्रिया में निपुण और आर्थिक व्यवस्था की विद्या में कुशल थे। धनी और दरिद्र, शोषक और शोषित के बीच यह विरोध बढ़ता गया। गण संपत्ति का संघर्ष वर्ण संपत्ति से होने लगा। यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि "क्या धन यज्ञ के लिए है अथवा अपने संचय और भोग के लिए?"[1]

उत्पादन और धन की बढ़ती ने युद्ध बंदियों को मृत्यु का शिकार होने से बचा कर उन्हें मजदूर और दासों में बदल दिया था। आर्यों के गाम्य संघ में शूद्रों की दासता का प्रवेश हो चुका था। समाज दो विरोधी भागों में खंडित हो गया था—एक भाग वह था जो दासों और धन का स्वामी था और दूसरा भाग वह था जो अपने स्वामियों की दासता करता था।

सगे संबंधियों अथवा रक्त संबंधियों के गण में वे लोग भी शामिल होने लगे जो उसी रक्त के अथवा सगे संबंधी नहीं थे। उदाहरण के लिए शूद्र उत्पादक, दूसरे गणों के व्यापारी तथा अन्य लोग गण में शामिल कर लिए जाते थे। गण नियमों के पास इन अपरिचित नई आर्थिक शक्तियों और वर्गों के लिए, जो प्राचीन बद्ध (Closed) आदिम साम्य संघ में और उसके क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे, कोई विधान नहीं था। इन नये संबंधों को बांधने के लिए नये शास्त्र या विधान की आवश्यकता थी जो यह निर्धारित करता कि अब आर्थिक, वैवाहिक संबंध किस प्रकार से संचालित होंगे। गण के प्राचीन नियमों के साथ-साथ या विरोध में इन नये नियमों को प्रकट होना था। विरोध में इसलिए कि नये नियमों का आधार विनिमय और निजी संपत्ति था जब कि प्राचीन गण नियमों का आधार सामूहिकता था।[2] इससे एक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। गण-गोत्र के साथ ही गण-राष्ट्र का जन्म भी हो गया। गोत्र केवल सगे

[1] उपनिषदों ने यह उपदेश देना शुरू किया "त्याग द्वारा उपभोग करो, किसी दूसरे के धन की इच्छा या कामना मत करो।"
'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम।।ईशोपनिषद।

[2] यहां नये धर्म और नये नियमों का उदय होता है। पहले के गण-गोत्र संगठन में इनका स्थान नहीं था।

जातिजान पदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्।।मनु. ८-४१।।

इस स्थान पर यह विधान रखा गया है कि अगर श्रुति और दूसरे धर्म शास्त्रों में विरोधी नियम मिलें तो अन्य धर्म शास्त्रों को छोड़ कर श्रुति के नियमों का पालन किया जाये। लेकिन वास्तव में जो अन्य धर्मशास्त्रों में लिखा होता था वह नई अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता था, इसलिए वही

संबंधियों को ही मान्यता देता था जब कि राष्ट्र उन सबको मान्यता देता था जो किसी एक प्रदेश और उसकी एक आर्थिक व्यवस्था में रहते हों—उसमें संबंधी और असंबंधी मिले-जुले होते थे।

निजी संपत्ति ने साम्य संघ के परिवार और घर को नष्ट कर दिया था। उसके अन्दर और उसके विरोध में ऐकान्तिक परिवार का जन्म अपनी संपत्ति और अपने उत्तराधिकार आदि को लेकर हुआ। **गण** का विरोध **कुल** से और **प्रजापति** का विरोध **गृहपति** से हो गया। निजी परिवार की गृहाग्नि के सामने साम्य संघ की त्रेताग्नि तुच्छ होकर पीली पड़ गयी। सार्वजनिक हवन के स्थान पर निजी भोजन पकाया जाने लगा। गण और देवताओं को संतुष्ट तथा धोखा देने के लिए उसका नाम पाक यज्ञ रखा गया। बड़ी यज्ञों का होना बंद हो गया। उनके स्थान पर छोटी व्यक्तिगत 'इष्टियां' होने लगीं। ये 'इष्टियां' धनी गृहपति अथवा व्यक्ति गृहपति की अपनी स्वार्थमयी लालसाओं को पूरा करने के लिए की जाती थीं। ये काम्य-इष्टियां[1] कही जाती थीं। पहले गण के सब सदस्य सार्वजनिक गृह (साम्य संघ) की अग्नि के चारों ओर एकत्र होकर भोजन करने में भाग लेते थे। उस प्रथा को निजी अधिकारों ने नष्ट कर दिया था। अब ये लोग 'बलि' के चिन्ह रूप में देवों को उनका भाग देते थे। अतिथि और भिक्षुकों को भी कुछ भाग देते थे। मरणासन्न गण के अब ये ही प्रतिनिधि बाकी बच रहे थे। 'अतिथि सेवी' होने का गौरव पाने के लिए स्वार्थी गृहस्थ ने अपने भोजन का कुछ भाग इन लोगों को देना मंजूर कर लिया था।

माना जाता था। श्रुति के अर्थ को वह अपनी इच्छा के अनुसार तोड़-मरोड़ देता था और इस तरह यह काम सफल हो जाता था।

1 साम्य संघ की सामूहिक आर्थिक-व्यवस्था का व्यक्तिगत आर्थिक व्यवस्था में जो परिवर्तन हुआ उसकी छाया प्राचीन बड़ी सामूहिक यज्ञ-यागों के ऐकांतिक परिवार की छोटी इष्टियों के रूप में परिवर्तन पर पड़ी। दरिद्र विश् गृहस्थ ने इष्टि को प्राचीन यज्ञ का व्यंग्य-चित्र बना दिया। अपनी छोटी यज्ञ में दरिद्रता के कारण वह पशु की बलि नहीं दे सकता था जैसा कि प्राचीन बड़ी सामूहिक यज्ञ में होता था। इसलिए असली पशु के स्थान पर वह अन्न या आंटे के बने हुए पशुओं की बलि देकर उन्हें हवन की अग्नि में रखता था। सजीव पशुओं पर धनियों का अधिकार था। दरिद्र लोग अपने को और अपने देवताओं को आंटे के बने पशुओं से संतुष्ट करते थे (जैसे दर्शपूर्णमास का पुरोडाश और अग्निहोत्र तथा मधुपर्क की अनुस्तर्णी थीं)। गायों का मारा जाना अब बन्द हो गया था। इसलिए नहीं कि गाय पवित्र मानी जाती थी, बल्कि इसलिए कि गायें अब कठिनता से प्राप्त होती थीं, धनियों का उनके ऊपर एकाधिपत्य था। विश् के व्यक्ति खाने के लिए गाय को नहीं मार सकते थे। उसका मूल्य चुकाना उनकी शक्ति के बाहर था।

निजी परिवार, गृह और संपत्ति के बढ़ने के साथ-साथ पितृसत्ता और पुत्र का उत्तराधिकार भी प्रमुख होता गया। पितृसत्ता ने मातृसत्ता को दबा दिया। नारी के ऊपर पुरुष का शासन सबसे अधिक शक्तिवान हो उठा। पत्नियों का विरोध पति से और पुत्रों का विरोध माताओं से होने लगा।

जब सामूहिक संपत्ति के अधिकार और जीवन के स्थान पर निजी संपत्ति के अधिकारों और जीवन का जन्म हुआ तो वेद-सूत्रों के विरोध में गृह्य-सूत्रों का जन्म हुआ। गृह्य-सूत्रों के नाम से ही मालूम होता है कि उनका उदय निजी संपत्ति से ही हुआ था। वेद विलीन होने लगे। संहिताओं के रूप में उनकी रक्षा करना आवश्यक हो गया—क्योंकि अब वे विधि-मात्र ही रह गये थे। उनका विकास और उनकी प्रगति रुक गई थी और लोग उनको भूलने लगे थे।* सूत्र प्रमाण माने जाने लगे। वेद की विधियों से उनका विरोध भी हो जाता था। गृह्य (विधि—अनु०) यथार्थ हो गये और वेद अयथार्थ (स्मृति या यादगार) होने लगे। ठीक उसी तरह जैसे निजी संपत्ति यथार्थ और प्रमुख हो रही थी और सामूहिक संपत्ति अयथार्थ होकर मिट रही थी—यद्यपि पूरी तरह से अभी नहीं मिट पाई थी। इसलिए शास्त्रकारों ने लिखा था कि उनके नये सूत्र और स्मृतियों में जो कुछ लिखा हुआ है वही धर्म है। पर अगर कभी नये धर्म और पुरानी श्रुति में कोई विरोध हो तो उन दोनों में श्रुति ही ज्यादा प्रामाणिक मानी जाय। लेकिन यह सिर्फ कहने भर के लिए ही प्रमाण था। व्यवहार में नयी शक्तियां शासन करती थीं और उनका कर्म शास्त्र प्रमाण माना जाता था।

प्राचीन गण में जिन अधिकार-पदों को चुनाव द्वारा तय किया जाता था वे अब पैतृक-पद होने लगे। और शीघ्र ही गण-हितों के विरोध में व्यक्तिगत हितों की स्थापना हो चली थी। दासों के पुत्र भी दास होते थे। संपत्ति ही संपत्ति की उत्तराधिकारिणी थी। दरिद्रता को उत्तराधिकार में दरिद्रता मिलती थी। यह संघर्ष बढ़ता गया और तेज होता गया। आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग पूरे समाज का संचालन इस प्रकार से करना चाहते थे जिससे ये विरोध और भी बढ़ते जायं तथा अन्त में असंख्य कर्मठ जनता, अल्पसंख्यक स्वामी वर्ग के अधिकारों और शक्ति

* त्रेतायां संहता वेदा यज्ञावर्णास्तथैव च।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे।।शांति पर्व, २३८-१०४।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा।।२३८-१०१।

इस स्थान पर यह माना गया है कि वेदों को संहिता के रूप में रखने का काम वर्ण, श्रम-विभाजन और उससे उत्पन्न अन्य निष्कर्षों के साथ-साथ हुआ था। वेदों को संहिता के रूप में रखने का मतलब यह था कि यज्ञ का सामाजिक अस्तित्व खत्म हो रहा था।

के हित की दास बन कर रह जाय। जिसका अर्थ यह था कि विश्-शूद्र, ब्रह्म-क्षत्र के दास बन कर काम करें।

पशु और दस्तकारी के साथ-साथ उत्पादन की नयी शक्तियों ने भूमि को उत्पादन का सबसे अधिक प्रमुख साधन बना दिया था। प्राचीन गण में उसके सदस्य संघर्ष करते थे और प्रजा और पशु (प्रजा पशवा:) के लिए प्रार्थना करते थे। खेती एक अप्रमुख वस्तु थी, इसलिए भूमि का भी ज्यादा महत्व नहीं था। परन्तु जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ जब उनका जीवन सिर्फ पशुओं के आधार पर नहीं चल सका तो खेती की मांग बढ़ने लगी। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि खेती करने के लिए जमीन को जंगलों के वृक्षों से साफ किया जाय[1]। यह काम कांसे के हथियारों से नहीं हो सकता था। लोहे को पिघलाने का अन्वेषण हो चुका था। लम्बे-चौड़े जंगलों का सफाया कर दिया गया और शूद्र दासों तथा वैश्य जोतने वालों की सहायता से भूमि जोती और बोई जाने लगी।

गण के जीवन में जो महत्ता अभी तक 'पशु' की थी उसको दूसरा स्थान दिया जाने लगा और उसके स्थान पर इस नये युग में उत्पादन के साधनों में भूमि को प्रथम स्थान मिला। दस्तकारी का काम खेती से अलग कर दिया गया, छोटे नगरों से गांव भी अलग कर दिये गये। शूद्र-दासों पर अधिकार करने के साथ-साथ भूमि पर भी अधिकार करने के लिए क्षत्रियों के नेता युद्ध करने लगे। इन युद्धों ने गणों के संगठन पर काफी असर डाला। जहां पहले शान्तिपूर्ण सामूहिक लोकतंत्र था वहां अब सैनिक-लोकतंत्र हो गया। धीरे-धीरे गण के जो सैनिक अंग थे वे साम्य संघ से ऊपर उठने लगे और आखिर में उन्होंने उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

> "ज्यादा घनी आबादी इस बात को जरूरी बना देती है कि अन्दर और बाहर के कामों को और भी मजबूती से मिलाया जाय या एक किया जाय। संबंधी गणों को एक सूत्र में बांधने की जरूरत सब जगहों पर पड़ती है—और जल्दी ही उनमें आपस में मिलन होने लगता है। उसके अनुसार अलग-अलग गणों के क्षेत्र मिल कर एक होने लगते हैं। वह एक क्षेत्र या प्रदेश राष्ट्र कहलाता है। जनता के लिए उस समय युद्ध संचालक—रेक्स (Rex, राजन)[2]—की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। उसके बिना वह आगे बढ़ नहीं सकती। वह युद्ध संचालक एक स्थिर पदाधिकारी हो जाता है। जहां-जहां जन-सभाएं नहीं होतीं वहां-

[1] वृक्षों का लगाना और जंगलों का बढ़ाना नहीं, बल्कि जंगलों को साफ करना पुण्य माना जाने लगा। इसलिए महाभारत में खाण्डव जंगलों का जलाया जाना बहुत बड़ी सेवा माना गया है।

[2] कोष्ठ मेरे द्वारा बनाये गये हैं—लेखक।

वहां पर जन-सभाओं (The assembly of the people) का जन्म होता है। युद्ध का संचालक (राजा), काउंसिल (सभा) और जनता की सभा (विद्था) उस गण समाज के अंग थे जो सैनिक लोकतंत्र (गण संघ) में अपने को बदल चुका था। उस समाज में सेना भी एक प्रमुख अंग होती थी क्योंकि राष्ट्रीय जीवन के लिए युद्ध एक नित्य-कर्म हो गया था। उन लोगों में, जो धन की प्राप्ति को ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझते थे, अपने पड़ोसियों के पास धन को देखकर लोभ उत्पन्न होता था। वे अर्ध-वन्य अवस्था के निवासी थे। वे इस बात को ज्यादा आसान और असलियत में अधिक प्रतिष्ठामय समझते थे कि धन परिश्रम द्वारा न उत्पन्न कर छीन कर वीरतापूर्वक लिया जाय। वे युद्ध जो प्राचीन काल में बदला लेने के लिए अथवा घायल करने के लिए अथवा उन क्षेत्रों को विस्तृत करने के लिए किये जाते थे जो बहुत छोटे हो गये थे, अब एक तरह से खत्म हो गये थे। और उन सबके स्थान पर सिर्फ लूट करने के लिए ही युद्ध किये जाने लगे। युद्ध करना भी एक उद्योग-धंधा हो गया।"

(एंगेल्स, **परिवार की उत्पत्ति**)

धनी ब्रह्म-क्षत्र के परिवारों ने—जो दरिद्र विश् लोकतंत्र और शूद्र दासता के विरोध में धन का संचय कर रहे थे और अमीर बनते जा रहे थे—अपने चारों ओर नगरों और किलों को बनाना शुरू कर दिया था। उनको अपनी रक्षा सिर्फ बाहर के आक्रमणों से ही नहीं करनी थी, बल्कि अपने अंदर के विद्रोही मेहनतकशों का भी उनको भय था। गांव और नगरों का विरोध और भी तेज होता गया।

निजी संपत्ति के आधार पर उपज और धन की बढ़ती ने मेहनतकश विश् वर्ग और ब्रह्म-क्षत्र के स्वामी वर्ग के बीच की खाई और भी चौड़ी कर दी। विश् जितना ही दरिद्र होते जाते थे उतना ही वे विजित शूद्रों के निकट पहुंचते जाते थे। विश् लोग पहले तो विजयी त्रिवर्णों के अंश थे। तब वे शूद्र दासों पर अधिकार कर गर्व और प्रसन्नता का अनुभव करते थे। लेकिन निजी संपत्ति और दासता के तर्क ने उनको भी अपने जाल में फांस कर दासता तक पहुंचा दिया। एक दिन यही गर्वमय विश् अकेला ब्राह्मन का स्वरूप था—वही सर्वव्यापी साम्य संघ था। उसी से ब्राह्मन-क्षत्र वर्णों की उत्पत्ति हुई थी, उसी से वे भिन्न हुए थे। अब वही विश् इतना दरिद्र हो गया था कि भांति बन्धनों में डाल कर उसे बेचा जाने लगा। एक दिन कभी वह विजयी आर्यों का ही एक अंग था, इस वास्तविकता के कारण उसको यह अधिकार मिला था कि उसके जन्म, विवाह और मरण के संस्कार वैदिक विधि के अनुसार हो सकें। विजातीय शूद्र दास अपने को इस ऊंचे पद तक कभी नहीं उठा सकता था। यद्यपि सिद्धान्त में विश् अभिजात शासकों का ही एक अंग माना जाता था, फिर भी दिन प्रतिदिन

के व्यवहार में विश् को दास शूद्र के पद पर ढकेल दिया गया था। वे आर्य जो एक दिन औरों को दास बना कर अपनी उन्नति कर रहे थे अब उनको भी बेचा और खरीदा जा सकता था और दास बनाया जा सकता था। जब इस लोक में वह दरिद्र वर्ग तक पहुंचा दिया गया तो उसने अपने लिए दूसरे लोक में स्वर्ग रचने की कोशिश की। लेकिन वह भी जल्दी ही उसके हाथ से जाने वाला था। ब्राह्मणों के नेतृत्व में चलते हुए शासक वर्ग ने उस पर भी अपना एकाधिपत्य जमा लिया। विश् लोकतंत्र का अन्त पहले भूमि पर हुआ—और बाद को स्वर्ग में।

> ''लूट के युद्धों ने सेना के प्रमुख संचालक और अंग संचालकों की शक्ति को बढ़ा दिया। प्रथा के अनुसार परिवार के सदस्यों में से पद के उत्तराधिकारी का जो निर्वाचन होता था—विशेषतया पितृसत्ता हो जाने के बाद—उसको पैतृक उत्तराधिकार में बदल दिया गया। इस उत्तराधिकार को पहले तो लोग सहते रहे। फिर वह अधिकार बन गया। और बाद में उसको लेने के लिए लोग लड़ने लगे और उस पर जबरदस्ती अधिकार करने लगे। इस प्रकार से पैतृक राजस्व और पैतृक अभिजात्य (Hereditary royalty and hereditary nobility) की नींव रखी गई। इस प्रकार से साम्य जन संघों (Gentile) के विधान के सारे अंग, जिनकी जड़ें जनसाधारण, गण, यूथ (Phratry) या कबीलों में थी, उनसे अलग होकर टूट गये और साम्य जन संघ बिल्कुल अपने विरोधी रूप में बदल गया। पहले यह साम्य जन संघ, गणों या कबीलों का एक संगठन था जो अपने ऊपर स्वाधीनता से शासन करता था। बाद में इसका परिवर्तन ऐसा हुआ कि यह अपने पड़ोसियों को लूटने और मारने लगा। और इसीलिए उसके इस परिवर्तन के साथ साथ उसके वे अंग, जो जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते थे अब, अपने ही लोगों पर शासन और दमन करने वाले स्वाधीन अंग बन गये।''
>
> (एंगेल्स, **परिवार की उत्पत्ति**, पृष्ठ २३३-३४, मास्को संस्करण)

ब्रह्म-क्षत्र जनता का दमन करने लगे। शोषितों का दमन करने के साथ-साथ लूट का हिस्सा बंटाने के सवाल पर या शोषण की शक्ति पर अधिकार करने के लिए वे आपस में भी युद्ध करते थे। पहले समाज रक्त-मिश्रण से, यानी सगे संबंधियों के संभोग से उत्पन्न संतान से डरता था, परन्तु अब 'समाज' को यानी शासक वर्ग को एक दूसरा भय हो गया था—वर्ण संकर का भय। यह भय शासक वर्ग में बहुत ज्यादा था कि कहीं वर्ण आपस में घुल-मिल न जायें ? उस शासक वर्ग को यह डर था कि कहीं मेहनतकश शूद्र और दरिद्र विश् मिल कर समाज को उलट न दें और शोषकों की निजी संपत्ति, पितृसत्ता तथा राज-सत्ता को नष्ट कर प्राचीन गण की समानता और सामूहिकता की स्थापना न कर

लें। तब तो पूरे संसार का ही अन्त हो जायगा, प्रलय हो जायगी ! शासक-वर्ग कांप रहा था। शोषक और शोषितों के बीच युद्ध भड़कने लगे। शोषक यह कोशिश करते थे कि वे गण समाज के समूहवाद और साम्यता के उन अवशेषों को सदा के लिए मिटा दें जो प्रथा, रूढ़ि या धार्मिक-विधियों के रूप में अब भी चल रहे थे। और शोषित यह कोशिश करते थे कि वे निजी संपत्ति, धन, तथा अस्त्रों की राजकीय शक्ति को, मेहनतकश बहुसंख्यक जनता के सर पर सवार होकर उसे गुलाम बनाने से रोकें।

अध्याय १२

पाणिनि, कौटिल्य, यूनानी तथा अन्य लोगों द्वारा गण संघों का विवरण

अभी तक हमने यह देखने की कोशिश की है कि आर्यों के गणों का विकास किस समय में कौन सी दिशा में हो रहा था ? क्या इस बात का कहीं पर लिखा हुआ ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है कि जिन रूपों में हमने गणों का वर्णन किया है उन रूपों में उनका अस्तित्व यथार्थ में था ? और बाद में गृहयुद्ध और आक्रमणों ने उनके उस स्वरूप को तोड़ दिया तथा भारतीय इतिहास के बाद के साम्राज्यों का जन्म हुआ ? गणों के वर्ग संघर्षों का वर्णन करने के पहले हम इन प्रश्नों को लेंगे।

गणों के प्रारंभिक विकास की क्रमागत इतिहास सामग्री बहुत अनिश्चित है। अग्नि और पशु की खोज से लेकर यानी वन्य अवस्था से आर्यों का यज्ञ साम्य संघों में स्थापित होना, धातुओं को गलाने का अन्वेषण, बुनाई, विनिमय, वर्णों में श्रम का विभाजन, निजी संपत्ति और शूद्रों की दासता के उदय तक की अवधि कई सौ वर्षों का समय मालूम होती है। इस बात का अनुमान वैदिक ऋषियों द्वारा कहे गये ज्योतिष संबंधी निरीक्षण हैं—जिनका अर्थ लगाने की कोशिश आधुनिक विद्वानों जैसे तिलक, दीक्षित, केतकर आदि ने की है। यह बात किसी सीमा तक निश्चित है कि भारत में आ जाने के बहुत बाद, अच्छी तरह से स्थिर होने पर आर्य गणों ने वर्ण, निजी संपत्ति और शूद्रों की दास प्रथा को सर्वांगीण और स्थायी रूप में विकसित किया था। ऐतिहासिक क्रम के अनुसार महाभारत युद्ध के पहले इन सब का जन्म हो चुका था। परम्परा के कथनानुसार महाभारत के बाद ही से कलियुग का आरंभ होता है। सामाजिक संगठन के आन्तरिक प्रमाण भी इसी सत्य के साक्षी हैं।

मध्य एशिया के समुन्नत होते प्राचीन साम्य संघ से अलग होकर जब आर्य साम्य संघों की एक शाखा पूर्व दिशा की ओर चली तब उन साम्य संघों में खेती, श्रम का विभाजन अथवा सैनिक नेतृत्व विकसित नहीं हुआ था। इस काम को सबसे पहले असुरों ने किया। देवों के साम्य संघ और असुरों के साम्य संघ आपस में एक ही उत्पत्ति-स्रोत से संबंधित थे। परंपरा का यह कहना है कि असुरों ने जब खेती के द्वारा पौधों का विकास किया तो देवों ने उनका विरोध किया। लेकिन जब देवों ने यह देखा कि वास्तव में उन पौधों से अन्न निकलने लगा है तो वे भय-

भीत होकर इधर-उधर भागने लगे। देव-असुर युद्धों से हमें यह पता लगता है कि देव गण, शिल्प निपुणता या औजारों की निपुणता में असुरों से सदा पीछे रहे थे, और असुरों से ही उन्होंने दृढ़ सैनिक नेतृत्व की शिक्षा लेकर उसे अपने बीच स्थापित किया था। वैसा करने के बाद ही वे असुरों को हरा सके थे। इस तरह यह पता लगता है कि जब वे अपने मूल प्राचीन निवास भूमि से पृथक हुए थे तब मातृसत्तात्मक गण साम्य संघों की व्यवस्था को वे लोग अपनाये हुए थे और यज्ञ-प्रणाली के उत्पादन की व्यवस्था में वे रहते थे।

अफगानिस्तान के प्रदेश में और विशेष रूप से सिन्धु नदी के मैदानों, हिमालय के दक्षिण प्रदेश तथा पंजाब क्षेत्र में आर्य गणों ने वर्ण, सम्पत्ति, वर्ग और दासता को विकसित किया था। आर्यों के प्राचीन वैदिक क्रिया कलापों का संबंध इसी क्षेत्र से है।

आर्य गणों ने पूर्वी प्रदेशों पर आक्रमण एक साथ और एक ही लहर में नहीं किया था, बल्कि कई सौ वर्षों तक ये हमले चलते रहे थे। इसलिए कभी कभी ऐसा भी हुआ कि उन आर्यों को जो बाद में आये थे, भारत में पहले से बसे हुए आर्यों के साथ युद्ध करना पड़ा। इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में क्यों इन्द्र से इसकी प्रार्थना की गयी थी कि आर्यों के एक गण के विरुद्ध वह दूसरे आर्य की सहायता करें। ऋग्वेद में इन्द्र सभी आर्यों के नेता माने जाते हैं। उस मंत्र के दृष्टा ऋषि यह कहते हैं कि दस्यु (अनार्य—अनु.) और आर्य दोनों ही उनके शत्रु हैं और इन्द्र उनकी सहायता करें।

लगभग तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व से लेकर दो हजार वर्ष ईसा पूर्व के समय में आर्यों ने सिन्धु की घाटी पर आधिपत्य, वहां के मूल-निवासियों पर विजय तथा वर्ण व्यवस्था और दासता का विकास कर लिया था।

इसके परवर्ती काल में ही विभिन्न आर्य-गणों का विकास सैनिक लोकतंत्रवादी व्यवस्था (Military democracies) अथवा सीमाबद्ध आभिजात्यवादी व्यवस्था में हुआ था। तभी उनकी वर्ग-हीन सामाजिक व्यवस्था का विधान टूट गया था और संपत्ति तथा दासता के विकास में सहायक होने वाले नये सामाजिक संगठन की स्थापना हुई थी—यानी राज्य और वर्ग शासन की स्थापना की गई थी।

पशु धन, कृषि, दस्तकारी, विशु तथा शूद्र दासों के परिश्रम के आधार पर ही आर्यों का वैभव और शक्ति में उत्कर्ष हो सका, जिसकी सहायता से पूर्व की दिशा में गंगा की वादियों में उनका विस्तार हो सका। इसी अवस्था में गणों में परस्पर गृह युद्धों का प्रारंभ हो गया था, परशुराम और हैहय आदि के बीच वर्ण-युद्धों आदि की भी शुरूआत इसी काल में हुई।

गंगा की वादियों में पहुंचने के बाद आभिजात्य (Classical) हिन्दू दास शासन-व्यवस्था इस सीमा तक परिपक्व हो चुकी थी कि उसका

जन्म संभव हो सके। उसी काल में महाभारत का युद्ध भी हुआ। यह समय २,००० ईसा पूर्व से लेकर १,५०० ई. पू. तक का है। अधिक से अधिक महाभारत युद्ध के लिए यही समय निर्धारित किया गया है। कुछ लोगों का मत है कि महाभारत का युद्ध ३,००० ई. पू. हुआ था, लेकिन साधारणतया लोग इस मत का समर्थन नहीं करते।

महाभारत के युद्ध में परस्पर ध्वंस इतनी मात्रा में हुआ था कि कुछ समय तक किसी स्थान पर भी शक्तिशाली राज्य की स्थापना नहीं हो सकी। दास राज्यों (Slave-States) का विकास रुक गया और एक बार गण-संघों को जीवित रहने का फिर अवसर मिल गया। लेकिन बहुत ही अल्प काल के लिए यह संभव हो सका था। गंगा की वादी में केन्द्रीय अर्ध दास और अर्ध सामंती राज्यों की वृद्धि ने गण संघों का नाश कर दिया। हस्तिनापुर और पाटलीपुत्र के शक्तिशाली राज्यों से दूर हिमालय और विंध्याचल की घाटियों तथा सिंधु नदी की वादी की छाया में कुछ गण संघ फिर भी जीवित रह गये थे। उनमें से कुछ गण संघ तो सिकंदर के नेतृत्व में यूनानियों के भारत आने के समय तक वर्तमान थे। इन गण संघों का वर्णन सिकंदर के वंशावली-लेखकों ने किया था। उनके रहन-सहन का वर्णन उन्होंने भी उसी प्रकार किया था जैसा कि हमने अपने वर्णन में लिखा है।

यूनानी लेखकों के अलावा हमारे पास प्राचीन भारतीय व्यवस्था के विषय पर लिखने वाले स्वदेशीय लेखकों के प्रमाण भी वर्तमान हैं। उन सब सामग्री को एकत्र कर अगर हम अध्ययन करें तो यह संभव हो सकता है कि हम कुछ प्राचीन गणों के नामों और स्थानों का ठीक ठीक पता लगा सकें। उसमें से कुछ सामग्री तो ऐसी है जिसके द्वारा यह स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि महाभारत युद्ध अर्थात् दास-राज्य की अंतिम विजय के पहले, वे गण किन दशाओं में रहते थे।

जैसा कि वस्तुओं का स्वभाव है उसके अनुसार कोई भी यह आशा नहीं कर सकता कि आदिम साम्य संघों के युग के गण अपने उसी रूप में परवर्ती प्राचीन काल में भी वर्तमान रहे थे। लेकिन हमको ऐसे गणों का वर्णन लिखा मिलता है जो इस प्राचीन युग में अपने यथार्थ रूपों में वर्तमान थे और बाद में भी सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते थे। इन गणों की यह विशेषता बतायी जाती है कि ये **अराजक** अवस्थाओं में रहते थे और इस अराजक शब्द का वह कुत्सित अर्थ लगाया जाता है जो आधुनिक काल में अराजकतावाद से ध्वनित होता है। दास युग के लेखकों और राजतंत्र के प्रमुख पुरुषों ने ऐसे गणों का वर्णन इस ढंग से किया है कि जिससे यह पता लगे कि ये गण बहुत निंदनीय और त्याज्य थे। पर उस निंदा से भी हमें यह ज्ञात हो जाता है कि उन गणों की मुख्य विशेषताएं क्या थीं ? जैसा पहले कहा जा चुका है, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन **वैराज्य गणों** के वर्णन में यह कहा गया है कि उन गणों

के समाजों में 'अपने' और 'पराये' का प्रश्न नहीं उठाया जाता था। **अराजक** को तो खराबी में और भी दो कदम आगे बताया गया। महा-भारत के एक वर्णन में ऐसा लिखा मिलता है कि जब पहले सब लोग **अराजक** गण में निवास करते थे—तो परस्पर एक दूसरे को मारते हुए उन लोगों का नाश हो गया। तब वे लोग पितामह ब्रह्मा के पास गये, जिन्होंने उनको यह मंत्रणा दी कि वे एक राजा का निर्माण करें जो उनके ऊपर शासन करे। किन्तु ऐसा लगता है कि कुछ गण ऐसे भी थे जिन्होंने पितामह ब्रह्मा से यह कहा होगा कि अपनी मंत्रणा को और दासों के लिए राजतंत्रवाद की व्यवस्था को वे अपने पास ही रखें और वे गण **अराजक** व्यवस्था में ही रहते चले आये होंगे। **अचारंग** जैन सूत्रों में निम्न लिखित प्रकारों के गणों का अस्तित्व लिखा गया है : **अर्याणी, गणार्याणी, जुवार्याणी, दो-रज्जणी, वी-रज्जणी और विरुद्ध-रज्जणी।** इन छः प्रकारों के गणों में से हम पहले अर्याणी अर्थात् अराजक अथवा राजाहीन सामाजिक-व्यवस्था की विशेषताओं को देखें तो हमें यह पता लगता है कि इस प्रकार के गणों में निजी संपत्ति, वर्ग, दास और शोषण का सर्वथा अभाव था। इसीलिए कौटिल्य और महाभारत उनको घृणा की दृष्टि से देखते थे। प्राचीन युग की भांति इन गणों में लोग अभी भी मिल कर साथ काम करते थे और एक साथ भोजन करते थे। उस प्रकार के समाज का वर्णन हमें अथर्ववेद में प्राप्त होता है जिसमें गण-सदस्यों को संबोधित करते हुए यह कहा गया है कि :

> "...क्या तुम यहां पर परस्पर सहायता करते हुए, एक ही यष्टि के साथ-साथ चलते हुए और एक-दूसरे के प्रति सुन्दर आचरण करते हुए आये हो? तुम्हारा पान (पेय) सब के लिए एक सा ही होना चाहिए और तुम्हारे भोजन का भाग भी सब के लिए एक सा ही होना चाहिए। मैं तुम सब लोगों को एक ही प्रवृत्ति अथवा मार्ग में लगाता हूं।"*
> (ब्लूमफिल्ड द्वारा अनुवादित)

इसी प्रकार के समाज को जैन-यात्री ने भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दक्षिणी भारत में पाया था। सिकंदर के युग के यूनानी इति-हासकारों ने भी उसे देखा था और उनके विषय में यह लिखा था कि वे लोग वैभवशाली थे। नागरिक लोग एक साथ भोजन करते थे जैसा कि अथर्ववेद में लिखा मिलता है।[1] "किसी भी कला की अतिशयता को वे

* ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः साधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एव सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।
समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
(अथर्ववेदः ३,३०,५-६)

[1] गण के सहभोज केवल सामाजिक पिकनिक की भांति ही नहीं होते थे, बल्कि

श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, जैसे युद्ध की कला अथवा उसी प्रकार की छल कपट की कला को।'' (स्ट्राबो, १५, ३४, जयसवाल द्वारा उद्धृत।) यूनानी इन लोगों को मूसीकानी (Musicani) कहते थे—पता लगाने पर यह ज्ञात हो सका है कि उनका नाम मुचिकर्णिका था।

यह स्वाभाविक था कि इस प्रकार के अराजक गणों की संख्या परवर्ती इतिहास में बहुत ही कम रह गयी थी क्योंकि दास-राज्यों और निजी संपत्ति की व्यवस्था के पास अतीव ध्वंसात्मक शक्ति थी जो भारत में आदिम साम्य संघों को निगलती जा रही थी।

दूसरे प्रकार के प्रमुख गण वे होते थे जिसमें **वैराज्य** विधान चलता था। इस गण में भी राज्य और राजतंत्र का विकास नहीं हुआ था। फिर भी इस गण में वर्ण के रूपों में श्रम-विभाजन, संपत्ति की विषमता और पितृसत्तात्मक दासता का भी विकास हो गया था। एतरेय ब्राह्मण और यजुर्वेद में उन लोगों का उल्लेख किया गया है जो वैराज्य सामाजिक विधान के अनुसार रहते थे।

उत्तरी भारत में ये लोग उत्तरकुरु और उत्तरमाद्र थे, दक्षिण भारत में भी कुछ इसी प्रकार के और समाज थे। ये कुरु और मद्र हिमवत् में अर्थात हिमालय के प्रदेश में निवास करते थे।

इन कुरु और माद्रों की क्या विशेषताएं थीं ? वहां पर ''सम्पूर्ण **जनपद**[1] शासक के पद पर प्रतिष्ठित होता था'' जिसका अर्थ यह हुआ कि वहां पर लोकतंत्रवादी व्यवस्था थी। पर वह किसका लोकतंत्र था ? क्या यह प्राकृतिक आदिम गण संघों जैसा लोकतंत्र था ? नहीं। ऐसा नहीं था। कुरु और माद्रों के इस लोकतंत्रवाद को **वैराज्य** के नाम से पुकारा गया था; केवल इसीलिए नहीं कि उसमें पूरा जनपद शासक के पद पर आसीन होता था, बल्कि इसलिए भी कि वैराज्य के विधान के अनुसार, जैसा पुरुष सूक्त में कहा गया है, एक विशेष प्रकार के समाज का निर्माण हो रहा था। यह विशेषता क्या थी ? अभी तक उनमें तीन वर्ण ही होते थे, पर अब उन्होंने एक चौथे वर्ण—शूद्र की भी स्थापना कर ली थी। इस वर्ण की स्थापना के बाद उत्तरकुरुओं ने फैलना शुरू किया और वैभवशाली होने लगे। संपूर्ण भूमि पर वे अपना आधिपत्य जमा लेना चाहते थे। वे **विराट्** होने लगे। उन्होंने राज्य-व्यवस्था की ओर पहला कदम बढ़ाया था। उस राज्य-व्यवस्था का अर्थ—शूद्र दासों के ऊपर वैभवशाली त्रिवर्णों का शासन था। पुरुष सूक्त में इसी प्रकार के

आदिम साम्य संघों के जीवन का एक आवश्यक अंग होते थे—उन साम्य संघों में निजी संपत्ति और दासता का उदय नहीं हुआ था।

[1] '**जनपद**' का अर्थ लोग बहुधा सामान्य जनता से करते हैं जो पूरे तौर पर ठीक नहीं है। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ 'मूल गण के सदस्य' होता था जो नये शूद्र दासों और अन्य प्रतिकूल लोगों से भिन्न होते थे।

नये पुरुष (अर्थात् 'गण' जनता) की उत्पत्ति हुई थी। वेद के लेखक इस बात पर अत्यंत आनन्दित थे कि इस नये रूप में वैभव और उन्नति बहुत तेजी के साथ हो रही थी। पुरुषसूक्त उन आर्यों का गीत था जो दासों के स्वामी थे और जिन्होंने दासता का अन्वेषण कर वैभव और उत्कर्ष का पथ प्रशस्त कर लिया था। यद्यपि वह स्वयं अभी पितृसत्ता के अन्तर्गत रहता था और उसे अपने परिवार को लेकर शूद्रों के साथ साथ परिश्रम करना पड़ता था। इस प्रकार से वैराज्य गण का लोकतंत्र सीमाबद्ध आभिजात्यवाद ही था जहां पर लोकसभा द्वारा शासन तो होता था, पर उस लोक सभा में शूद्र नहीं होते थे, केवल **'जनपद'** मात्र ही होते थे। इसलिए जहां तक शूद्रों का प्रश्न था वहां तक वह लोकसभा सीमाबद्ध अभिजात्यों की ही होती थी। और बाद में तो विशेषाधिकार प्राप्त द्विज अभिजातों की श्रेणी से दरिद्र वैश्य आर्य भी बाहर निकाल दिये गये थे।

वैराज्य व्यवस्था के साथ साथ चलने वाली अथवा उसके आगे की व्यवस्था **स्वराज्य** संगठन की थी जो पश्चिमी भारत में प्रचलित थी और जिसका उल्लेख **एतरेय ब्राह्मण** में मिलता है। यह गण का वह विधान है जिसमें गण का आकार इतना विशाल हो गया था कि वह एक सम्पूर्ण इकाई की भांति क्रियाशील नहीं हो सकता था। इसलिए सभा में अपनी सामूहिक क्रियाशीलता के परिचालन के लिए ज्येष्ठ लोगों की एक समिति इस व्यवस्था में चुनी जाती थी। गण अथवा गण-समूहों के ढांचों के अन्दर ज्येष्ठ लोगों की ये सभाएं समय के साथ साथ पैतृक होती गयीं और एक चिरकालीन अभिजात्यो (Nobility) की व्यवस्था को उन्होंने जन्म दिया इसीलिए परवर्ती काल में हम गण की परिभाषा यह पाते हैं कि कुलों अथवा परिवारों के समूह को गण कहते हैं। * स्वराज्य का तत्व क्या था ? इसका अर्थ 'स्व-शासन' कभी नहीं था—यद्यपि शाब्दिक अर्थ यही निकलता है। इसका अर्थ था वह नेतृत्व, जिसको गण की क्रियाशीलताओं के संचालन के लिये चुना जाता था और अभिषिक्त किया जाता था। इस नेतृत्व को अपने अनुसार संचालन करने का अधिकार होता था। वह 'जेष्ठ' कहा जाता था। वह निर्वाचित स्वराज्य जो पहले गण सदस्यों के समकक्ष और समान था अब उनमे ज्येष्ठ अथवा बड़ा हो जाता था जैसा कि तैत्तरीय ब्राह्मण ने वर्णन किया है। **

* कुलानां हि समूहस्तु गणः संपरिकीर्तितः। (वीर मित्रोदय)

** एतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां स्वराज्यायैव तेऽभिषच्यन्ते स्वराड् इत्येनान् अभिषिक्तान् आचक्षत (ए० ब्रा० ८-४)
य एव विद्वान वाजपेयन यजति। गच्छति स्वाराज्यम्।
अग्रंसमानानां पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्येष्ठयाय (तै० ब्रा० १-३-२-२)

इस बात से यह देखा जा सकता है कि आदिम साम्य संघ जैसे ही अपनी पुरातन विशेषताओं को छोड़ कर निजी संपत्ति, वर्ग, धनी और निर्धन, तथा स्वामी और दास का विकास करने लगता है वैसे ही उसकी प्राकृतिक लोकतंत्रवादी व्यवस्था का अन्त होने लगता है—इन्द्र और अन्य देवों के समय के साम्य संघों का लोकतंत्र उसमें नहीं रह जाता। अपने संचालन के लिए तब उसने नये अंगों को विकसित किया और धीरे-धीरे उस अवस्था तक पहुंच गया जहां पर वर्ग का विरोध भयंकर रूप लेने लगा, और हिंसात्मक युद्धों में वह विरोध फूटने लगा जिसके द्वारा अन्त में वर्ग-शासन अथवा राज्य की स्थापना हुई। ये गण-गोत्रों की बातों को छोड कर राज्यम् की बात करने लगे थे। राज्यम् एक प्रादेशिक राजनीतिक इकाई थी जिसमें गण सदस्य और उनके विरोधी दोनों रहते थे।

गण साम्य संघों के प्रथम काल में, जब उनका आकार छोटा था, पूरा विश् मिल कर अपनी क्रियाशीलताओं का संचालन करता था। जब उन्हें युद्ध संचालन के लिए किसी एक नेता को निर्वाचित करना होता तो साम्य संघ के सब सदस्य उसको चुनते थे। जब युद्ध एक जीविका अथवा पेशा ही बन गया और निर्वाचित नेतृत्व एक सीमा तक स्थायी हो गया, तब विश्-भवन जिसे **समिति** या **परिषद** कहते थे, उसका स्थान सभा ने ले लिया। निर्वाचित नेतृत्व, पैतृक राजत्व (Monarchy) न होकर विशेषाधिकार प्राप्त अभिजातीयता बन गयी। उस नेतृत्व को निर्वाचन द्वारा शक्ति प्राप्त होती थी और गण द्वारा ही उसका अभिषेक होता था। जब गण ने निजी संपत्ति, वर्ण और दासता को विकसित कर लिया तो वह **राज्यम्** हो गया और वह निर्वाचित नेतृत्व जो शासन करने के लिए चुना जाता था **राजन** होने लगे।

अभिजात कुलों का परिवर्तन राजकुलों में हो गया। इतिहास के पथ में जब वर्ग-संघर्ष उठने लगे और उनमें दासों के स्वामी विजयी होने लगे तब राजकुलों में से सबसे अधिक दासो और भूमि का स्वामी पैतृक-राजा हो गया। तभी से निर्वाचन विधि में परिवर्तन किया गया। उसमें चुनाव जैसा कुछ भी नहीं होता था। कुछ परिवर्तनों के साथ उसी प्राचीन संस्कार के रूपों में राजा का अभिषेक होने लगा। **समिति** में **गण** का सम्पूर्ण लोक-तंत्र क्रियाशील रहता था जबकि सभा में एक छोटा सा समूह, यद्यपि वह संपत्तिशाली कुलों में निर्वाचित होता था, शासन करता था। जब नगर और देहात अलग होने लगे और एक ओर दस्तकारी तथा व्यापार और दूसरी ओर खेती का काम होने लगा तो उनके उत्पादन, विनिमय और संपत्ति के आकर्षण बिन्दु भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर हो गये जो व्यक्तियों को अपनी ओर खींचते थे। तभी से **जनपद** और **पौर** का अस्तित्व होने लगा। **जनपद** कृषि-संपत्ति के केन्द्र तथा **पौर** धनी दस्तकारों के समूह और व्यापारियों के केन्द्र होते थे जो नगर या राज-दरबार के चारों ओर लगे रहते थे। **समिति-सभा** के स्थान पर जब **जनपद** और **पौर** का अस्तित्व होने लगा

तब गण का अन्त हो गया था। शासन सत्ता अपनी शक्ति लेकर आ गयी थी जो शोषक वर्गों के कल्याण के लिए शोषितों पर शासन करने लगी थी। साधारणतया हमारे इतिहासकार **जनपद** और **पौर** के वर्ग रूपों को नहीं देख पाते हैं।

व्याकरण के महा आचार्य पाणिनि के ग्रंथों में, जिनका जन्मकाल महाभारत का परवर्ती समय है, और महाभारत के उन अध्यायों में, जो बाद में लिखे गये थे, हमें उन लोगों का विवरण मिलता रहा है जो गण पद्धति के अनुसार रहते थे। लेकिन हम यह भी देख सकते हैं कि उन गणों में संपत्तिशाली कुल अपनी प्रमुखता के लिए परस्पर भीषण युद्ध में संलग्न थे और सब मिलकर गण लोकतंत्र का सम्पूर्ण रूप से विरोध कर रहे थे।

पाणिनि ने अनेक गण समूहों अथवा गण संघों का उल्लेख किया था और उनको वे दो नामों से अभिहित करते थे। कुछ को तो वे **आयुधजीवी संघ** कहते थे। इन्हीं संघों को कौटिल्य ने बाद में **शस्त्रोपजीवी** के दूसरे नाम से भी पुकारा था। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही था। **आयुधजीवी** को दूसरे नाम से भी पुकारा गया था—उन्हें **वार्ता शस्त्रोपजीवी** भी कहा गया था। दूसरे प्रकार के गण समूहों को **राजशब्दोपजीवी** कहा गया था। इन नामों से जिन सामाजिक संगठनों का बोध होता है उसको किसी भी भाष्यकार ने समुचित रूप से उपस्थिति नहीं किया—जायसवाल तक भी इस काम को नहीं कर सके गोकि उनका महान उद्देश्य यह था कि भारतीय इतिहास लेखन के ढांचे के अन्दर इन सब गणों के स्वरूपों को उपस्थित किया जाय। निस्संदेह ये विवरण गणों के किसी सामाजिक-आर्थिक अथवा सामाजिक-राजनीतिक संगठन की ओर संकेत करते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि इन दो प्रकार के गणों की भिन्नता को और इन गणों से प्राचीन गणों के अन्तर को ठीक तरह से समझा नहीं जा सका है।

आयुधजीवी और **शस्त्रोपजीवी** संघों का अर्थ उन गणों से है जो अब भी अपनी उस प्राचीन विशेषता को लिए हुए थे जिसके अनुसार उस गण के सब सदस्य सशस्त्र होते थे। लेकिन सामाजिक संगठन की इसी एक विशेषता का उल्लेख क्यों किया गया है? यह इसलिए किया गया है कि उस समय में गण सदस्यों ने उस वर्ग शासन को और स्थायी वर्ग विभाजन को विकसित नहीं किया था जिसमें केवल शासक वर्ग के हाथों में अथवा निशस्त्र साधारण श्रमिक जनता के विरुद्ध सेना के हाथों में शस्त्र की शक्ति केन्द्रित होती थी और जिसके द्वारा निशस्त्र साधारण जनता शासित होती थी। इस विशेषता का उल्लेख इसलिए किया गया है कि उस समय तक गण का निर्वाचित नेतृत्व किसी सशस्त्र पैतृक अभिजात वर्ग में परिणत नहीं हो गया था। राजतांत्रिक वर्ग राज्य के लेखक, गण की इस विशेषता की ओर स्वभावतया आकर्षित हुए थे। यह सैनिक लोकतंत्र था। फिर भी उस आदिम साम्य संघ से इसका रूप भिन्न था जिसमें किसी भी वर्ग की

सत्ता नहीं थी। इस गण में संपत्ति-भेद प्रवेश कर चुका था। कृषि **(वार्ता)**, व्यापार, मुद्रा, धन तथा पितृसत्तात्मक दासता का उदय भी इन गणों में होने लगा था—लेकिन वर्गों के आत्म-विरोध इतने तीव्र नहीं हो उठे थे कि दरिद्र परिश्रमशील आर्य विशों का नाश करने की अथवा उनको निशस्त्र करने की आवश्यकता आ जाती। **गण** के अन्दर सब लोग परिश्रम करते थे और **शूद्रों को छोड़कर सब लोग** शस्त्र धारण करते थे और उस सशस्त्र श्रमिक गण के नेतृत्व के पद के लिए संपत्तिशालियों को चुना जाता था। इस प्रकार के वार्ता-शस्त्रोपजीवी अथवा आयुधजीवी संघों का अस्तित्व भारत में हम ३०० वर्ष ईसा पूर्व तक पाते हैं। उन संघों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :

१. वृक; २. दामानि ("तथा अन्य"); ३-८. त्रिगर्तों का मंडल (इस मण्डल के छ सदस्य कौण्डोपरथ, दाण्डकी, कौष्टकी, जलमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि होते थे।)*; ९. यौधेय तथा अन्य; १०. पार्श्व तथा अन्य; ११. क्षुद्रक; १२. मालव; १३. कठ; १४. सौभूति; १५. शिबि; १६. पाटल; १७. भागल; १८. कंभोज; १९. सुराष्ट्र; २०. क्षत्रिय; २१. श्रेणी; २२. ब्रह्माणक; २३. अम्बष्ठ।

यहां पर यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि गंगा की वादी के शक्तिशाली दास राज्यों के प्रसार के कारण तथा स्वयं गणों के अन्दर कृषि और व्यापारिक आर्थिक व्यवस्था के समुन्नत होने से ये गण अपनी रक्षा, युद्ध और उन्नति करने के लिए विभिन्न मण्डलों या संघों के रूपों में विकसित होने लगे थे। परन्तु इतिहास ने उनका ध्वंस गंगा की वादी में रहने वाले "पुराण पंथी" आर्यों की दास-स्वामी शासन-व्यवस्था के करों द्वारा करना निश्चित कर लिया था।

अधिकांश रूप में ये गण किस प्रदेश में वर्तमान थे? पाणिनि के अनुसार ये गण वाहीक प्रदेश में थे। यह प्रदेश सिन्धु नदी की घाटी में पंजाब से लेकर सिंध के दक्षिण तक फैला हुआ था। क्षुद्रक और मालव सिन्ध के निकट निवास करते थे। छः त्रिगर्त जम्मू के निकट हिमालय के पर्वतीय जिलों में रहते थे। हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी भारत में जहां तक विन्ध्याचल की सीमा है वहां तक उपर्युक्त गण संघों के सैनिक लोकतंत्र का प्रभुत्व था। अपने अस्तित्व के प्रमाणों द्वारा जैसे वे इतिहास से इस बात की घोषणा कर रहे थे कि उस शासन को, जो एक वर्ग की हिंसा पर टिका हुआ था, जिसमें दासों के स्वामियों और निजी संपत्ति का एकाधिपत्य था—चाहे वह शासन राजतंत्र के परिधान में हो—पूरे भारत को आत्मसात् करने में सैकड़ों वर्ष लग गये थे। यद्यपि संपत्ति भेद और दास प्रथा के कारण उनकी शक्ति पहले से अधिक

* आहुस्त्रिगर्तषष्ठास्तु कौण्डोपरथ दाण्डकी।
कौष्टकि जलिमानिश्च ब्राह्मगुप्तोऽथ जानकिः।।

क्षीण हो चुकी थी, फिर भी गण संघों की आन्तरिक एकता और इनका संगठन इतना दृढ़ था कि सिकंदर की विजयिनी सेनाओं को उनके हाथों से सिन्धु के तट पर हार खानी पड़ी थी। और जहां पर उन्होंने सिकंदर को आत्मसमर्पण किया था उसका मुख्य कारण उन गणों के शक्तिशाली धनी वर्ग थे, जो आक्रमणकारी से युद्ध करने के स्थान पर उससे शान्ति की कामना करते थे और आवश्यकता के अनुसार सर्वनाश से अपनी रक्षा करना चाहते थे।

सौभूति और कठ गणों के विषय में लिखते हुए यूनानियों का यह कथन है कि उस समय में उनकी नारियां अपनी इच्छा के अनुसार किसी पुरुष से विवाह करती थीं (संभवत: इसका अर्थ स्वयंवर अथवा गंधर्व विवाह से रहा हो)। शक्ति और सौन्दर्य का अपने बीच वे बहुत आदर करते थे। सन्तान-पालन के विषय में वे लेखक यह कहते हैं कि :

> ''इन गणों में संतानों को माता-पिता की न तो मान्यता दी जाती थी और न उनका पालन पोषण ही उनकी (माता-पिता की) इच्छा के अनुसार होता था। उनका पालन-पोषण माता-पिता के स्वास्थ-रक्षकों अथवा वैद्यों के कथनानुसार होता था, क्योंकि अगर वे किसी भी शिशु को विकलांग और सदोष शरीर का पाते थे तो उसे मार डालने का आदेश देते थे।''

यह सब ऐसे ही गण में संभव था जहां पर एक ओर अत्यंत दरिद्रता के अभाव से और दूसरी ओर धन के कारण साधारणतया स्वस्थ सन्तानें जन्म लेती थीं, जहां पर अस्वस्थ और सदोष शिशु अपवाद-स्वरूप ही उत्पन्न हो सकते थे, जहां निजी संपत्ति के अधिकारों, परिवारों और उत्तराधिकारों को गण के कल्याण से अधिक महत्वशाली नहीं समझा जाता था, तथा जहां पर निरन्तर संघर्ष के कारण और अर्ध वन्य युग की उत्पादन प्रणाली तथा उसके साधनों के पिछड़े हुए होने से वीर योद्धाओं के निर्माण के लिए ऐसी सजगता को अपनाना आवश्यक होता था।

यह स्पष्ट है कि जब हम पाणिनि, कौटिल्य और यूनानी लेखकों के गण संबंधी विवरणों को देखते हैं, तब तक उन गण संघों पर संपत्ति भेद और इसलिए वर्ग-भेद अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। भाषा की बनावट में भी ये भेद प्रतिबिंबित होने लगे थे। मल्लों के स्वतंत्र नागरिकों को 'मालवा:' कहा जाता था लेकिन शूद्र दास और दस्तकारों को उनसे भिन्न 'मालव्य' कहा जाता था। यौधेयों ने गण संघ की व्यवस्था को संचालित करने के लिए पांच हजार प्रतिनिधियों की एक सभा बनायी थी। पर उस सभा में कौन प्रतिनिधि हो सकता था ? वही व्यक्ति उस सभा में प्रतिनिधि हो सकता था जो निर्वाचित होने के बाद गण को एक हाथी भेंट में दे सकता था। इस प्रकार से कुछ लोग ऐसे थे जिनके पास हाथी थे और कुछ लोग ऐसे थे जिनके पास हाथी नहीं थे। इससे

यह स्पष्ट है कि गण में संपत्ति भेद वर्तमान था और उसमें धनिकों तथा गरीबों की सत्ता थी। इस संपत्ति भेद के प्रभाव को अम्बष्ठों में देखा जा सकता है जिनके विषय में यह कहा जाता है धनी ज्येष्ठों की मंत्रणा के आधार पर उन्होंने सिकंदर के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था जब कि साधारण लोग इस आत्मसमर्पण के विरुद्ध थे। स्वार्थिनी निजी संपत्ति अपने वर्ग के हितों की रक्षा के लिए हमेशा अपने देश या राष्ट्र को आक्रमणकारियों के हवाले कर देती है।

ऐतिहासिक प्रामाणिक लेखों में जिस दूसरी श्रेणी के गणों का उल्लेख मिलता है वे **राजशब्दोपजीवी** के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वे गण हैं जिनमें संपत्ति भेद और गण युद्धों का संगठन इस सीमा तक पहुंच गया था और साम्य संघ का लोकतंत्र इस हद तक शिथिल और दुर्बल हो गया था कि परंपरा के अनुसार गण के निर्वाचित नेतृत्व ने अपने को पैतृक अभिजातों में परिणत कर लिया था। शासक सभाओं के लिए केवल इन्हीं अभिजातों में से व्यक्तियों को चुना जा सकता था। ये ही सभाएं **गण संघों** के **'राजन'** कहलाती थीं, और यह आवश्यक नहीं था कि **राजन** सेना के प्रमुख नायक या सेनापति ही हों। लिच्छवी, मल्ल, शाक्य, मौर्य, कुकर, कुरु, पंचाल आदि इस प्रकार के अति प्रसिद्ध राजन-गण थे। परवर्ती काल में महाभारत काल के विख्यात कृष्ण के अन्धक-वृष्णीषों का संघ भी इसी श्रेणी का संघ हो गया था। विख्यात कुरु और माद्र गणों की कुछ शाखाएं जिन्होंने अपने वैराज्य विधान द्वारा दासता और शूद्र-व्यवस्था की नींव रखी थी, **राजन्य गण संघों** में परिवर्तित हो गयी थीं। पहले उन्होंने पैतृक परंपरा की अभिजातीयता को विकसित किया, फिर बाद में राजतांत्रिक दास शासन व्यवस्था को जन्म दिया जिसका अन्त महाभारत के युद्ध में हुआ था। ऐसा लगता है कि माद्रों की कुछ शाखाएं पिछड़ गयी थीं और वे अपने शिथिल श्रम-विभाजन से चिपकी रहीं जिसके कारण किसी प्रमुख संपत्ति अथवा वर्ग भेद का विकास वे नहीं कर सकीं। इसका दण्ड उन्हें दास व्यवस्था के स्मृतिकारों और शांति पर्व के लेखक के हाथों से सहना पड़ा जिन्होंने प्रत्येक प्रतिष्ठित ब्राह्मण के लिए मद्र और वाहीक प्रदेश में जाना निषिद्ध ठहरा दिया था। वाहीकों और माद्रों का सबसे विशेष पाप यह था कि उस प्रदेश में लोग अपने वर्णों को बारी बारी से बदल लिया करते थे। एक दिन एक व्यक्ति ब्राह्मण होता था, दूसरे दिन वह क्षत्रिय हो जाता था, फिर वह वैश्य और शूद्र भी हो जाता था और फिर वह ब्राह्मण हो जाता था। उनकी नारियां स्वतंत्र थीं और वे सब विलास और आनन्द का जीवन व्यतीत करती थीं। दासों के स्वामियों की संस्कृति के दृष्टिकोण से यह अवश्य ही ''पाप'' था, क्योंकि उनकी व्यवस्था में तो आनन्द मनाने और स्वतंत्र रहने का सिर्फ उन्हीं को अधिकार था जो अपने शूद्र दासों की पीठों पर सवार थे।

इतिहास में हमें एक ऐसे सम्पूर्ण गण का उदाहरण मिलता है जो अपने प्रदेश के अन्य निवासियों से प्रतिकूल होकर सीमाबद्ध ''कलंकित अभिजातीयता'' में, जैसा कि एंगेल्स ने कहा है—परिणत हो गया था। यह वैशाली का लिच्छवी गण था। लिच्छवियों के प्रदेश में ७७०७ राजन् थे जो वैशाली नगर में रहते थे। ये शासक वर्ग के थे और केवल ये ही लोग शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए कार्यकारिणी सभाओं और अफसरो तथा नायकों का निर्वाचन करते थे। पर सम्पूर्ण निवासियों की जन-संख्या १६८,००० थी जो दो वर्गों में विभाजित थी। एक 'बाह्य नागरिक' और दूसरे 'आन्तरिक नागरिक' कहलाते थे—दूसरे को वैशालीय भी कहा जाता था।

इन कुछ उदाहरणों से यह देखा जा सकता है कि प्राचीन युग के गण साम्य संघ और परवर्ती युग में उनके अन्दर विकसित वर्ग और वर्ग-विरोध—जिनके कारण उनके संगठन और सिद्धांतों में परिवर्तन हुए—भारतीय इतिहास के यथार्थ हैं, कोई कपोल कल्पित कहानियां मात्र नहीं हैं।

अध्याय १३

रक्त-रंजित युद्ध और राज्य व दण्ड का उदय

निजी संपत्ति ने शासक-वर्ग में परिणत होने के लिए जिस हिंसात्मक संघर्ष को अपनाया था उसका थोड़ा-सा आभास देव सत्र की उस कथा में मिल गया था जिसमें विष्णु और देवों के बीच युद्ध हुआ था। इस कथा को हम पहले लिख आये हैं। पर उस कथा में युद्ध निर्णयात्मक नहीं हुआ था। लेकिन विकास की इस प्रकार की अनिर्णायक अवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। उत्पादक-शक्तियों की द्वंद्वात्मक गति इस तरह की अवस्था को बहुत समय तक सह नहीं सकती थी। भीष्म के अनुसार—जो निरंतर साम्य संघ के ध्वंस की मलिन कथा को सब से अधिक स्पष्ट शब्दों में कहते रहे हैं—जब प्राचीन साम्य संघों में विनिमय और निजी संपत्ति, लोभ और संचय बढ़ने लगा तो वे विरोधी शक्तियों में टूटने लगे और उनके बीच युद्ध होने लगे। देव लोग क्षुब्ध हो उठे। देवों की इस क्षुब्धता का कारण भी विचित्र था। ये देव लोग जो मृत्यों के समान ही थे, इसलिए क्षुब्ध हो उठे कि वे कहीं ''मृत्यों के बराबर'' न बना दिये जायें। वे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के पास गये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहले तो वर्णन करते हुए भीष्म यह बताते हैं कि इन विरोधों के कारण ब्रह्मन् का नाश हो गया था, पर चार लाइनों के बाद ही तुरंत यह कहते हैं कि देव लोग ब्रह्मा के पास कोई रास्ता खोज निकालने के लिए पहुंचे थे। यह ब्रह्मा पौराणिक सृष्टिकर्त्ता था, साम्य संघ का वह ब्रह्मन् नहीं था। इस दिव्य नियामक सामान्य बातचीत अथवा यदि इसे पंचायत कहा जाय तो इस पंचायत से क्या निष्कर्ष निकला? उन्होंने देवों को संसार की व्यवस्था के लिए एक नया विधान दिया। पुराने विधान के अनुसार लोग स्वयं क्रियाशील धर्म द्वारा परस्पर रक्षा करते हुए निवास करते थे। वहां पर एक वर्ग की कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो दूसरों पर शासन करती हुई उनके संबंधों की संचालक बनती—वहां पर न कोई दण्ड था, न कोई राज्य था और न कोई राजा ही था। उस समय उनकी आवश्यकता भी नहीं थी। लेकिन इस नये विधान का क्या सारतत्व था? इस नये विधान में आर्थिक और परिवार के नये संबंधों की स्थापना शक्ति और हिंसा के

द्वारा की गयी थी जिसे ''दण्ड'' कहा गया था। अब धर्म, अर्थ और काम, एक नयी त्रयी जिसको त्रिवर्ग कहा जाता था, अपने आप सक्रिय नहीं रह सकती थी—अब उसका संचालन ''दण्ड'' द्वारा हो सकता था। भारत* में दास-व्यवस्था का यह प्रथम विधान विशालाक्ष के नाम से पुकारा गया। और महाभारत का कथन है कि बहुदन्तक, बृहस्पति और कवि द्वारा उसमें संशोधन और परिवर्तन किया गया था।

यद्यपि दास व्यवस्था के इस नये वर्ग-शासन को, जिसका आधार दण्ड और हिंसा थी, दिव्य सृष्टिकर्ता का आशीर्वाद प्राप्त हो गया था फिर भी वह अपनी जड़ जमा नहीं सका। कठिनता से पांच या छः राजा शासन कर पाये थे कि एक नया विरोध उत्पन्न हो गया। ऐसा लगता है कि इस बार विरोध का नेता स्वयं एक राजा ही था जो ब्रह्म-क्षत्र वर्ग के विरोध में विश् लोकतंत्र के पक्ष में चला गया था। राजा वेन ने इस नयी व्यवस्था का विरोध किया और ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के विरुद्ध युद्ध किया। इस अभियान में वेन की बुद्धिमती पत्नी सुनीथा ने उसको मंत्रणा और सहायता दी थी। संभवतः मातृ-सत्ता और नारी के लोकतंत्र का नाश हो जाने के कारण वह स्वयं क्षुब्ध थी। लेकिन वेन और सुनीथा चाहे जितने महान हों, समाज की नयी शक्तियां अपनी गति को उस साम्य संघ के बीते युग की ओर नहीं लौटा सकती थीं जो हमेशा के लिए खत्म हो चुका था। वेन और उसकी भांति के अन्य व्यक्ति केवल इतना ही कर सके कि उन्होंने शासक वर्ग को जोरों से झकझोर कर उनकी शोषण की निर्दयता को तब तक के लिए कुछ कम कर दिया जब तक कि उत्पादक शक्तियां दूसरी क्रांति के लिए परिपक्व नहीं हो गयीं। पर वह उस समय तक नहीं हो सका था। दासता की ऐतिहासिक भूमिका तब तक खत्म नहीं हुई थी। उस दास व्यवस्था के ढांचे में, जो नयी-नयी आरम्भ हुई थी, विस्तृत वन-भूमि को साफ करने, खेती और दस्तकारी का विकास करने तथा विनिमय और व्यापार को उन्नत करने के लिए अभी बहुत स्थान और अवसर था। वेन पराजित होकर ब्राह्मणों द्वारा मारे गये। जिन गणों और कबीलों ने बाहर से वेन को सहायता दी थी उनको भी सम्भवतः युद्ध में पराजित कर दास बना लिया गया। महाभारत की कथा के अनुसार ब्राह्मणों ने जब वेन को मार डाला तब उसके सारे शरीर के अंगों को उन्होंने रगड़ा जिससे भयंकर काले सर और लाल आंखों वाले निषाद तथा अन्य लोग उत्पन्न हुए। वेन के दांयें हाथ से एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ जिसने ब्राह्मणों

* ततोऽध्यायसहस्त्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवानुवर्णितः।।२६।।
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयंभुवा।।३०।।
त्रिवर्गश्चैव दाण्डजः।।३१।।

—**महाभारत**, शांतिपर्व, अध्याय ५६।

को नमस्कार किया और उनकी आज्ञा के अनुसार चलना स्वीकार किया। राजा पृथु वेन के नाम से उसको अभिषिक्त किया गया। कुछ समय के लिए युद्ध बंद हो गया।

इसका फल क्या हुआ? और ब्राह्मणों की आज्ञा क्या थी? वेन के पुत्र पृथु ने ब्राह्मणों की आज्ञानुसार चलने का वादा किया, शासक वर्ग को दण्ड* (नियम) से ऊपर स्थापित किया और इस बात की सौगन्ध खाकर प्रतिज्ञा की कि वह कभी भी वर्ग भेद को मिटने नहीं देगा। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के विषय में हिन्दू शास्त्र का यह मत था कि तब से दण्ड-शक्ति ने संसार पर शासन करना आरम्भ कर दिया।

दास व्यवस्था की विजय और विश् लोकतंत्र के दमन के बाद समाज में भयंकर शोषण और आर्थिक विकास प्रारम्भ हो गया। विस्तृत भूमि खण्डों को कृषि के अन्तर्गत लाया गया और इतिहास में पहली बार प्रादेशिक राज्य की सीमाओं का अस्तित्व होने लगा—जिनके अन्दर केवल आर्य लोग ही नहीं रहते थे वरन् बाहरी लोग जैसे निषाद, सूत-मागध** आदि भी निवास करते थे। पृथु वेन के विषय में यह कह कर उनकी प्रतिष्ठा की जाती है कि उन्होंने कृषि का विस्तार बहुत बड़ी सीमा तक किया था और अनेक जातियों के कृषि पौधों को उपजाया था।× **कृषि-भूमि और दासों ने, जो नये उत्पादन की प्रमुख शक्तियां थीं—प्राचीन प्रजा-पशवा: अर्थात् पशु धन और स्वतंत्र प्रजा का निष्कासन कर दिया। और राजतंत्र-वादी राज्य व्यवस्था ने, जिसका आधार एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का हिंसात्मक शोषण था, शांतिपूर्ण सहयोगिता के आधार पर टिके हुए गण साम्य संघ का निष्कासन कर दिया।**

इस प्रकार आत्मविरोधों के संघर्ष से राज्यम् यानी राज्य की उत्पत्ति हुई थी। स्वभावतया इस राज्यम् पर उनका ही अधिकार था जिनका आर्थिक प्रभुत्व था। समाज में ब्रह्म-क्षत्रों का आर्थिक प्रभुत्व था जिन्होंने राज्यम् की उत्पत्ति के बाद से महान् विश् लोकतंत्र और शूद्रों का शोषण, दमन व उनको निशस्त्र करना प्रारम्भ कर दिया था। इस युग में

* अदण्ड्या द्विजाश्चेति प्रतिजानीष्व चाभिभो।
लोकं च संकरात् कृत्स्नं त्रातास्मिति परंतप।। शांति पर्व, ५८-११७।

** तस्मान्निषादाः संभूता क्रूराः शैलवनाश्रयः।
ये चान्ये विन्ध्यनिलयाः म्लेच्छाः शतसहस्रशः।।१०६।
प्रीतो राजा ददौ......
अनूपदेशं सूताय मगधं मगधाय च।। शांति पर्व, ५८-१२२।

× समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत्।
वैषम्यं हि परं भूमेरिति नः परमाश्रुतिः।।१२३।
मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान्समन्ततः।।१२४।।
तेनेयं पृथिवीं दुग्धा सस्यानि दशसप्त च।।शांति पर्व, अध्याय ५८।।

शासक वर्ग पराजित लोकतंत्र को दैवी-व्यवस्था के नाम पर अपने आदेश देने लगा। उसके बाद से प्रत्येक अस्तित्व का प्रधान राग राज्य द्वारा व्यवहार में लाया गया दण्डशक्ति से उत्पन्न भय मात्र ही रह गया। दासों के स्वामी, वर्ग की निजी संपत्ति, लोभ और हिंसा की कीचड़ में सहयोगिता, शांति और प्रेम लुप्त हो गये। प्राचीन युग में जब लोगों को सिर्फ शब्द मात्र से, अथवा लोकमत द्वारा ठीक मार्ग या सदाचार के पथ पर लाया जाता था और 'धिगदण्ड' अर्थात लोक का धिक्कार या निन्दा ही अकेला दण्ड था वहां पर अब राज्य, सेना और पुलिस की हिंसा लोगों को शोषण तथा शासन करने वाली निजी सम्पत्ति पर भक्ति और श्रद्धा की ओर ले जाती थी। अगर लोग ऐसा नहीं कर पाते थे तो 'वध-दंड' जो दंडनीति का सबसे बड़ा दण्ड था, उसको दिया जाता था। राज्य की सम्पत्ति के बाद हिन्दू-साहित्य ने इस नये हिंसा-यंत्र के गीत गाना आरम्भ कर दिया था। अगर वहां इस हिंसा का यंत्र न हो और उसके स्थान पर अराजक अर्थात राज्यहीन व्यवस्था फिर से हो जाय तो सम्पत्ति का ध्वंस हो जाय, परिवार नष्ट हो जाय, धर्म का अन्त हो जाय और पूरा संसार ही नष्ट हो जाय। निजी सम्पत्ति, परिवार और धर्म के नाम पर शासक वर्ग ने दास बनाये गये शूद्रों और श्रमिक विशों की स्वतंत्रता, सम्पत्ति और परिवार को नष्ट कर दिया। यज्ञ और दान के नाम पर अब ब्रह्म-क्षत्र शासक वर्ग साधारण जनता के धन और पशुओं को आत्मसात् करता था और वैश्य-शूद्रों द्वारा बनायी गयी कृषि भूमि पर अपना अधिकार कर लेता था। लम्बी लड़ाई के बाद पराजित और निशस्त्र श्रमिक मानवता को जबरदस्ती शासन के सामने झुका दिया गया और उसे इस नयी व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ा। लेकिन यह मानवता निरन्तर बार-बार विद्रोह करती रही, बार-बार पराजित हुई और दास बना ली गयी जब तक कि स्वयं उसके अन्दर नयी उत्पादन-शक्तियों और क्रान्तिकारी शक्तियों का उदय नहीं हो गया। श्रमिकों के विरुद्ध संघर्ष के साथ-साथ शासक वर्ग के अन्दर स्वयं अपने संघर्ष होने लगे। ये संघर्ष ब्रह्म-क्षत्र घरानों के बीच में हुआ करते थे जिनका उद्देश्य वैश्य और शूद्रों के शोषण से हासिल धन पर अधिकार जमाना होता था। हिन्दू धर्म-कथाओं में इस प्रकार के अनेक युद्धों की कथाएं मिलती हैं। क्षत्रियों के विरुद्ध परशुराम के अनेक युद्ध हुए। हैहय, सहस्त्रार्जुन, वैतहव्य, श्रंजय, नहुष तथा अन्य लोगों के युद्धों की कथाएं भी हैं। ब्राह्मणों के पास विशाल आश्रम थे, उनके पास सैकड़ों एकड़ भूमि और पशु होते थे। उनमें काम करने के लिए शिष्य रूप में नवशिक्षित श्रमिक और वैश्य-शूद्र 'भक्त' होते थे जो उन ब्राह्मणों के लिए धन का उपार्जन करते थे। इस प्रकार के ब्राह्मणों के आश्रमों की कथाओं से हिन्दू इतिहास भरा पड़ा है, जो ब्राह्मणों की तपस्या अथवा वैराग्य, उनकी दरिद्रता तथा धार्मिकता की कपोल-कल्पित बातों को मिथ्या प्रमाणित कर देती है। क्षत्रिय गृहों की

कथाएं तो स्वयं इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि किस प्रकार वे समाज पर शासन और सर्वनाश से उनकी रक्षा—अर्थात् बाहरी आक्रमण और भीतरी क्रान्ति से रक्षा— के नाम पर जनता का शोषण करते हुए उनके श्रम-फल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते थे। यहां पर हमारा यह लक्ष्य नहीं है कि राजाओं और राजकुलों के इतिहासों का अथवा उनके अच्छे बुरे विवरणों की विवेचना करें—अथवा उन विख्यात ब्राह्मण कुलों के इतिहास को लिखें जिन्होंने आश्रमों की विशाल भू-सम्पत्ति का निर्माण कर युद्धों को लड़ा था, विशाल सेनाओं के सेनापति तथा नायक बने थे और कहीं-कहीं पर तो शासक के पद तक पहुंच गये थे। इसलिए कुछ समय के लिए हम उन तमाम प्राणाणिक लेखों की छानबीन, विकास के ऐतिहासिक नियमों के प्रकाश में नहीं करेंगे—जैसा कि हम करते आ रहे हैं। हम आर्यों के समाज के उस नये संगठन को ही देखेंगे जिसका जन्म प्राचीन मरणासन्न गणों के सदस्यों के बीच परस्पर भीषण वर्ग संघर्ष द्वारा हुआ था।

गण-सामाजिक संगठन को अपना गण-विधान छोड़कर **राज्यम्** विधान के आगे जबर्दस्ती समर्पण क्यों करना पड़ा था? राज्य व गण के तत्वों में क्या विशेष अन्तर था? एंगेल्स ने उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का वर्णन, जिसके द्वारा समाज इस अवस्था तक पहुंचा था, ऐसे किया है :

> ''अब हम यह देखेंगे कि इस सामाजिक उथल-पुथल में गण विधान की क्या दशा हुई थी। उन नयी शक्तियों के सामने, जिनको उत्पन्न करने में उस विधान का कोई हाथ नहीं था, गण विधान असहाय रह गया। उस विधान के अस्तित्व के लिए सबसे आवश्यक शर्त यह थी कि एक गण अथवा कम से कम एक कबीले के सदस्य एक साथ एक ही प्रदेश में उसके एकमात्र निवासी बन कर निवास करते। पर यह बहुत दिनों पहले से बंद हो गया था। अब प्रत्येक प्रदेश में विषम जनसंख्या निवास करती थी जिसका संबंध विभिन्न गणों और कबीलों से था। प्रत्येक प्रदेश में वहां के नागरिकों के साथ-साथ दास, सुरक्षित (शरणागत) लोग और बाहरी व्यक्ति निवास करते थे।* लगातार व्यापार, जीविका परिवर्तन, अथवा भूमि पर आधिपत्य बदल जाने के कारण से निवास-स्थान के परिवर्तन के द्वारा जीवन की वे स्थायी अवस्थाएं टूट गयीं थीं जिनका निर्माण अर्ध वन्य अवस्था के मध्य युग तक हुआ था। गण व्यवस्थाओं के सदस्य अपनी सामान्य क्रियाशील-

* पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजयवनाः शकाः
पारदा पल्हवश्चीना किराताः दरदाः खशाः। **मनुस्मृति, १०-४४।**
विदेशियों के संसर्ग में आ जाने से पुनष्टोम यज्ञ द्वारा अपनी शुद्धि करनी पड़ती थी।
आरट्टान कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान्
वंग कलिंगान् प्राणूनान् इति च गत्वा
पुनष्टोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा। बोधायन, १-२-१४।

ताओं का नियंत्रण करने के लिए साथ नहीं मिल पाते थे (जैसा कि पहले वे समिति अथवा नरिष्ट की सभाओं में मिल कर करते थे)।[1] अब वे केवल धार्मिक उत्सव आदि के अप्रमुख अवसर पर ही उनको एक साथ मनाने के लिए एकत्र होते थे। गण व्यवस्थाओं का निर्माण जिन आवश्यकताओं और हितों की पूर्ति के लिए किया गया था और जिनकी पूर्ति की योग्यता उनमें थी, उन आवश्यकताओं और हितों के अलावा उत्पादन संबंधों में उथल-पुथल हो जाने के कारण सामाजिक ढांचे में जो परिवर्तन हो गये थे, उन्होंने नयी आवश्यकताओं और हितों को जन्म दिया था। ये आवश्यकताएं और हित गण-व्यवस्था के लिए बाहरी अथवा अनजाने ही नहीं थे वरन् हर चरण पर उस व्यवस्था का विरोध करते थे। श्रम विभाजन के साथ-साथ दस्तकारों के समूहों का जो हित उत्पन्न हो गया था, तथा नगर की विशेष आवश्यकताएं जो ग्रामों के हित के प्रतिकूल थीं नये संगठनों की मांग कर रही थीं (जैसे **जनपद** तथा **पौर**)। पर इनमें से प्रत्येक समूह का निर्माण विभिन्न गणों, कबीलों और जन-समूहों के सदस्यों से हुआ था—यहां तक कि इनमें बाहर के लोग भी सम्मिलित होते थे। इसलिए उन नये संगठनों की रचना गण-विधान के अन्तर्गत नहीं हो सकती थी—उनकी रचना उस विधान के अलावा हो सकती थी। इसलिए गण विधान के विरोध में इन संगठनों का निर्माण होना संभव था। हितों के ये संघर्ष प्रत्येक गण संगठन में वर्तमान थे जो अपने अतिरूप में धनी और निर्धन, महाजन और ऋणी के संबंधों में एक ही गण या कबीले के अन्दर प्रकट होते थे। उसके बाद गण संस्थाओं की सीमाओं के बाहर भी एक नयी जनसंख्या निवास करती थी जैसे कि रोम में (जैसे कि वैशाली, मगध और पटल आदि में) निवास करती थी। यह जनसंख्या उस प्रदेश में एक शक्ति बन सकती थी फिर भी इतनी विशाल थी कि उसको संबंधियों के समूहों अथवा कबीलों के रूपों में धीरे-धीरे आत्मसात् नहीं किया जा सकता था। इस जनसंख्या के संबंध में ये गण संस्थाएं प्रतिकूल थीं—क्योंकि इन संस्थाओं का रूप सीमाबद्ध विशेषाधिकार प्राप्त संगठनों का होता था। प्राचीन प्राकृतिक लोकतंत्र दूषित अभिजातीयता में परिणत हो गया था (हमारे इतिहास में बौद्ध-कालीन मल्ल-लिच्छवी गणों तक में ये रूप दिखायी देते हैं)। और फिर गण विधान का जन्म उस समाज से हुआ था जिसमें कोई भी अन्तर्विरोध नहीं था—वह विधान उसी समाज के योग्य भी था। उस समाज के पास लोकमत को छोड़ कर और कोई दूसरी शक्ति नहीं थी जिससे किसी को दबाया जा सके। पर बाद में एक ऐसे समाज का भी उदय हुआ

[1] कोष्ठ मेरे हैं—लेखक

जो अपने आर्थिक-जीवन की अवस्थाओं के कारण स्वामी और दास, धनी शोषक और निर्धन शोषितों में विभाजित हो गया था। वह समाज फिर कभी इन आत्म-विरोधों में सामंजस्य उत्पन्न नहीं कर सका वरन् बाध्य होकर उसे इन आत्म-विरोधों को और भी तीव्र और गहरा करना पड़ा। ऐसा समाज इन दो विरोधी शक्तियों के निरन्तर खुले संघर्षों में या तो रह सकता था अथवा किसी तीसरी शक्ति से शासित होकर जीवित रह सकता था। देखने में यह तीसरी शक्ति संघर्ष-रत वर्गों के ऊपर स्थापित होती थी लेकिन इसका काम यह था कि खुले हुए वर्ग विरोधों को दबा कर अधिक से अधिक वर्ग संघर्ष को केवल आर्थिक क्षेत्र में वैधानिक या कानूनी रूपों में चलने दे। गण-विधान, श्रम-विभाजन और फलतः वर्गों में बंटे समाज के कारण नष्ट होकर बिखर चुका था। उसके स्थान पर **राज्य** की स्थापना की गयी थी।

''इसलिए शासन-तंत्र अथवा राज्य कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो समाज के ऊपर बाहर से लादी गयी हो, और उसी प्रकार से न तो यह किसी नैतिक विचार का यथार्थ रूप अथवा बौद्धिक यथार्थ का चित्र है जैसा कि हेगेल कहते थे (हमारे प्राचीन और हिन्दू लेखक भी ऐसा ही मत उपस्थित करते हैं)। वरन् यह शासन तंत्र या राज्य विकास की एक विशेष अवस्था में समाज द्वारा उत्पन्न किया गया था। इस शासन तंत्र अथवा राज्य का अस्तित्व इस बात का प्रमाण था कि समाज ऐसी विषमता अथवा अन्तर्विरोधों में फंस गया था जिनका कोई हल नहीं था और जिन असंधेय आत्मविरोधों में सामंजस्य उत्पन्न करने में अथवा उनको दूर करने में वह समाज असहाय था।''

(**परिवार की उत्पत्ति**, मास्को संस्करण, पृष्ठ २३८-४०)

वर्गमय समाज के इस नये अंग शासन-तंत्र अथवा राज्य की कौन सी विशेषताएं थीं जो उसे गण-गोत्र संगठनों से पृथक करती थीं?

प्राचीन गण-विधान के प्रतिकूल शासन तंत्र अथवा राज्य की यह पहली विशेषता थी कि राज्य में उसके सदस्यों का समूहीकरण प्रादेशिक आधार पर होता था। प्राचीन गण-संस्थाओं का निर्माण सगे और रक्त संबंधियों के द्वारा होता था और वे ही उनका संचालन करते थे। इस प्रकार की गण संस्थाएं अयोग्य और शक्तिहीन प्रमाणित होने लगीं क्योंकि वे इस बात को पहले से ही मान लेती थीं कि गण के सदस्य एक ही विशेष स्थान से बंधे हुए हैं जब कि वास्तव में ऐसा होना बहुत पहले से बंद हो गया था। प्रदेश तो तब भी वही था पर लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर बसते जाते थे। इसलिए इस नये विधान को प्रादेशिक-विभाजन से आरम्भ किया गया और ऐसी व्यवस्था लागू की गयी जिसके अनुसार नागरिक लोग उसी प्रदेश के अधिकार और कर्त्तव्यों का पालन करते थे जहां पर वे रहते थे—उनका गण या कबीला कुछ भी हो। प्रत्येक शासनतंत्र में

प्रादेशिक आधार पर राज्य के नागरिकों का यह संगठन सामान्य रूप से होता था। इसलिए हम लोगों को संगठन का यह रूप प्राकृतिक लगता है, लेकिन सत्य यह है कि सगे-संबंधियों के आधार पर बने हुए प्राचीन संगठनों के स्थान पर इस प्रादेशिक संगठन को लाने के लिए बहुत भीषण और कठोर युद्ध करने की आवश्यकता पड़ी थी जिसके द्वारा **गण** के स्थान पर **राज्य** की स्थापना संभव हो सकी थी।

दूसरी प्रमुख विशेषता **लोकशक्ति** की संस्था थी, जिसकी समता फौरन उस स्वयंनिर्मित सशस्त्र जन संगठन से नहीं की जा सकती जिसका अस्तित्व गण विधान में ही था। इस विशेष लोकशक्ति की आवश्यकता इसलिए थी क्योंकि जब से समाज दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया था तब से उस समाज में जनता का स्वयं संचालित सशस्त्र संगठन रखना असंभव हो गया था। अब राजा लोग सशस्त्र सेनाओं और राज-कर्मचारियों (पुलिस) को कानून का पालन कराने के लिए अपने पास रखते थे। कानून पालन कराने का मुख्य अर्थ यह होता था कि शोषित वर्ग को श्रम और शोषण के बंधन में बंधा हुआ रखा जाय। अब इतिहास के पट पर **चतुरंग सेना, राजपुरुष**, ब्राह्मण और क्षत्रिय कुलों को ही शस्त्र रखने के विशेषाधिकार तथा उन्हीं के द्वारा सेना का नायकत्व प्रकट होने लगे थे। इस "लोकशक्ति" के निर्माता तत्वों में केवल सशस्त्र सेना ही नहीं थी वरन् इसके साथ-साथ लोगों को परवश बना कर गुलामी कराने के लिए अन्य साधन और संस्थाएं भी थीं—जैसे जेल, न्यायालय, आदि; इन सबका लक्ष्य दण्ड की व्यवस्था करना ही था। प्राचीन गण-समाजों में वर्गविरोधों का अस्तित्व नहीं था इसलिए उनको शास्त्रों अथवा परवश बना कर गुलामी कराने वाले नियमों की या एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर एकाधिपत्य करने की भी आवश्यकता नहीं थी। शास्त्रों की उत्पत्ति वर्गमय समाजों से ही होती थी। इसीलिए शास्त्रों का उदय दासता के जन्म के साथ-साथ हुआ था और उनका संबंध दास-राज्यों के राजाओं से होता था। अतएव यह कहना ठीक है कि शास्त्र दमन करने और बलात् गुलाम बनाने के साधन थे। अपस्तंब धर्म सूत्रों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "जहां पर कर्म की प्रवृत्तियां प्रीति से उत्पन्न होती हैं (अप्रीति और विरोध से नहीं) वहां पर शास्त्र की आवश्यकता नहीं होती।"*

इस लोकशक्ति की स्थापना और संचालन के लिए राज्य के नागरिकों से धन अथवा कर लेना आवश्यक था। गण-समाज में "कर" बिल्कुल अज्ञात थे—और किसी ने उसका नाम तक नहीं सुना था। गण और

* यत्र तु प्रीति उपलब्धितः प्रवृत्तिः न तत्र शास्त्रम् अस्ति। आपस्तंब ४-१२-११।
पूर्व मीमांसा में जैमिनी का कथन यह है :
यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सा लक्षणाविभक्तत्वात्।

गणपति तो **दान** को जानते थे जिसके अनुसार पूरी उत्पत्ति को गण सदस्यों के बीच स्वतंत्रतापूर्वक बांटा जाता था। लेकिन उनकी व्यवस्था में शासक वर्ग के हितों के लिए जनता के श्रम-फल को लूटने की कोई प्रच्छन्न और सूक्ष्म विधि नहीं वर्तमान थी जिसको अर्थशास्त्रों में "**करभार**" के नाम से पुकारा गया है। महाभारत में यह शिक्षा दी गयी है कि इस लूट को कम से कम अतीक्ष्ण और पीड़ारहित होना चाहिए जैसे कोई चूहा सोते हुए व्यक्ति का खून धीरे-धीरे पिये और उस व्यक्ति को इसका आभास तब तक न हो जब तक दूसरे दिन वह जाग न जाय।*

लोकशक्ति पर इस प्रकार से अधिकार करते हुए—कर लगाने के अधिकार को लेकर (उत्पत्ति के छठवें भाग पर राज्य-शासन तंत्र का अधिकार) पदाधिकारी अब अपने को उस समाज के अंग के रूप में उपस्थित करते थे जो जन साधारण के समाज से ऊपर था...वे उस शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे जो उनको समाज से पृथक करती थी। विशेष आदेशों के बल पर उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा समाज द्वारा करायी जाती थी जिसके द्वारा उनको एक प्रकार की विचित्र उच्चता और अलंघ्यता अथवा अबाध्यता प्राप्त हो जाती थी। अधिकांश रूपों में अनेक राज्य शासन तंत्र के अन्दर नागरिकों को उनकी सम्पत्ति के अनुसार ही श्रेणियों में विभक्त कर अधिकार प्रदान किये जाते थे जिससे यह प्रत्यक्ष प्रमाणित होता था कि शासनतंत्र का संगठन सम्पत्ति-हीनों के विरुद्ध सम्पत्ति-शालियों की सुरक्षा का एक साधन मात्र था। राज्य शासन की **पौर-जनपद** की सभाओं में अधिकांशतः सम्पत्तिशाली वर्ग के ही लोग होते थे। जब दास राज्य शासन सम्पूर्ण रूप से प्रौढ़ हो गये तो सबसे अधिक कल्याणकारी उपदेश राजाओं को यह दिया जाता था कि 'धनवानों का आदर और उनकी पूजा नित्य करनी चाहिए।'**

इस प्रकार से उत्पादक शक्तियों की वृद्धि ने उत्पादन-संबंधों को बदल दिया था एवं निजी सम्पत्ति और शोषक तथा शोषितों के वर्ग विरोधों को उत्पन्न किया था। उसी के द्वारा मानव समाज में आपत्ति स्वरूप उस शासन-तंत्र का जन्म हुआ जो 'समाज की सुरक्षा' के नाम पर शोषित वर्ग का हिंसात्मक रूपों से दमन करने के लिए शोषक वर्गों के हाथों में एक अस्त्र या साधन के रूप में सदैव बना रहा।

* यथा शल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन राष्ट्रं समाविबेत्।। शांति, ८८-६।

** धनिनः पूजयेन्नित्यं। शांति, २६।

कात्यायन श्रौत सूत्रों में वर्णित महाजनों अथवा महाजनिकों ने परवर्ती इतिहास काल में निषादों को भी अपने में मिला लिया था जिनके लिए पहले यह आदेश था कि अगर वे संपत्तिशाली हो जायं तो या तो उनको मार डाला जाय या दास बना लिया जाय।

अध्याय १४

महाभारत—दास-स्वामियों और गण-संघों का गृह-युद्ध

वह प्राचीन पवित्र भू-भाग जिस पर आर्यों के साम्राज्यों ने दासता के आधार पर समुन्नत होने के लिए संघर्ष किया था गंगा की वादी था। पश्चिम में कुरुक्षेत्र से लेकर पूर्व में आधुनिक बिहार प्रदेश के पाटलिपुत्र (पटना) तक वह भूखण्ड फैला हुआ था जिस पर आर्य गणों के समूह धनयुक्त तथा स्थायी राजतंत्रवादी दास शासन यंत्रों में परिणत होकर महाभारत के युद्ध से पहले फैले हुए थे। उत्तर-दक्षिण में उनका प्रसार हिमालय पर्वत के नीचे से लगा कर आधुनिक मध्य भारत में अवन्ती तक था और कुछ राज्य तो विन्ध्याचल को पार कर विदर्भ प्रदेश तक स्थापित हो गये थे।

यहां पर यह याद रखना चाहिए कि उन दिनों में भारत को कोई हिन्दुस्तान अथवा सिन्धुस्तान के नाम से नहीं जानता था जो एक ही बात थी। इस देश का नाम "हिन्दुस्तान" सिन्धु नदी के नाम पर रखा गया था। शक-पल्हव तथा मध्य एशिया के अन्य कबीलों ने, जिन्होंने बहुत परवर्ती काल में सिन्धु को पार करते हुए भारत में प्रवेश किया था, सिन्धु नदी के नाम पर इसको सिन्धुस्तान कहना शुरू किया था। 'स' की ध्वनि का उच्चारण ये लोग 'ह' के रूप में करते थे, इसलिए देश का नाम 'हिन्दुस्तान' पड़ गया। प्राचीन लेखकों और लोगों ने अपने निवास-क्षेत्रों का नाम उस गण या राष्ट्र के नाम के आधार पर रखा जो उस क्षेत्र में रहते थे—जैसे मत्स्य देश अर्थात जहां पर मत्स्य गण का निवास अथवा अधिकार था। महाभारत के भीष्म पर्व में इस प्रकार के दो सौ नाम गिनाये गये हैं। बाद में जब प्रादेशिक-राज्यों का अस्तित्व होने लगा, और राजधानियों के साथ राजवंशों की स्थापना होने लगी तब प्रदेशों का नाम शासक कुलों तथा वैसी ही अन्य शक्तियों की इच्छा के अनुसार होने लगा। लेकिन साधारणतया भारत के अधिकांश भू-प्रदेशों का नाम प्रभावशाली राष्ट्र या उन गण-मण्डलों के आधार पर रखा जाता था जो उस प्रदेश पर कृषि और शासन करते थे—जैसे अंग, वंग, कलिंग, किरात, द्राविड़, कम्बोज, मत्स्य, कुरु, मद्र, वाहीक आदि। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सिन्धु नदी को छोड़ कर किसी नदी के आधुनिक नाम पर किसी देश का नाम नहीं रखा गया। यहां तक कि विख्यात

पवित्र गंगा नदी को भी यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका कि किसी देश का नाम उसके अनुसार रखा जाय।

पुरुरवा के गण-संघों में दुष्यंत नाम का एक राजा हुआ था। उसके पुत्र 'भरत' के नाम पर 'भारत वर्ष' का नाम रखा गया था। लगभग इसी समय में पैतृक वंशाधिकारी राजतंत्रों का अस्तित्व प्रारम्भ हो गया था और दास शासन यंत्रों की पूर्णाहुति में आदिम लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं तेजी से लुप्त होती जा रही थीं। परन्तु फिर भी पुरुवंश के 'भरत' के नाम के आधार पर देश का नाम तब प्रचलित हुआ जब हस्तिनापुर के (हस्तिन द्वारा निर्मित जो भरत की पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था) पुरुओं ने आस-पास के राज्यों, सैनिक लोकतंत्रों और गण-संघों को ध्वंस करने की चेष्टा की और उस चेष्टा द्वारा अपने युग में सबसे महान् दास-साम्राज्य की नींव रखने का प्रयास किया जिसके कारण महाध्वंसकारी महाभारत का युद्ध हुआ था। मनु तथा अन्य हिन्दू सामन्तवादी शासन-व्यवस्था के नियम-विधायक शास्त्रकार मध्यदेश, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की बातें करते हैं परन्तु वे भी गंगा की पूर्वी-पश्चिमी वादी (बंग को छोड़ कर) की सीमा या दक्षिण में विन्ध्य पर्वत की सीमा के परे नहीं जाते। इसलिए पूरे भारत को आत्मसात् करने वाले हिन्दुस्तान का चित्र जैसा हम आधुनिक युग में देखते हैं, सम्पूर्णतया हमारे सभ्य युग की देन है। न तो कुरुओं और पुरुओं ने, न अयोध्या के राम और न अन्धक-वृष्णी गण संघ के कृष्ण वासुदेव ने इस देश का कोई नाम रखा था।

महाभारत युद्ध के साथ साथ प्राचीन भारत का इतिहास निर्णयात्मक रूप में पृथक हो जाता है। इस प्रकार से भारत के प्राचीन इतिहास को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक महाभारत के पूर्व का इतिहास और दूसरा महाभारत के बाद का इतिहास। प्रत्येक रूढ़ि-परंपरा चाहे वह सार्वजनिक हो, या ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हो, यह स्वीकार करती है कि महाभारत युद्ध इतिहास की वह घटना थी जिसने विकास के मार्ग को बदल दिया था और एक नये युग को जन्म दिया था। परंपरा का यह कथन है कि महाभारत युद्ध के उपरांत ही कलि-युग का प्रारम्भ हुआ था। परंपरा ऐसा क्यों कहती हैं? और क्यों परं-परागत भारतीय इतिहास इतनी दृढ़ता के साथ इस घटना से अन्य ऐति-हासिक मापदण्डों को नापने की चेष्टा करता है ? समय के क्रम के अनु-सार राम-रावण युद्ध महाभारत युद्ध से लगभग पांच सौ वर्ष पहले हुआ था। पर दुर्भाग्य से उस युग की ऐतिहासिक यथार्थ अवस्थाओं का विव-रण उतने स्पष्ट रूप में नहीं मिलता जितना कि महाभारत युद्ध के समय का मिलता है। वाल्मीकि की रामायण बहुत बाद की रचना लगती है और फिर वह काव्यगत शैली में लिखी गयी है। यह काव्य महाभारत के परवर्ती सामन्तवादी युग का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें राम-रावण

युद्ध को सामन्ती युग की विचारधारा से रंजित किया गया है। वास्तव में ऐसा लगता है कि वाल्मीकि को महाभारत महाकाव्य के नायक अपनी विचारधारा के प्रतिकूल लगे होंगे। इसलिए उन्होंने अपने महाकाव्य के लिए एक ऐसे नायक को चुना जिसके चरित्र और युग के विषय में कुछ भी कहा जा सकता था क्योंकि सर्वसाधारण लोगों की स्मृति से वह युग दूर हो चुका था। और जब वाल्मीकि ने अपने राजा के चरित्र को आदर्श-वादी नायक और ईश्वर में परिणत करने की चेष्टा की तो उनको सफ-लता नहीं मिली। और उनके काव्य का नायक एक प्रियदर्शी युवक के रूप में ही रह गया जिसने दमन द्वारा एक राज्य का निर्माण किया था। वाल्मीकि के नायक की तथाकथित सत्यता प्रकाश में आ जाती है जब वह बालि को छल से मारता है; उसकी मानवता मिथ्या प्रमाणित हो जाती है जब अपने को सांस्कृतिक आर्य बना कर अपने मोक्ष के लिए प्रयास करते हुए एक शूद्र की वह हत्या करता है। यहां तक कि परं-परा ने उस नायक की आदर्श एकनिष्ठ विवाह की भावना को शंकित हो कर देखा था। जैन-सूत्रों में यह लिखा मिलता है कि राम उस प्राचीन युग में उत्पन्न हुए थे जब आदिम-वासियों ने 'भाई-बहन' के विवाह पर रोक नहीं लगायी थी और सीता राम की बहन थीं। वाल्मीकि भी इस तथ्य को अपनी रामायण में नहीं छिपा पाये हैं कि सीता **अयोनिज** थीं—अर्थात् उनका जन्म गृह में नहीं हुआ था।

इन्हीं कारणों से राम-रावण युद्ध को भारत के प्राचीन इतिहास में चिन्ह प्रस्तर नहीं माना जा सकता। परन्तु जो कुछ भी थोड़े-बहुत विवरण उस युग के प्राप्त हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अयोध्या के रघुओं में राम के पिता दशरथ के समय से प्राचीन गण लोकतंत्र का अन्त हो चुका था। दशरथ ने जब राम को युवराज के पद पर बिठाना चाहा तो उसके लिए अयोध्या के रघुओं की सम्मति होना आवश्यक समझा गया था—परन्तु विधि के इस स्वरूप मात्र में पैतृक-राजत्व अथवा राज-तंत्रवाद का आभास आने लगा था। रघु शासक वर्गों के द्वारा शूद्र दासों का कठोर दमन तथा राम के वे विस्तृत अभियान जो चारों ओर के स्वतंत्र गणों के विरुद्ध उनके आन्तरिक विरोधों का उपयोग करते हुए किये गये थे, हमें यह बताते हैं कि दशरथी राम का राज्य महाभारत के युग से पहले की गंगा की वादी में सबसे पहले के दास-शासन व्यवस्थाओं में से एक था—चाहे राम की पूजा का धार्मिक महत्व और तत्व पापी धनवानों और संकट में पड़े हुए दरिद्रों के लिए कुछ भी हो और मध्यकालीन तथा आधुनिक इतिहास में उनके देवत्व का उपयोग चाहे जितने रूपों में किया जाता हो।

यद्यपि राम का कुल इतिहास में सबसे अधिक समय तक जीवित रहा परन्तु हस्तिनापुर में पुरुओं के कुल की वृद्धि के बाद वह धूमिल पड़ता गया। उस समय में काशी, मगध, विदेह और मथुरा के यादवों के अन्य

विख्यात राज्य भी वर्तमान थे। वैवाहिक संबंधों अथवा युद्ध के द्वारा गंगा की वादी के विभिन्न राजकुल अपने को बड़े राज्यों में परिणत कर रहे थे और निरंकुश साम्राजी व्यवस्था में परिपक्व हो रहे थे। विभिन्न पुराणों में, विशेषतया हरिवंश में किये गये राजवंशों के वर्णन से और महाभारत की विपुल परंपराओं से इनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। अंधकवृष्णीष जैसे गण संघों—जिस को सात्वत अथवा यादव भी कहते हैं और जिसमें भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में योगदान देने वाले कृष्ण का जन्म हुआ था—को भी युद्ध में उतरना पड़ा था और पराजित होकर दूसरे स्थान पर जाकर बसना पड़ा था (शिशुपाल ने इस गण को पराजित किया था)। अपने पूरे गण संघ के साथ यादवों को पश्चिम दिशा में जाना पड़ा था। राजकुलों में परस्पर युद्ध छिड़ गया जैसा कि पहले कभी नहीं सुना गया था और जो प्राचीन गण लोकतंत्र की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप माना जाता था। मथुरा का कंस, मगध का जरासंध और हस्तिनापुर के कौरव बड़े साम्राज्यों के निर्माणकर्ता बनने का प्रयास कर रहे थे। वे प्राचीन गण सैनिक लोकतंत्र के चिन्हों तक को मिटा कर संपूर्ण पैतृक परंपरागत राजत्व की व्यवस्था को—जिसमें विपुल धन, भूमि और दासों का संचय किया जा सके—पड़ोसी गणों पर भीषण हमलों और प्रतिद्वंद्वी संबंधियों से परस्पर गृहयुद्ध के द्वारा लाने की चेष्टा में लगे हुए थे। मूल निवासियों के गण संघों के साथ उनके इन संघर्षों और दासों के स्वामीकुलों में अपने शूद्रों और वैश्यों के द्वारा उत्पादित सामग्री पर अधिकार के लिए गृहयुद्धों का अन्त महाभारत में हुआ था। हस्तिनापुर के कौरवों में बहुत दिन पहले ही गण सदस्यों के लोकतंत्र का अन्त हो चुका था। पुरुषसूक्त में वर्णित प्राचीन कुरु अत पैतृक दासता की नींव धरने वालों में से एक थे और बड़े प्रादेशिक दास राज्य में उनका विकास हो चुका था। गण सदस्यों का लोकतंत्र धनी कुलों के ज्येष्ठों की अभिजातीयता में संकुचित होकर परिणत हो चुका था और अब ऐसा समय आ गया था जब निरंकुश राजतंत्र के हाथों से उनके भी नष्ट होने की संभावना पैदा हो गयी थी। इसीलिए कृष्ण ने कौरवों के ज्येष्ठों की सभा में यह शिकायत की थी कि कौरवों का नाश इस कारण से हुआ कि उनके ज्येष्ठ लोग उन नये शासकों के विरोध में सफलतापूर्वक शक्ति का प्रयोग नहीं कर सके जो समय से पहले ही प्राचीन लोकतंत्र के चिन्हों का ध्वंस करने की चेष्टा कर रहे थे। इस दुर्बलता का कारण यह था कि ये ज्येष्ठ लोग, जिनसे प्राचीन गण संघों के लोकतंत्रों की रक्षा की आशा की जाती थी, स्वयं उसके घातक बन बैठे थे। वे स्वयं धन, दास और भूमि के पीछे दौड़ रहे थे। युद्ध करना उनके लिए जीविका हो गया था। धन का संचय इतनी तेजी से हो रहा था कि युद्ध के अस्त्रों की विद्या में सबसे अधिक निपुण गुरु द्रोण बहुत दरिद्र थे। एक बार उनका पुत्र अश्वत्थामा दूध के लिए रो रहा था, तब उसे बहलाने के लिए गुरु द्रोण को पानी में सफेद

आटा घोल कर उसे पिलाना पड़ा था। और इस प्रकार रोते हुए अश्वत्थामा को शान्त किया था। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि वह अपनी सेवाओं को किन्हीं भी दासों के स्वामियों के हाथों में धन के बदले में बेचने के लिए तैयार थे। अभिजात वर्ग के लोग, जो दासों के स्वामी थे दासों से और उन अपराजित कबीलों से जहां से उनको दास प्राप्त होते थे, बहुत डरते थे। इसलिए अगर उनमें से कोई भी अस्त्र धारण करने की अथवा मानवता के अधिकारों को प्राप्त करने की चेष्टा भी करता तो उसको भयंकर से भयंकर दण्ड दिया जाता था। यदि निषाद पुत्र एकलव्य अपने स्वामियों की विचारधारा के प्रति श्रद्धा का स्वयं शिकार न हुआ होता तो द्रोण उसका अंगूठा नहीं कटवा सकते थे (गुरु द्रोण ने एकलव्य से गुरु-दक्षिणा में दाहिने हाथ का अंगूठा कटवा लिया था—अनु०) और वह शूद्र होता हुआ भी अस्त्र विद्या में अर्जुन का प्रतिद्वंद्वी हो सकता था। दासों के ये स्वामी लोभ से ग्रस्त हो चुके थे और धन के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास में सबसे महान नरसंहारी महाभारत के युद्ध को लड़ने के लिए तैयार हो गये थे।

दासता, धन और वर्ग शासन का प्रतिक्रियात्मक प्रभाव शासकों पर भी पड़ा था। गंगा और सिंधु नदी की घाटियों पर अधिकार प्राप्त कर लेने के उपरांत उनकी वह निपुणता और वीरता नष्ट हो गयी थी जिसका विकास उन्होंने गण-संघों के रूप में मूल वासियों, राक्षसों, नागाओं, निषादों, द्रविड़ों आदि को जीतने के समय में किया था। घोड़ों और लोहे के फल लगे बाणों की सहायता से पहले विजय प्राप्त करना आसान था। आक्रमणकारी आर्यों के पास ये साधन थे पर स्थानीय निवासियों के पास नहीं थे। उन्नतिशील गण फैलते गये और उन्होंने अपने लिए रास्ता बनाया। लेकिन जैसे-जैसे निजी सम्पत्ति, दासता, व्यापार और धन का संचय बढ़ता गया वैसे-वैसे गण लोकतंत्र विरोधी वर्गों में विभक्त होते गये और वे गृहयुद्धों के शिकार होने लगे। ज्यों-ज्यों भूमि और दासों की संख्या का विस्तार करना कठिन होता गया त्यों-त्यों अभिजात वंश परस्पर एक-दूसरे पर टूटने लगे। प्राचीन गण-लोकतंत्र के अनुसार सगे और निकट संबंधियों को बढ़ती हुई सम्पत्ति में से जो भाग मिलना चाहिए था, वह धन-संचय के कारण नहीं मिल पा रहा था। दासों को प्राप्त करने के लिए बाहरी कबीलों से किये गये युद्ध की प्रतिक्रिया अपने संबंधियों पर पड़ती थी और उनमें भी परस्पर युद्ध होने लगते थे, तथा लूट में हिस्सा लेने के लिए दासों के स्वामी अपने ही भाइयों से लड़ बैठते थे। पराजितों की दासता विजेताओं को लोभ का गुलाम बना देती थी। और इस लोभ ने अपने प्राचीन गण लोकतंत्र को नष्ट कर दिया था। नहीं तो किसने यह सुना था कि भाइयों के ही द्वारा भाइयों को और उनकी पत्नियों को जुए के दांव पर जीत कर गुलाम बना कर बेच दिया गया हो? यज्ञ साम्य संघ के उस प्राचीन काल में किस मां ने अपने सुन्दर

पुत्र को उस प्रकार से त्याग दिया होगा जिस प्रकार से कुन्ती ने कर्ण को छोड़ दिया था—क्योंकि वह कुमारी अवस्था में उत्पन्न हुआ था? और फिर भी वह गैर कानूनी पुत्र कर्ण, जिसका पालन-पोषण अनगों के दरिद्र और मामूली मछुआरों द्वारा किया गया था, अपने उन ''कानूनी'' भाइयों से अधिक वीर और उदार था? और राजा पाण्डु के अर्ध कानूनी पुत्र अर्जुन साधारण खेलों में भी इसलिए विजयी हो सके कि वे दासों के स्वामी राजन के पितृत्व का मिथ्याभिमान दिखा सके थे जबकि उनका प्रतिद्वंद्वी कर्ण अपने पिता का नाम नहीं बता सका था। प्राचीन गण साम्य संघों की मानवता दासों के स्वामियों के धन के मिथ्या गर्व और लोभ के आगे आत्मसमर्पण कर चुकी थी। महाभारत का युद्ध उसका फल था।

महाभारत का युद्ध प्रारंभ में हस्तिनापुर राज्य के ही शासक-वंश के राजकुमारों के बीच शुरू हुआ था। सगे-संबंधियों के बीच गृहयुद्ध के रूप में यह युद्ध प्रारंभ हुआ। यज्ञ गण सिद्धान्तों के यह सर्वथा विरुद्ध था क्योंकि उसके अनुसार एक संबंधी दूसरे संबंधी की हत्या नहीं कर सकता था।

प्रत्येक पक्ष ने अपने जिन सहयोगियों को चुना था उनमें अनेक ऐसे गण थे—जैसे कि सात्वत—जो अपने अन्दर से टूट चुके थे और कौरवों अथवा पाण्डवों के पक्षों से मिल कर परस्पर लड़ने के लिए गये थे। सामान्य रूप से उस समय में सम्पूर्ण गण संघों का लोकतंत्र नष्ट हो रहा था।

अन्य कई राज्यों के संबंधी राजकुमार आपस में अलग अलग होकर परस्पर विरोध को लेकर युद्धभूमि में उतरे थे—जैसे मगध के राजकुमार। अभिजात वर्ग के प्रत्येक वंश में गृहयुद्ध प्रवेश कर चुका था।

मूल-निवासियों के अनेक कबीलों ने, जिनके सरदारों ने इन शासक-कुलों से मित्रता कर ली थी, पराजय अथवा संधि के उपरांत उस युद्ध में भाग लिया था—जैसे राक्षसों ने। कुछ कबीलों ने—जैसे नागाओं और द्रविड़ों आदि ने—यह समझ कर इस गृहयुद्ध का स्वागत किया कि उनको इस युद्ध के द्वारा उन विस्तृत होते हुए राज्यों से छुटकारा मिलने का अवसर प्राप्त हो सकेगा जो उनको पराजित करने के बाद परतंत्र बना रहा था। इन राज्यों के सर्वनाश के ऊपर उन्होंने अपने बीते हुए अच्छे दिनों को लौटा लाने की आशा की थी—यद्यपि वह मिथ्या आशा ही थी।

यादव संघों के मण्डल के मुख्य सरदारों ने, यद्यपि कुरुओं के साथ उनका संबंध था, इस युद्ध में भाग लेने से इनकार कर दिया और कृष्ण के नेतृत्व में मध्यस्थ होने की चेष्टा की। लेकिन एक बार जब युद्ध आरम्भ हो गया, तब कुछ लोगों को छोड़ कर यह तटस्थता आभास मात्र ही रह गयी—जैसे कि कृष्ण की मध्यस्थता। कौरवों के विरोध में युद्ध

करते हुए पाण्डवों का पक्ष कृष्ण ने व्यक्तिगत रूप से लिया था जबकि उनकी सेनाओं ने कौरवों का साथ दिया था। इसका अर्थ यह था कि अंधक-वृष्णीषों में भी फूट थी और वे विरोधी पक्षों का समर्थन कर रहे थे।

इस प्रकार महाभारत युद्ध के भयंकर नरसंहार में लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत सम्मिलित हो गया था। गण संघों का पूरा प्राचीन संसार—सैनिक लोकतंत्र, अभिजातीय कुल संघ, दास-राज्य तथा अन्य सब लोग युद्ध के उबलते हुए कड़ाह में एक साथ डाल दिये गये थे। गणों के पुराने संसार का, उनकी प्रतिष्ठाओं, नैतिकता और आचार-व्यवहारों, आर्थिक और सामाजिक संबंधों का अन्त हो चुका था। एक नया संसार स्थिर होने की चेष्टा कर रहा था—जो लोभ का संसार था, जिसमें दासों के स्वामियों के धन और उनकी केन्द्रित शक्ति शोषित शूद्रों और वैश्यों को अपने वश में करना चाहती थी।

भगवद्गीता की कथा में उस भीषण संकट का आभास मिलता है जो उस समय के सामाजिक संबंधों और उनके प्रतिबिम्ब सैद्धांतिक मूल्यों पर छा गया था। कुछ समय के लिए उन दार्शनिक विचारधाराओं को छोड़ कर जिनके विषय में इस पुस्तक (गीता—अनु.) में वाद-विवाद किया गया है, अगर हम गीता के आरम्भ को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय गण के सामूहिक संबंधों और उनके सिद्धांतों पर मृत्यु-प्रहार करते हुए उन्हें पदच्युत किया गया था और उनके स्थान पर मानव द्वेषी शैली में निजी संपत्ति की नैतिकता और वर्ग संबंधों की उच्चता की स्थापना की गयी थी। ये नये संबंध यथार्थ में आ चुके थे, गीता ने उस यथार्थ को सिद्धांत की वाणी सौंपी थी और उन आलोचकों को मौन करने की चेष्टा की थी जो पुराने गण लोकतंत्र की दृष्टि से इस नये यथार्थ की आलोचना कर सकते थे। ईश्वर के नये अवतार और कलियुग के नाम पर गीता ने यह घोषणा की थी कि सगे संबंधियों और गण के सामूहिक लोकतंत्र का अन्त हो गया है और वर्ग-विरोधों तथा शोषण का युग आ गया है; गण की नैतिकता और आचार व्यवहारों का अन्त हो चुका है और वर्ग समाज की नैतिकता और आचार व्यवहारों की प्रतिष्ठा सबसे ऊंची है।

इसमें तो संदेह नहीं कि गीता के अठारह अध्यायों की रचना युद्ध-भूमि के मध्य-भाग में कृष्ण-अर्जुन के संवादों के रूप में नहीं हुई थी—जैसा कि कथा में कहा जाता है। उन महान व्यक्तियों की ओर श्रद्धा-युक्त होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि कृष्ण इतने यथार्थवादी थे कि वे अपने को इस हास्यास्पद अवस्था में नहीं रख सकते थे। महाभारत युद्ध के सिद्धांतकार ने उसकी (गीता की-अनु.) रचना किसी शांत कोने में बैठ कर की होगी। लेकिन गीता की रचना न तो केवल परवर्ती विचारों द्वारा उत्पन्न हुई थी और न युद्ध की भूमिका को सिर्फ इसलिए लिया

गया था कि लेखक के युग की दार्शनिक विचारधाराओं की मीमांसा की जाये। अगर यही उद्देश्य होता तो इसको शांति पर्व में स्थान मिलता जहां हर प्रकार के प्रश्न और सन्देहों को उठाया गया है और उनका उत्तर अथवा समाधान दिया गया है। गीता का लेखक उस मुख्य प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करता है जो उस समय महाभारत युद्ध में भाग लेने वाले प्रत्येक विचारक के मस्तिष्क में घूम रहा था। वह सवाल **संन्यास** अथवा **कर्मयोग** से संबंधित नहीं है। निस्सन्देह गीता के दर्शन ने मुख्य प्रश्न—अस्तित्व और चेतना के संबंध के प्रश्न—की मीमांसा की है। उसने इस बात पर भी अपना मत देना चाहा है कि भोजन तथा विचार व आचार में परस्पर क्या संबंध है? लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी स्पष्ट रूप से यह देख सकता है कि अर्जुन की खिन्नता न तो भोजन संबंधी थी और न उनके सामने यही समस्या थी कि किस दर्शन को चुना जाय। अर्जुन ने एक सीधा सा सवाल सामने रखा था। शायद वह सवाल उस समय के उन सब सामान्य लोगों के मस्तिष्क में उठ रहा था जिनमें गण संबंधों की नैतिकता और आचार व्यवहार के प्रति श्रद्धा या आदर की भावना बाकी थी। राज्य में उन्होंने अपना अधिकार मांगा था—यहां तक कि पांच गांवों के मिल जाने पर भी वे शान्त हो सकते थे। परन्तु वह सब जब नहीं हो सका तब उनको अपने गुरु, पितामह, भाई, चाचा संक्षेप में प्रत्येक उस संबंधी को मार डालने के लिए युद्ध भूमि में उतरना पड़ा जिनको मारना चाहे जिस कारण से भी हो—युग की प्राचीन नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध और पाप था—और जिसका सम्पूर्ण रूप से निषेध किया गया था। * प्राचीन गण लोकतंत्रों में ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि लोग इस प्रकार की हत्याओं को सबसे अधिक भयंकर और वीभत्स समझें। तब फिर यह सब कैसे उचित हो गया—और इनमें कोई पाप नहीं रह गया? अगर प्राचीन युग की नैतिकता पर दृढ़ रहा जाय तो यह मानना पड़ता कि दोनों पक्षों के महान नेता गलत रास्ते पर थे और वे सब कुलों को नाश और नरक की ओर लिये जा रहे थे। गण संघ और कुल संघ के विधान के अनुसार सिर्फ एक ही तर्क-संगत मार्ग रह गया था कि संन्यास ले लिया जाय—संपत्ति और राज्य के दावे और लोभ को छोड़ कर सगे-संबंधियों की हत्या के पाप से अपनी रक्षा की जाय। पर अगर युद्ध लड़ना ही था तो उसके लिए कौन सी नयी नैतिकता अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा प्रमाण बन कर अपने

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३५।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।
अहो बत महत्पापं कर्तुम् व्यवसिता वयम्
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।। गीता, अध्याय १, पृ. ४५।

सगे संबंधियों की हत्या को पापहीन प्रमाणित कर सकती थी? अर्जुन ने इसी प्रश्न को उठाया था—गण के सर्व सामान्य लोगों के मन में भी यही प्रश्न उठ रहा था और वे इसका उत्तर चाहते थे। गीता के सिद्धांतकार ने उसका उत्तर दिया है। उस उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज एक असाध्य आत्म-विरोध में फंस गया था और उसके लिए उस सिद्धांतकार को इससे अधिक अच्छा उत्तर नहीं मिल सका था कि—''यह प्रारब्ध अथवा भाग्य है, यह तुम्हारा वर्ग कर्त्तव्य है, विश्वास करो और आदेश का पालन करो।'' और फिर ऐसा लगता है जैसे कि तर्क के अभाव में नये वर्ग के नूतन नियमों को आधार अथवा आश्रय देने के लिए भय और आतंक का सृजन कृष्ण के विराट रूप द्वारा किया गया था। कृष्ण के उस विराट रूप में जैसे पूरा प्रारब्ध पहले से ही दिखाई दे गया था। अर्जुन को मौन कर दिया गया और अर्जुन ने यह कहा कि वे संतुष्ट हो चुके हैं। सामान्य मानवता को बातों से मौन कर दिया गया। विमूढ़, आतंकित और उन्मत्त होकर वह मानवता उस अपवित्र हत्याओं के क्षेत्र में उतरी जिसको नए सामाजिक संबंधों, दर्शनों और नियमों ने पवित्र बना दिया था। अगर हम पूरी अवस्था को धार्मिक पूर्वाग्रहों को छोड़कर ऐतिहासिक और न्याय के दृष्टिकोण से देखें तो गीता की कथा का यही पूरा सार निकलता है।

गण-संबंधियों के साम्य संघों के नियम के विरुद्ध किस प्रकार से गीता में नये प्रादेशिक वर्ग-शासन के नैतिक सिद्धांत को उपस्थित किया गया था?

सामूहिक श्रम और उपभोग वाले प्राचीन साम्य संघों में जब उत्पादनों और क्रियाओं की विभिन्नता का विकास हुआ तब श्रम-विभाजन अथवा वर्णों का उदय हुआ। हर वर्ण के अपने कर्तव्य निर्धारित हो चुके थे पर प्रत्येक उत्पादन और उपभोग सामाजिक होता था। साम्य संघ के किसी सदस्य के वर्ण कर्त्तव्य द्वारा उस व्यक्ति को कोई विशेष पारितोषक या फल अथवा संपत्ति-अधिकार नहीं प्राप्त होता था। वर्ण केवल किसी श्रम में विशेष निपुणता प्राप्त करते थे और उत्पादन के गुणों में वृद्धि तथा सामाजिक संगठन के रूपों को उन्नत करते थे। किन्तु जब विनिमय, व्यापार, निजी संपत्ति और धन की उत्पत्ति हो गई तब अपनी वर्ण-स्थिति के अनुसार प्रत्येक परिवार ने निजी संपत्ति और अधिकारों का निर्माण कर लिया। स्वभाव से ही जिन वर्णों का संबंध युद्ध, विनिमय और उत्पादन के संचालन से था वे समाज में आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली वर्ण हो गये। प्रभुत्वशाली ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ण में जो दरिद्र थे उनको श्रमिक वर्णों में अथवा जैसा कहा जाता है—विशालत्व में उतार दिया जाता था। वर्ण, वर्गों में बदल गये। वर्ण संबंध, श्रद्धा और कर्त्तव्य की परिणति वर्ग सम्बंध, श्रद्धा और कर्त्तव्य में हो गयी थी। ऊपर के दो वर्ण शोषक वर्ग थे और नीचे के दो वर्ण शोषित वर्ग थे। केवल शूद्र दास को छोड़ कर प्रत्येक व्यक्ति अपना वर्ण बदल सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि संपत्ति और पद के अनुसार वह

अपने वर्ग का परिवर्तन कर सकता था। वर्ग अधिकार अथवा वर्ण अधिकार गण साम्य संघों के अधिकारों से श्रेष्ठ मान लिए गए थे और वे उनका (साम्य संघ के अधिकारों का) दमन भी करते थे।

क्षत्रियों का वर्ण के अनुसार यह कर्त्तव्य था कि वे युद्ध करें और युद्ध में अपने शत्रुओं का नाश करें। लेकिन गण साम्य संघों के युग में शत्रु सदैव बाहरी गण होता था। गण के अन्दर वर्ग-विरोध न होने के कारण गण सदस्यों के विरुद्ध क्षत्रियों के युद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता था—क्योंकि गण के सब सदस्य परस्पर रक्त संबंधी होते थे। जब साम्य संघों में निजी संपत्ति और दासता का प्रवेश हुआ तब उस विभाजित साम्य संघ के अन्दर दासों और दरिद्रों के ऊपर क्षत्रिय और ब्राह्मण शोषक बन कर शासन-शक्ति में परिवर्तित होने लगे। अब इस अवस्था में उन लोगों का यह वर्ण कर्त्तव्य हो गया था कि शोषण के आधार पर खड़े हुए वर्ग-संबंधों और उसकी आर्थिकता की सुरक्षा और उसका विकास करने के लिए वे असंबंधी और संबंधी दोनों से युद्ध करें। धन, पशु, गाँव, भूमि, दास, राज्य तथा वह सब कुछ जो एक व्यक्ति या परिवार की संपत्ति बन सकता था—इन सबको सुरक्षित रखने, बढ़ाने और प्राप्त करने के लिए युद्ध करना तथा लोगों को मारना ब्राह्मण और क्षत्रिय कुलों के लिए कर्त्तव्य और अधिकार हो गया था—वह शत्रु या विरोधी चाहे जो कोई भी हो। वह सगा संबंधी भी हो सकता था; रक्त संबंधी, गुरु, पितामह, गण का सदस्य अथवा बाहरी भी हो सकता था। क्षत्रिय रूप में अर्जुन को गीता ने यही पहला पाठ पढ़ाया था। इस पाठ या शिक्षा का आधार वर्ण-वर्ग विरोध से उत्पन्न नये संबंध थे, न कि प्राचीन धर्म अथवा आदिम साम्यवादी व्यवस्था के लोगों के स्वयं संचालित सशस्त्र संगठन के आधार पर यह पाठ पढ़ाया गया था। यदि तुम लड़ते हो और विजयी होते हो तो तुम्हें राज्य भूमि और आनन्द प्राप्त होंगे और अगर युद्ध में तुम मारे गये तो भी तुम्हें स्वर्ग मिलेगा—नये धनिक शासक वर्ग के जीवन और आचरण का सर्वोत्तम आदर्श यही स्वर्ग था। शासन तंत्र और निजी संपत्ति के यौवन काल में निर्धन वैश्य और शूद्रों का शोषण करने और कबीलों को युद्ध द्वारा दासों में बदलने के लिए क्षत्रियों को कम से कम अपनी गरदन की तो बाजी लगानी ही पड़ती थी। परवर्ती काल में अपनी गरदन की यह बाजी भी रखी हुई सेनाओं पर टाल दी गयी थी।

सामूहिक जीवन के धर्मों और कर्त्तव्यों को लुप्त करने के बाद और एक वर्ग के ऊपर दूसरे वर्ग की हिंसा को स्थापित करने के बाद गीता किसी ऐसे सु-सामंजस्यपूर्ण वर्ग-समाज को स्थापित करने का आश्वासन देने में सफल नहीं हुई जिसमें शोषण के ढांचे के अन्दर भी शोषक और शोषित दोनों को ऐसे जीवन और जीविका पर विश्वास हो सकता जिसमें बार-बार संकट न छा जाते। प्राचीन साम्य संघ में उत्पादन शक्तियों की निर्धनता के ढांचे में भी हर एक को सामूहिक उत्पादन में से मिलने वाले अपने भाग पर विश्वास था; वह उपयोग के लिए उसका उत्पादन

करता था और साम्य संघ उस वस्तु को उसे उपयोग करने के लिए देता था। उत्पादक के हाथों से—मुद्रा के रूप में बदल जाने के लिए—उत्पादन कभी अलग नहीं होता था। उसका उत्पादन उपयोग करने के लिए किया गया था, मुद्रा में बदले जाने के लिए नहीं। इसलिए वह (उत्पादन) अपना रूप छोड़कर और अपने अलावा किसी दूसरी वस्तु में बदल कर आज की भांति व्यापार द्वारा पूरी दुनिया में स्वर्ण अथवा हिरण्य के कालीन पर चक्कर लगाता नहीं घूमता था। अब तो वह विचित्र प्रत्यय (Abstraction) जिसको स्वर्ण-मुद्रा कहते थे, हर परिमाणों और हर रूपों में, प्रत्येक वर्ग और वर्ण में तथा पृथ्वी की हर वस्तु के लिए प्रामाणिक मान लिया गया था। कौन सी ऐसी रहस्यमयी और अप्रत्यक्ष शक्ति इस हिरण्य में व्याप्त थी जिसने इसको इस सीमा तक व्याप्त और फिर भी इतना स्वरूप-मात्र बना दिया था? वह कौन सा चमत्कार-पूर्ण प्रत्यय था जो इसको सब वस्तुओं को गतिमय करने और साथ ही साथ प्रत्येक वस्तु बन जाने की शक्ति दे देता था? यह कैसे संभव हुआ था कि जो व्यक्ति किसी वस्तु का निर्माण उपयोग अथवा आनन्द के लिए करता था वह स्वयं उस मुद्रा के बिना—उस रहस्यमय हिरण्य के बिना—उसका उपभोग नहीं कर सकता था और न उसका आनन्द ही ले सकता था? यह क्यों होता था कि जब वह किसी वस्तु को मुद्रा में बदल देता था तो वही मुद्रा उस वस्तु को नहीं खरीद पाती थी जिसको उसने कल खरीदा था? दास लोग परिश्रम करते थे और स्वामी लोग आनन्द करते थे, कुछ लोग व्यापार में लाभ कमाते थे और कुछ लोगों को घाटा हो जाता था। क्या आदमी के जिन्दा रहते हुए जीवन के पास ऐसा कोई नियम था जिसके अनुसार ईमानदारी से परिश्रम करने के उपरांत उसे ईमानदार जीविका प्राप्त हो सकती थी? हा, ईश्वर! क्या तू भी स्वयं हिरण्य के गर्भ में से उत्पन्न होकर हिरण्य गर्भ[1] तो नहीं हो गया था?

आदिम साम्य संघों में इस प्रकार के कोई भी प्रश्न नहीं उठते थे—उसमें ऐसे किसी दर्शन की जरूरत नहीं थी जो विरोधी मानव-संबंधों के बीच सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा करते। प्राचीन साम्य संघ के वैदिक साहित्य में स्तुति की जाती थी, आवाज उठायी जाती थी, नाचा जाता था और मंत्रोच्चार आदि किया जाता था तथा लोग इस प्रश्न के हल के लिए माथापच्ची करते थे कि एक गाय ज्यादा दूध किस तरह से दे सकती थी। वेद के 'दार्शनिक' को यह बात विचित्र और चमत्कारपूर्ण लगती थी कि वह हरे रंग की घास जो काले रंग की गाय के पेट के अन्दर गई थी, सफेद रंग के गरम दूध के रूप में बाहर निकली थी।

[1] ऋग्वेद के बाद के अध्यायों में सृष्टि-कर्ता को **विश्व-कर्मा और हिरण्य गर्भ** के नाम से पुकारा गया है और वेदान्त दर्शनों का अद्वैत आदर्शवाद जिसमें **आत्मा** और **ब्रह्म** का संबंध स्थापित किया गया है, अंशतः इन्हीं विचारों से उत्पन्न हुआ। (देखिए **ऋग्वेद १०, १२१**)

उसको इस बात पर आश्चर्य होता था और वह आतंकित भी हो उठता था कि भूमि में डाला हुआ एक बीज उग आता था और फिर बहुत से बीजों को जन्म दे देता था। वह इन सब बातों के कारणों को जानने की चेष्टा करता। वह यह भी जानना चाहता कि वह प्रकृति किस प्रकार से अपना काम करती थी जो इन वस्तुओं को गति सौंपती थी। वह एक पेड़ को काट कर गिरा देता, उसमें से एक कतरन को अलग कर लेता, उससे बाण बनाता, सोचता और समझता, कार्य-कारण के संबंधों को जोड़ता—और एक हिरन का पीछा कर उसको मारता और खा लेता था। वह इसमें प्रसन्न रहता। प्रकृति द्वारा दिये हुए वृक्ष की डाल उसका बाण कैसे बन गयी और हिरन उसका भोजन किस प्रकार से बन गया? क्योंकि उसने एक योजना बनायी थी और उसके अनुसार परिश्रम किया था। पर वहां पर वह वृक्ष और वह हिरन कैसे कहां से आ गये? हिरन क्यों एक दिन मिल जाता था और दूसरे दिन नहीं मिलता था? उस आदमी की विशेष समस्या प्रकृति को समझने की, उस पर अधिकार करने की और उस समय के अनुसार अपने जीवन की वृद्धि और उसे आनन्दमय करने की थी। उसने मनुष्य को मरते देखा और उसे उसने स्वप्न में देखा। यज्ञ-हवन अथवा यज्ञ-अग्नि के चारों ओर लेटे हुए भी स्वप्न में उसने अपने को उड़ते हुए, विचित्र प्रदेशों में भ्रमण करते हुए देखा था। क्या उसके अन्दर कुछ ऐसा नहीं था जो स्वयं उसके परे हो, जो योजना बनाता था या विचार करता था? उसने प्रेतों और आत्माओं की कल्पना की। उसने सभी वस्तुओं में अपने जीवन को देखा—यानी प्रत्येक वस्तु में अपने जीवन के सदृश ही जीवन को देखा। वह विशेष से सामान्य की ओर बढ़ रहा था, सीख रहा था और विश्व की प्रक्रिया को समझने के लिए 'दर्शनी-करण' कर रहा था। वह तर्क, प्रमाण, चिन्ता, भावना, चेतना का अस्तित्व से संबंध आदि बातों की परीक्षा तह में जाकर करने की कोशिश कर रहा था। इसी अवस्था में **ऋग्वेद** का **नासादीय** सूक्त—जो अकेला दार्शनिक सूक्त था—उत्पन्न हुआ था। लेकिन वेद और उनका यज्ञ साम्य-संघ उसके आगे कभी नहीं गया। इसी प्रकार से प्रारंभिक उपनिषदों के दर्शन के मार्ग की रचना की गई थी।

किन्तु उस अवस्था में मनुष्य स्वयं अपनी रचना यानी सामाजिक शक्तियों से युद्ध करने में नहीं फंस गया था। उस समय ऐसे कोई आत्मविरोध नहीं थे जिनको हल करने की आवश्यकता पड़ती। उसका भोजन उसके पेट को भर देता था और उसकी क्षुधा शान्त हो जाती थी और वह प्रसन्न हो जाता था। उसके वस्त्र उसे गरमी देते थे और वह प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हो जाता था।

परन्तु अब एक ऐसा समाज आ गया था जिसमें आत्मविरोध और शोषण था। उसके भोजन ने उसको छोड़ दिया और किसी दूसरे के पेट को भरने लगा जो उसके लिए परिश्रम नहीं करता था। उसके वस्त्रों ने उसको छोड़ कर उसके मालिकों के शरीर को ढंकना शुरू कर दिया और

वह शीत से कांपता रहा। अगर वह यह पूछता था कि ऐसा क्यों होता है तो उस पर चोट पड़ती थी। अगर वह उत्पन्न करने से इंकार करता था तो ''समाज'' की सम्पूर्ण हिंसा उसके सर पर उतर कर उसे इसके लिए बाध्य करती थी कि वह उत्पादन करे। उसको यह बताया गया कि उत्पादन करना उसका कर्त्तव्य है। अगर अपने को जीवित रखने के लिए वह यथेष्ट भाग की मांग उठाता था तो उस पर 'लोभी' होने का अपराध लगाया जाता था और उसको नम्र रहने की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार से गीता और उपनिषद् के उस गूढ़ सिद्धांत का जन्म हुआ था जो यह कहता था :

''तुम्हें केवल वही करना है और उसी को करते जाना है जिसे तुम्हारे जीवन की अवस्था अथवा पद के अनुसार ठहरा दिया गया है। जो कुछ तुम करते हो उसके फल के ऊपर तुम्हारा कोई बस या अधिकार नहीं है। अपने कर्मों के फलों को ध्यान में लाकर कभी काम मत करो; और सदैव काम करते रहो।''*

यह गीता की वह विख्यात शिक्षा है जिसका उपदेश विरोध करने वाले अर्जुन को दिया गया था और महाभारत के युद्ध से लेकर सदियों तक यही शिक्षा साधारण मनुष्य को दी गयी है। यह उस वर्ग समाज के दर्शन का सार-तत्व है जो आत्म-विरोधों, अराजकता, संकट और दुर्भाग्य में उलझ गया था और जो सामाजिक जीवन की एक निश्चित योजना के अनुसार फल देने का आश्वासन नहीं दे सकता था। निजी संपत्ति और उत्पादन की अराजकता तथा उत्पादन के ऊपर से उत्पादक के नियंत्रण को दूर रखना—ये सब बातें आदिम साम्य संघ में संभव नहीं थीं और भविष्य के समाजवादी समाज में भी संभव नहीं रहेंगी। इन सब बातों के कारण उत्पादक को दासता और गुलामी में जकड़े रखने के लिए तथा शासक वर्ग के शोषण और दमन को उचित प्रमाणित करने के लिए वर्ग-शासकों के धर्मों के आधार पर उपर्युक्त शिक्षा या नारे का उपदेश देना आवश्यक हो गया था।

कर्तव्य और लोक-संग्रह (जाति कल्याण) के विशाल तर्क भी चंचल-चित्त अर्जुन को हत्या के लिए तैयार न कर सके। अर्जुन के मन में भावनाएं और अनुभव जागे हुए थे। वे जानते थे कि एक बार मरने के बाद सब खत्म हो जायगा चाहे वह हो और चाहे कोई दूसरा हो। और जब इस तरह का तर्क उठा तो गीता ने तमाम मानवों को एक सार रूप में पृथक कर दिया जिसे आत्मा कहते हैं। यद्यपि यह आत्मा शरीर में बंद है फिर भी वह उससे भिन्न है। यह आत्मा न तो अनुभव करती है, न विचारती है, न जिन्दा रहती है और न मरती है। चेतना और भावना आदि शरीर के क्षणिक गुण हैं और जिस शक्ति से वे उत्पन्न होते हैं उस पर अधिकार

* कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा संगोऽस्त्व कर्मणि।। **गीता**, २-४७।
नियतं कुरु कर्म त्वम्। **गीता**, ३-८।

किया जा सकता है। और जब उस पर अधिकार प्राप्त हो जाता है तो व्यक्ति उस अवस्था को (स्थितप्रज्ञ) प्राप्त हो जाता है जहां पर अपने कर्मों में वह कभी लिप्त नहीं होता अथवा उसके कर्मों के फल उसके लिए कभी बंधन नहीं बनते। यदि उस अवस्था में वह हत्या भी करता है तो उसका पाप उसको नहीं लगता और क्योंकि मरने वाले और मारने वाले की आत्मा तटस्थ और अमर है इसलिए यथार्थ में कुछ भी घटित नहीं होता। इस प्रकार का व्यक्ति कोई दुःख या सुख तथा गरमी या सरदी का अनुभव नहीं करता। जीवित रहते हुए भी उसने अपने शरीर से मोक्ष पा ली है और मृत्यु के बाद वह अपने कर्मों के पाप-पुण्य के फलों को भोगने के लिए दोबारा जन्म नहीं धारण करता। इस प्रकार महाभारत युद्ध के भीषण और अपार संहार को माया या भ्रम में विलीन कर दिया गया था।

भविष्य में आने वाली अनेक सदियों तक शासक वर्ग ने इस सिद्धान्त का उपयोग श्रमिक जनता की विद्रोह की भावना, क्रोध और कष्टों के विरुद्ध उनकी लड़ने की भावना को उनसे दूर रखने के लिए किया है। इस सिद्धान्त के आधार पर ही जनक और उनके समान अनेक व्यक्तियों के विषय में विचित्र कथाएं गढ़ ली गयी थीं जिनके अनुसार धनी राजा सबसे अधिक स्वादिष्ट भोजन करते हुए भी रसास्वादन के आनन्द को ग्रहण नहीं करता था; सुन्दर से सुन्दर वस्त्र धारण करता था पर कभी भी उनमें लिप्त नहीं होता था। इसलिए उसी प्रकार श्रमिक दास का यह कर्तव्य है कि भूख लगने पर भी उसे आनन्द मनाना चाहिए, अपनी भावनाओं को नियंत्रण में रखना चाहिए और निर्धारित कर्तव्य का पालन करने के लिए अपने शरीर को चेतना-शून्य यंत्र में बदल लेना चाहिए। जब हर व्यक्ति इस अवस्था को पा लेगा तो दरिद्रता और कष्ट विलीन हो जायेंगे—क्योंकि मनुष्य के लिए उनका कुछ अर्थ ही नहीं रह जायगा। जब विचारों की इन सरल कलाबाजियों से प्रत्येक व्यक्ति सुख की प्राप्ति कर लेगा तो सामाजिक आधार पर शोषण, दासता, उत्पादन का बंटवारा, शासन-तंत्र तथा हिंसा के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठ सकेगा।

महाभारत युग के परवर्ती काल के वर्ग समाज के सिद्धान्तकार को अपने इस प्रकार के तर्क की सफलता पर पूरा विश्वास नहीं था कि उसके द्वारा मानव की बुद्धि को सन्तुष्ट किया जा सकेगा और उसके आचार-व्यवहार तथा उन सामाजिक संबंधों का नेतृत्व किया जा सकेगा जो मानवता के संपूर्ण जीवन और भावना के प्रतिकूल हैं। इसलिए शासक वर्ग के सब नेतृत्वों की तरह श्रमिक जनता का पूरा बौद्धिक व्यक्तित्व छीन कर उनको शासक वर्ग का अंधभक्त बना देने के लिए उसने यह अंतिम उपदेश दिया—"प्रत्येक धर्म और आदर्श को भाग्य के सहारे पर छोड़ तू मेरी शरण में आ।"* और जहां तक अराजकता अथवा संकट को दूर करने का प्रश्न था उसके विषय में गीता का लेखक पाठक के सामने कोई आशा का संकेत

* सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। **गीता**, अ. १८-६६।

नहीं करता और हम लोगों को केवल यह सान्त्वना देकर छोड़ देता है कि संकट को दूर करने के लिए युग-युग में ईश्वर अवतार धारण करता रहेगा। और इस तरह से इस विषय को दुर्बल मानवता के हाथों से छीन लिया गया और बताया गया कि योजना-रहित विश्व की योजना की रचना सामाजिक मानव द्वारा नहीं हो सकती है।

गीता अथवा **उपनिषद्** की तमाम दार्शनिक-विचारधाराओं का विवेचन हम यहां पर नहीं करने जा रहे हैं। हम यहां पर केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दर्शन की वह आदर्शवादी विचारधारा जिसको हम **वेदान्त** में पाते हैं उस युग की उत्पत्ति है जब आर्यों का समाज वर्ग-आत्मविरोधों में, संघर्ष और युद्ध द्वारा टूट चुका था। साथ ही साथ हमको इस बात के लिए सजग भी रहना चाहिए कि जब हम इन दार्शनिक विचारधाराओं का अध्ययन करें तो विचारकों अथवा दार्शनिकों की उन ईमानदार चेष्टाओं को जो उन्होंने तत्व-पदार्थों के विश्लेषण और उनके विषय में अपने विचारों को व्यक्त करने में की है—शासक वर्गों की उस प्रवृत्ति से अलग रखें जिसके अनुसार उन विचारों का उपयोग, जो किसी विशेष युग के सामाजिक संबंधों के अनुरूप तथा उनसे सीमित होते थे, वे अपने वर्ग हितों के लिए किया करते थे। और फिर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि उस युग में तमाम सामाजिक चिन्तना और उसके नियम धार्मिक सिद्धान्तों में व्यक्त किये गये थे, इसलिए क्रान्तिकारी वर्गों और शोषित भागों की स्वतंत्र होने की चेष्टा भी विभिन्न संप्रदायों, दार्शनिक विचारधाराओं और धर्मों की स्थापना में ही व्यक्त हुई थी। यह आवश्यक है कि किसी भी विचारधारा अथवा सम्प्रदाय की भूमिका को समझने के लिए, उस युग के वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि के आधार पर उसका परिचय प्राप्त किया जाय। इस विषय में भी महाभारत युद्ध के सिद्धान्तकार और उस युद्ध के परवर्ती निष्कर्ष विशेष सामाजिक भूमिका की पूर्ति करते हैं। वर्ग-समाज के आदर्शवादी दर्शन के सिद्धान्तों के आधार को न छोड़ते हुए भी वे (सिद्धान्तकार—अनु.) दासता की कटुता और कठोरता को कोमल बनाने के लिए एक समझौते की कोशिश शोषक और शोषित के संबंधों में किसी प्रकार का परिवर्तन लाये बिना करते हैं। इस विषय में गीता की भक्तिवाद की विचारधारा, महाभारत युग के दास-स्वामियों के अत्यंत प्रतिक्रियावादी विधि कर्मों से एक अग्रगामी चरण था। यह किन कारणों से संभव था? इसका कारण महाभारत युद्ध के बाद की अवस्था थी। इसलिए अब हम महाभारत युद्ध के बाद की दशा को देखने की चेष्टा करेंगे।

अध्याय १५

दासता की दुर्बलता—
नयी शक्तियां, नयी अवस्था

उस समय सब विचारशील व्यक्ति महाभारत युद्ध के जिस फल के भीषण भय से भयभीत थे, और साधारण लोग जिसका अनुभव अपने आप अपनी नसों में कर रहे थे वह सच हो कर रहा। दोनों पक्षों की आशा के विरुद्ध महाभारत युद्ध के अन्त तक पराजित और विजेताओं दोनों का संहार इतनी मात्रा में हुआ कि विजयी पांडव युद्ध के बाद एकदम दिवालिया हो गये और लगभग प्रत्येक प्रमुख व्यक्ति, राजा और राजकुमार, वीर महारथी और सेनानायक उसमें मारे गये। वे तमाम राज्य जिन्होंने उस युद्ध में भाग लिया था और उनके साथ साथ युद्ध में योगदान देने वाले गण-संघ बहुत दुर्बल हो गये थे और संहार की भीषणता द्वारा वे बिखर गये थे। जब दास-स्वामियों की शासन-व्यवस्थाएं दुर्बल हो गईं और गणसंघों के शासक-नेता कमजोर हो गये तब नागों, निषादों और दूसरी जातियों को आराम से सांस लेने का अवसर मिला; और अपनी पिछली दशा को लौटा लाने के लिए उन्होंने उन आर्य-कुलों और उनकी सेनाओं पर आक्रमण करना शुरू कर दिया जो एक दिन शक्तिवान थे, जिनसे लोग डरते और घृणा करते थे।

उस समय दास-स्वामियों की शासन-व्यवस्थाओं में जो सामान्य संकट छा गया था उसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि नाग जातियों और उनके साथ साथ अन्य कबीलों के आक्रमण पूर्व, पश्चिम और दक्खिन दिशा से गंगा की वादी में स्थित राज्यों पर सामान्य रूप से आरम्भ हो गये थे। दास-स्वामियों के दिवालियेपन का आभास इससे मिलता है कि अपनी विजय के उत्सव को मनाने के हेतु अश्व मेध यज्ञ करने के लिए धर्म (धर्मराज-युधिष्ठिर—अनु.) के पास धन नहीं रह गया था। जब तक कोई छिपा हुआ खजाना न मिल जाये तब तक यह यज्ञ संपन्न नहीं हो सकता था।* उनके तथाकथित पुण्य कर्मों के उत्सव ने उस पीड़ित

* दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तम च नास्ति में।।१२।।
स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थम् द्विज-सत्तम।।
करमाहरयिष्यामि संघ शोक परायणः।।१४।।
—महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ३।

साधारण जनता मे किसी उत्साह का संचार नहीं किया था जो विजेताओं की हंसी अपनी शैली में उड़ाती थी। पाण्डवों की उत्सव-भूमि में एक ऐसे चूहे ने प्रवेश किया जिसका आधा शरीर स्वर्ण में बदल गया था। चूहे की विशेषता को देख कर किसी ने पूछा कि उसे क्या चाहिए और उसका केवल आधा शरीर ही क्यों स्वर्ण का बन गया है ? चूहे ने इधर उधर सूंघा और जब उसका बाकी आधा शरीर स्वर्ण का नहीं हुआ तो उसने यह उत्तर दिया कि उसका आधा शरीर उस भूमि को छूने के कारण सोने का हो गया था जहां पर एक दरिद्र ने बैठ कर कुछ टुकड़ों का दान दिया था। लेकिन दास स्वामियों की इस उत्सव-भूमि में जहां पर इतना वैभव बह रहा है और ब्राह्मणों को भोजन दिया जा रहा है इतनी शक्ति नहीं है कि उसके बाकी बचे हुए आधे शरीर को सोने का बना दे। विजेता के पुण्यों पर यह साधारण लोगों का भाष्य था ! शासक वर्गीय वर्णों के सब अंश दरिद्रता में फंस गये थे और अपनी सेवाओं को किसी के भी हाथों में बेच देने को तैयार थे। उन स्थानों पर जहां पर अनावृष्टि और अकाल की अवस्था थी शासक वर्ग के अभिमानी ब्राह्मण जंगलों में भाग कर घृणित चाण्डालों की शरण में गये थे और पराजित तथा दास चाण्डाल को यह अवसर मिल गया था कि विजयी आर्यों के पवित्र विश्वामित्र को वह यह उपदेश दे कि जीवन की रक्षा के लिए मरे हुए कुत्ते के शव को खाना ठीक नहीं है। बड़े राज्यों का आतंक जब दुर्बल हो गया, और युद्ध के दौरान में शासक वर्गों का वैभव और शक्ति के प्रति जो लोभ था वह सबके सामने प्रत्यक्ष हो गया, तथा जब सब लोग यह जान गये कि नैतिकता और पुण्य की तमाम बातें केवल दूसरों के परिश्रम से भूमि, दासों और जीवन के आनन्दों को लूटने के लिये परदा मात्र थीं, तब प्रखर भौतिकवाद उनके सामने चुनौती देकर खड़ा हो गया। लेकिन अपने वर्ग हितों के प्रति सत्यनिष्ठ पाण्डवों ने भौतिकवादियों की हत्या करना शुरू कर दिया।[1] कहीं ऐसा न हो कि असंतुष्ट जनता का नेतृत्व वे वास्तव में करने लग जायें? पर ये सब बातें उठती हुई जातियों की प्रगति को आसानी से नहीं रोक सकीं और उस समय तक जीवित गण-संघों में आन्तरिक गृह-युद्ध और भी भयंकर रूप में फूट पड़ा।

महाभारत के मौसल पर्व में कृष्ण ने अपने ही यादवों के गण-संघ में अपनी जिस शोचनीय अवस्था की शिकायत की है उससे सामान्य ध्वंस और नाश की मुख्य रूपरेखा का आभास मिल जाता है।

साधारण रूप से यादवों का अंधक-वृष्णीष गण संघ महाभारत के युद्ध से अलग ही रहा था। सौराष्ट्र क्षेत्र की द्वारावती नगरी में सुरक्षित ढंग से वह संघ निवास करता रहा था। शिशुपाल तथा उसके अन्य साथियों

[1] देखिए महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय, ३७।

के आक्रमणों से परेशान होकर उसे वहां जाना पड़ा था। पर इसका अर्थ यह नहीं था कि यादव-गण के लोकतंत्र ने अपनी रक्षा दूषित अभि-जातीयता की पतनशीलता से कर ली थी। उस संघ के अन्दर प्रमुख धनी कुलों के बीच परस्पर इतना भयंकर वैमनस्य चल रहा था कि उसके निर्वाचित गणपति कृष्ण ने अन्य नेताओं के विरुद्ध शिकायत करते हुए कहा था कि यादवों को अपने पक्ष में रखना बहुत कठिन है। अपने नेतृत्व को बनाये रखने के लिए कृष्ण को जो उपदेश नारद ने दिया वह बहुत सुन्दर और दिलचस्प है। उन्होंने (नारद ने—अनु.) कृष्ण पर यह दोष लगाया कि यथेष्ट रूप में वे विनम्र और मृदुभाषी नहीं थे और सहभोज देने तथा भेंटों के वितरण करने में वे काफी धन नहीं खर्च करते थे। गण के नेतृत्व को जीत कर अपनाने में इस बात की सहायता लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गण का संगठन वर्ग-विभाजन के भार से छिन्न-भिन्न हो रहा था। मौसल पर्व में यह कथा लिखी है कि यादव लोग मिलजुल कर एक साथ जीवन के सामान्य आनन्दों का उपभोग करने के लिए गये हुए थे। उन्होंने स्वादिष्ट भोजनों के साथ सुरा का भी खूब पान किया था। फिर वाद-विवाद करने लगे। महाभारत युद्ध में सम्मि-लित होने वाले कुछ लोगों के कपट कर्मों के विषय में वाद-विवाद होने लगा—और उसी में कुछ लोग उठकर परस्पर लड़ने लगे। अभी तक अभि-जात कुलों में जो छिपा हुआ वैमनस्य था वह सार्वजनिक संहार के रूप में फूट पड़ा। जब यह गृहयुद्ध चल रहा था तो नाग जाति के लोगों ने सागर की दिशा से आकर गण-संघ के नगर पर आक्रमण कर दिया। उसी आक्रमण में स्वयं कृष्ण मारे गये और अनेक प्रमुख यादवों की हत्याएं हुईं। यह गृहयुद्ध भी इतना भीषण था कि परवर्ती काल में भाषा के अन्दर 'यादवी' शब्द का अर्थ ही गृहयुद्ध हो गया।

अन्धक-वृष्णीषों की सहायता के लिए पाण्डव गये पर नाग जाति तथा अन्य लोगों से वे उनकी रक्षा नहीं कर सके। गंगा की वादियों की राज्य-शक्तियों का, कुरुओं तथा पुरुओं का आतंक खत्म हो चुका था। अर्जुन ने यह शिकायत की थी कि नाग जातियों और अन्य लोगों के विरोध में लड़ने के लिए जब वे अपने विख्यात अस्त्रों के पास गये तो 'उन्होंने आने से इंकार कर दिया'—उनकी शक्ति खत्म हो चुकी थी। इस नरसंहार में कुछ परिवार बच सके थे जो हस्तिनापुर चले आये थे।

लेकिन हस्तिनापुर अब उठती हुई शक्ति का केन्द्र नहीं रह गया था। महाभारत युद्ध के बाद कुछ दिनों तक तो पाण्डव जीवित रहे पर फिर महाभारत के कथानसार वे एक कुत्ते के साथ स्वर्ग चले गये। उनके पौत्र राजा परीक्षित नागाओं द्वारा मार डाले गये। यह जान कर परिस्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है कि उन ब्राह्मण नेता को, जिनका नाम कश्यप था और जो परीक्षित के ऊपर होने वाले आक्रमण की योजना से परि-चित थे, उनको नागों के प्रमुख नायक तक्षक ने स्वर्ण देकर खरीद लिया

था। ऐसा लगता है कि परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नाग जाति पर आक्रमण करके उनको समझौता करने पर बाध्य कर दिया था जिससे कुछ काल के लिए उसको विश्राम अथवा शान्ति मिल गयी थी। उसके बाद महाभारत का युग हमारे लिए खत्म हो जाता है। महाभारत के युग के उपरान्त के इतिहास में एक सूना और अंधकारमय युग आया था जिसके बाद गंगा की वादी में नये आधार के ऊपर बड़े राज्यों का उदय फिर होने लगा था। इन राज्यों का आकर्षण बिन्दु अब हस्तिनापुर न होकर मगध का पाटलीपुत्र था।

परन्तु उस समय तक दासता का ह्रास होने लगा था। देहात के अर्ध-दास (Serf) और शहर के दस्तकार और उनके बाद गतिशील व्यापारी दृश्य में प्रमुख रूप से आने लगे थे। उन सब के ऊपर सर्वशक्तिमान एक राजा का शासन होता था। दासों के स्वामियों के घरों के आधे आजाद और आधे भगे हुए दासों ने जमींदार-व्यापारी युवकों के साथ साथ उनके दर्शन-लोक में प्रवेश किया। वे बुद्ध धर्म के प्रारंभिक अग्रणी गुरुओं के भक्त और शिष्य बनने लगे। पर इस विषय पर हम अधिक यहां पर नहीं कहना चाहेंगे। हम केवल इस ओर संकेत करना चाहते हैं कि महाभारत युद्ध के फलस्वरूप दास व्यवस्था इतनी दुर्बल हो गयी थी कि वह अपने आधार पर पुराने ढंग के अनुसार और आगे नहीं चल सकी। निस्सन्देह, दासता चलती रही और दास-स्वामियों के राज्यों का फिर से संगठन भी होता गया तथा उनकी वृद्धि भी होती गयी। लेकिन एक ओर तो उनके परस्पर संहार के कारण और दूसरी ओर निषादों और नागाओं के विद्रोह व विरोध ने उनकी प्रगति को उतना आसान और सस्ता नहीं रहने दिया था जितना वह प्राचीन युग में था। और फिर नागाओं के पास लौट जाने और जीविका के उत्पादन के लिए इतनी विशाल आश्रय भूमि थी कि दास-प्रथा अपने कठोरतम रूप में बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। खोये हुए और काम न करने के योग्य दासों की फिर से पूर्ति करना कठिन हो रहा था, दास-स्वामियों के विजित प्रदेश उनकी शक्ति के बाहर होते जा रहे थे और प्रजा दरिद्र हो रही थी। वादियों की भूमि की उर्वरता और उनकी विशालता, भागे हुए दासों और पराजितों को आश्रय दे रही थी और उनको संघर्ष करने का अवसर प्रदान कर रही थी। इसके अलावा उत्पादन, विनिमय और व्यापार की वृद्धि के द्वारा एक नये व्यापारी वर्ग की उत्पत्ति हो गयी थी। यह व्यापारी वर्ग आर्थिक व्यवस्था में एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में आया था। नागरिक पूंजी के सहयोग से भागे हुए दासों को अपने दस्तकारों में परिणित करने में उसने लाभ कमाया। ये व्यापारी और दस्तकार सबल राजाओं के शासन में रहते थे जिनकी (राजाओं की) शक्ति इस बात पर निर्भर थी कि किस सीमा तक वे नगर और देहात के विरोधी हितों के बीच, व्यापारी तथा भूमि और दास स्वामियों के विरोधी हितों के बीच खेल सकते थे।

जैसा हम कह आये हैं कि कृषि का विकास बहुत बड़े पैमाने पर हो चुका था। भूमि के ऊपर निजी अधिकार का प्रश्न गंभीर रूप लेता जा रहा था। और उपर्युक्त नयी अवस्था में दास-प्रथा के आधार पर इस काम को पूरा करना कठिन होता जा रहा था; और यही कठिनता दस्त-कारी औद्योगिक उत्पादन-वृद्धि की भी थी। दास प्रथा को नष्ट करने और अर्ध-दास व्यवस्था को उसके स्थान पर लाने के लिए अवस्था परि-पक्व हो रही थी। महाभारत के युद्ध ने इस सामाजिक प्रक्रिया के वेग को तेज करने में कम सहयोग नहीं दिया।

इन्हीं अवस्थाओं ने शोषक वर्ग के शास्त्रकारों और दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक कर दिया था कि दास-प्रथा को वे दूसरे दृष्टिकोण से देखें। महाभारत के परवर्ती काल में गीता के सिद्धांतकार ने इसी बात को उस स्थल पर कहा था जहां कृष्ण यह कहते हैं कि—"यद्यपि स्त्री, वैश्य और शूद्र दासों का जन्म दासता करने के लिए ही हुआ है फिर भी अगर वे मेरे भक्त हों तो उनको स्वर्ग में स्वतंत्रता मिल सकती है।" इस प्रकार हम यह देखते हैं कि महाभारत के युग में दास-स्वामियों के राज्यों ने आर्य वैश्य को भी दासता की श्रेणी तक पहुंचा दिया था। ये आर्य वैश्य प्राचीन गण साम्य संघों के मूल स्वाभिमानी विश् थे जो परिश्रम करते थे। लेकिन दास-स्वामियों के राज्यों में वैश्य और स्त्री जाति को शूद्र दास के समकक्ष बना दिया गया था। उनके लिए न तो इस पृथ्वी पर मोक्ष थी और न उनके लिए स्वर्ग ही था। पितृ-सत्तात्मक दासता के आरंभ काल में दासों के स्वामी ब्राह्मण और क्षत्रिय, दास वर्ग की स्त्री से विवाह कर सकते थे या उसे घर बैठाल सकते थे और उससे उत्पन्न संतान संपत्ति में बराबर का अधिकार पाती थी। परंतु स्वयं दास लोग स्वतंत्र होने की बात अथवा निजी संपत्ति संचय करने की बात को सोच नहीं सकते थे। इसलिए स्वयं आर्य गणों के अन्दर जब संपत्ति-भेद बहुत तेज होता गया और संपत्तिहीन वैश्य को दासों की श्रेणी में फेंक दिया गया तो उसने (वैश्य ने) गृहयुद्ध और क्रांति की धमकी दी थी। विजयी दास-स्वामियों के एकाधिपति शासन ने दरिद्र वैश्यों और उनके सहायक निषाद-नागाओं के विरोध को कुचल दिया और पूर्ण आतंक के राज्य को स्थापित किया। यह वह युग था जिसमें आर्य वैश्य को शूद्र के समकक्ष बनाया गया था। स्त्री वहां पर पहले से ही थी। तभी से दास-स्त्री के साथ संबंध ने अपनी उस विशेषता को खो दिया जो पितृ-सत्ता के काल में थी। उच्च वर्ग के पुरुष द्वारा दास-स्त्री से पैदा हुई संतान ने अपने पुराने पद को खो दिया। प्राचीन पितृ-सत्ता की व्यवस्था में उन संतानों को स्वतंत्र पितृकुल के वर्ण में सम्मिलित किया जाता था लेकिन अब उन संतानों को अपनी दास-माता का वर्ण प्राप्त होता—यानी कि आंशिक स्वतंत्रता का मार्ग भी अब उनके लिए बंद कर दिया गया था।

अपराजित और अर्ध-पराजित जनसंख्या इतनी बड़ी थी कि दास

स्वामियों के कुलों को शांति मिलना कठिन था। वर्ग भेद की तीक्ष्णता के कारण स्वयं आर्य वैश्य भी आर्यत्व से पतित होकर दासता में जा गिरे थे। उत्पादन शक्तियों की वृद्धि तेजी के साथ हो रही थी और इसकी वजह से नये उत्पादन संबंधों की मांग उठ रही थी। विनिमय, व्यापार, दस्तकारी, व्यापारी वर्ग और उनकी नयी सामाजिक शक्तियों ने पहले दासता को मिटाने की मांग उठायी। गीता के कृष्ण के नाम पर यह घोषणा की गयी। इस काम के लिए कृष्ण का नाम सर्वोत्तम था क्योंकि वे उस सबसे बड़े गण-संघ के सबसे प्रिय प्रतिनिधि थे जो महाभारत के युद्ध के बाद भी जीवित रहा था। उनको ''स्वर्ग लोक में स्वतंत्रता'' के नारे का वाहक बनाया जा सकता था, और एक ऐसा समझौता किया जा सकता था जिसके अनुसार इस लोक में शोषक वर्ग की शांति को बिना भंग किये हुए दास और स्त्रियां परिश्रम करते जाते और अपने परिश्रम के फल अथवा मजदूरी को उस स्वर्ग लोक में पाने की आशा रखते जहां अपने स्वामियों के समकक्ष स्वतंत्र पद पाने का उन्हें आश्वासन दिया गया था। आज यह बात सुनने में बहुत विचित्र सी लगती है, पर वास्तव में यह इतनी विचित्र नहीं है। यह उन नयी शक्तियों के साथ दास-स्वामियों का समझौता था जो अर्धदास-व्यवस्था और सामन्तवादी व्यवस्था की ओर बढ़ रही थीं।

दासता प्रथम प्रकार का शोषण थी, शोषण का यह विशेष रूप प्राचीन काल में वर्तमान था। इसके बाद मध्य काल में अर्ध दासता और आधुनिक काल में मजदूरी व्यवस्था इसके रूप हो गये। गुलामी के ये तीन बड़े बड़े रूप हैं जो सभ्यता के तीन महान युगों की विशेषता के अनुरूप चलते रहे हैं। प्राचीन काल में यह गुलामी खुले रूप में और आधुनिक काल में छिपे रूप में रही है, पर यह युगों से हमेशा साथ साथ चलती आ रही है।

इस विवेचनात्मक लेख में हम सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था की विवेचना नहीं करेंगे। इस पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि हम यह दिखायें कि आदिम साम्य संघ की उत्पत्ति, विकास और ध्वंस किस प्रकार से हुआ और किस प्रकार से दासता का प्रवेश उस राज्य-व्यवस्था के साथ हुआ जिसका आधार दण्ड था तथा जिसमें निजी संपत्ति और दासों के विजयी स्वामियों का हिंसात्मक एकाधिकार होता था। वह वन्य मनुष्य जो एक दिन यह भी नहीं जानता था कि आग किस तरह बनायी जाती है अब विशाल सीमाओं में विकसित हो चुका था, उसने महाद्वीपों को बसाया, राज्यों और नगरों का निर्माण किया, अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रकृति का उपयोग करने के लिए विशाल उत्पादन शक्तियों को विकसित किया और अपने को वन्य-अवस्था से अर्द्ध वन्य-अवस्था तक, अर्द्ध वन्य अवस्था से सभ्यता तक आगे बढ़ाया। उसने युद्ध और शांति के अस्त्रों, तथा कला और साहित्य को विकसित किया।

प्रकृति के नियमों और रहस्यों को जानने के लिए उसने उसका अध्ययन और विश्लेषण किया। लाखों भूत-प्रेतों, देवी-देवताओं के विचारों से उसने अद्वैतवाद की समस्याओं को उठाना सीखा। विशेष से सामान्य, व्यक्ति से सार्वजनिक, तथा बाह्य जगत से अन्तर्जगत की चिन्तना की समस्याओं को उसने उठाना आरम्भ किया।

लेकिन प्रगति की इस गति के साथ-साथ पतन अथवा प्रतिक्रिया भी चलती रही। अर्ध वन्यों के प्राचीन साम्य संघों में वर्ग, वर्ग-संघर्ष, दासता, लोभ, संपत्ति, तथा संबंधियों के बीच परस्पर हिंसा नहीं थी, पर आगे चल कर वे दासता, वर्ग युद्ध, लोभ तथा भाई के विरोध में भाई की हिंसा के शिकार हो गये।

''क्योंकि सभ्यता का आधार एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण था, इसलिए उसका सम्पूर्ण विकास लगातार आत्म-विरोधात्मक रहा है। उत्पादन का प्रत्येक आगे बढ़ता हुआ कदम साथ ही साथ शोषित वर्ग की दशा का पीछे की ओर पड़ता हुआ कदम भी है यानी कि विशाल बहुसंख्यकों की दशा पिछड़ने लगती है। जिससे कुछ लोगों को लाभ होता है उसी से आवश्यक रूप में दूसरों की हानि होती है। एक वर्ग की नई स्वतंत्रता दूसरे वर्ग के लिए नये दमन का कारण बन जाती है...... और जैसा कि हम लोग देख चुके हैं अर्ध वन्य अवस्था में अधिकारों और कर्त्तव्यों के बीच में कोई विभाग रेखा खींची नहीं जा सकी थी लेकिन सभ्यता की अवस्था में अधिकारों और कर्त्तव्यों का भेद और उनका परस्पर विरोध इतना साफ हो उठा है कि एक कम बुद्धि वाला मनुष्य भी यह देख सकता है कि वास्तविक रूप में एक वर्ग को सब अधिकार और दूसरे वर्ग को सब कर्त्तव्य सौंप दिये गये हैं।

''लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए। जो शासक वर्ग के लिए कल्याणकारी है, उसको उस पूरे समाज के लिए भी कल्याणकारी होना चाहिए जिसके साथ में शासक-वर्ग अपना एकात्म स्थापित करता है। इसलिए सभ्यता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों आवश्यक रूप से उत्पन्न अपनी बुराइयों को छिपाने के लिए उसे प्रेम और दान का परदा खड़ा करना पड़ता है। उन बुराइयों को कभी झूठी क्षमा याचना से और कभी उनको अपनी कृति न बता कर वह सभ्यता एक रूढ़ि के रूप में ढोंग अथवा मिथ्याचार का सृजन करती है जिसका अस्तित्व समाज के प्राचीन रूपों में तथा सभ्यता की प्रथम अवस्था में भी वर्तमान नहीं था। और वह मिथ्याचार या ढोंग इस घोषणा द्वारा अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है कि : शोषक वर्गों के द्वारा पीड़ित वर्गों का शोषण सर्वथा और केवल शोषित वर्गों के कल्याण के लिए ही किया जाता है; और अगर शोषित वर्ग इस सत्य को नहीं देख पाते और विद्रोही तक बनने को तैयार हो जाते हैं तो अपने कल्याणकारियों अथवा शोषकों के प्रति उनकी यह सबसे हद दर्जे की कृतघ्नता है।''

(एंगेल्स, परिवार की उत्पत्ति, मास्को संस्करण, पृष्ठ २५२-५३)

लेकिन समाज के वर्गभेद का अस्तित्व अनादि काल से नहीं चला आ रहा है और न राज्य अथवा शासन तंत्र ही अनादि रहा है।

"इस तरह के समाजों का अस्तित्व रहा था जिन्होंने अपना प्रबंध बिना राज्य-व्यवस्था के भी किया था और जिसमें राज्य अथवा राज्य शक्ति का विचार अथवा उसकी धारणा भी नहीं थी। आर्थिक विकास की एक विशेष अवस्था में समाज आवश्यक रूप से वर्गों में विभक्त हो गया था और इस वर्ग-विभाजन के ही कारण राज्य शक्ति का अस्तित्व आवश्यक हो गया था। अब हम तेजी से उत्पादन के विकास की एक ऐसी अवस्था की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें इन वर्गों का अस्तित्व न सिर्फ अनावश्यक, वरन् उत्पादन वृद्धि के लिए घातक भी हो गया है। उनका (वर्ग-भेदों—अनु.) नाश उतनी ही अनिवार्यता से होगा जितनी अनिवार्यता के वशीभूत होकर उनका जन्म हुआ था। उनके साथ-साथ राज्य-व्यवस्था भी अनिवार्य रूप से नष्ट हो जायगी। जो समाज नये रूप में उत्पादकों की स्वतंत्रता और समता के आधार पर उत्पादन को संगठित करेगा, वह समाज राज्य के पूरे यंत्र को उस स्थान पर रख देगा जो उसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान होगा—यानी पुरातन वस्तुओं के संग्रहालय में चरखे और कांसे की कुल्हाड़ी के निकट उसको भी रख दिया जायगा।"

(एंगेल्स, परिवार की उत्पत्ति)

परन्तु मानवता के अतीत काल का यह संग्रहालय अंतिम रूप से तभी बन सकेगा जब संसार के अधिकांश देशों में वर्गहीन समाज और कम्युनिज्म का निर्माण हो जायगा। अब संसार उस युग मे प्रवेश कर चुका है।

परिशिष्ट १

(देखिए पृष्ठ ८६)

महाभारत में वर्णित अठारह माताओं और उनसे बने गणों के नाम :

मातृसत्ता से	ये गण बने
१. आदिति	आदित्य
२. दिति	दैत्य
३. दनु	दानव
४. काला	कालकेय
५. विनता	वैनतेय
६. कद्रु	कद्रवेय
७. मुनि	मौनेय
८. प्राधा	प्राधेय
९. कपिला	कापिल
१०. कृत्तिका	कार्तिकेय
११. सिंहिका	सैंहिकेय
१२. पुलोमा	पौलोम
१३. वसु	वासव
१४. विश्वा	विश्व
१५. मरुत्मती	मरुत्मन्त
१६. भानु	भानव
१७. मुहूर्त	मुहुर्त (मौहुर्तेय)
१८. सध्या	साध्य

महाभारत में इन्हीं गणों से विख्यात पुरुषों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इन गणों के परस्पर-विरोधों की कथाएं भी महाभारत में वर्णित हैं।

परिशिष्ट २

(देखिए ''तीसरे संस्करण की भूमिका'')

१. **(पृष्ठ ई): दासों का वर्गीकरण।**

नारद ने नीचे लिखे पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख किया है:

गृह जातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः।
अनाकाल भृतो लोके अहितः स्वामिना च यः।।२४।।
मोक्षितो महतश्चार्णात्प्राप्तो युद्धात्पणार्जितः।
तवाह मित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः।।२५।।
भक्तदासश्चविज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः।
विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पंजदशस्मृताः ।।२६।।नारद–५।

मनुस्मृति में सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है।

नारद द्वारा दी गयी दासों की सूची बहुत व्यापक है, इसलिए **मनुस्मृति** में दी गयी सूची का उल्लेख अनावश्यक है। (**मनुस्मृति**, ८-४१५)

२. **(पृष्ठ इ): दासों को किस विधि से मुक्त किया जाता था,** उसके लिए नारद प्रणीत सूत्रों को देखिए।

जल से भरे मिट्टी के एक घड़े को दास के कंधे से उतार कर स्वामी तोड़ डालता था। उसके बाद अन्न एवं फूल मिले हुए जल को दास के सर पर छिड़कता और तीन बार उसके स्वाधीन होने की घोषणा करता था।

३. **(पृष्ठ ई): दासों को किराये पर देना और उन्हें पीड़ित करना।**

देखिए **जातक**, भाग १, पृष्ठ ४०२। इसमें एक दासी के भाग्य की कथा का उल्लेख किया गया है जिसे उसके स्वामी ने दूसरे के पास काम करने के लिए भेजा था। जब वह धन लाने में असमर्थ रही, तो बेंतों से उसे मारा गया।

कटहक नाम का एक दास था जिसने परिवार के (स्वामी के) पुत्रों के साथ-साथ पढ़ना और लिखना सीख लिया था। अन्य कर्मों में कुशल होने के अलावा वह भाषण कला में भी निपुण था। उसे भंडार-गृह के रक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। लेकिन उसे सदा यह भय लगा रहता कि कभी न कभी वह किसी अपराध के कारण अपने पद से हटाया जा सकता है, और तब उसे मारा-पीटा, और ताले में बन्द भी किया जा सकता है।

[तालेत्वा बंधित्वा लख्खणेन अंकेत्वा दासपरिभोगेणपि परिभुंजिस्सन्ति]

४. (पृष्ठ ख): महाभूमि अथवा राजसत्ता द्वारा अधिकृत भूमि।

इसका उल्लेख ''गोपथ राजमार्ग जलाशयोद्यान्विता'' (जिसमें पशुओं के लिए मार्ग, सरोवर, आदि भी होते थे) के नाम से किया गया है।

५. (पृष्ठ ङ): राजसत्ता के द्वारा नियुक्त कर्मचारियों के विषय में।

७८८–८९ समय का विभाजन तीन प्रकार से किया गया है—सूर्य की गति के अनुसार, चन्द्रमा की गति के अनुसार और सवन के अनुसार।

७८९–९० वेतन सदैव सूर्य की गति के अनुसार देना चाहिए। चन्द्र की गति के अनुसार ब्याज जोड़ना चाहिए और प्रति दिन का वेतन सवन के अनुसार देना चाहिए।

७९१–९२ समय, काम अथवा दोनों के अनुसार वेतन दिया जा सकता है। इसलिए वेतन तय किये, यानी समझौते, के मुताबिक देना चाहिए।

७९३–९४ 'अमुक स्थान तक तुम्हें यह भार ले जाना होगा और मैं तुम्हें इस काम के लिए इतना धन दूंगा'—इस सिद्धान्त के अनुसार जो पारिश्रमिक निर्धारित होता है, वह काम के अनुसार है।

७९५–९६ 'प्रत्येक वर्ष, मास अथवा दिन में तुम्हें इतना धन दूंगा'—इस सिद्धान्त के अनुसार वेतन निर्धारित करना समय के अनुसार माना जाता है।

७९७–९८ 'तुमने इतने समय में इतना काम किया है; इसलिए मैं तुम्हें इतना दूंगा'—इस प्रकार के पारिश्रमिक निश्चित करना समय और काम दोनों के अनुसार कहा जाता है।

७९९–८०२ वेतन देना न तो किसी को रोकना चाहिए और न स्थगित ही करना चाहिए। मध्यम वेतन वह है जिसके द्वारा आवश्यक भोजन और वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है। उत्तम वेतन के द्वारा वेतन और वस्त्र यथेष्ट मात्रा में प्राप्त होते हैं। अल्प वेतन वह है जिससे कोई किसी तरह जीवित रह लेता हो।

८०३–४ शासक को स्वयं अपने कल्याण के लिए सावधानी के साथ कर्मचारियों की योग्यता के अनुसार वेतन तय करना चाहिए।

८०५–६ वेतन इस प्रकार से तय करना चाहिए कि कर्मचारी अपने अनिवार्य आश्रितों का भी भरण-पोषण कर सकें।

८०७–८ अल्प वेतन पाने वाले कर्मचारी स्वभाव से ही शत्रु होते हैं। वे दूसरों के साधन, अवसर खोजने वाले, निधियों एवं लोगों को लूटने वाले होते हैं।

८०६ शूद्रों का वेतन उनके भोजन तथा वस्त्र भर के लिए ही होना चाहिए।

८१३–१४ सेवक तीन प्रकार के होते हैं—आलसी, साधारण एवं क्रिया-शील। इसलिए इसी क्रम के अनुसार उनका वेतन भी अल्प, मध्यम और उत्तम होना चाहिए।

८१५–१६ अपने घरेलू काम के लिए रखे गये सेवकों को दिन भर में एक **याम** और रात्रि में तीन **याम** का अवकाश देना चाहिए। उस सेवक को, जो एक दिवस के लिए ही नियुक्त किया गया है, केवल आधे **याम** का अवकाश देना उचित है।

८१७–१८ उत्सव के दिनों को छोड़कर राजा को प्रति दिन उनसे काम लेना चाहिए। यदि काम अपरिहार्य हो, तो उत्सव के दिन भी अवकाश नहीं देना चाहिए, लेकिन श्राद्ध के दिन अव-काश अवश्य देना चाहिए।

८१६–२१ यदि सेवक बीमार हो, तो उसे निर्धारित वेतन से एक-चौथाई कम देना चाहिए। जो सेवक बहुत समय से रोगी हो, उसे तीन मास का वेतन देना चाहिए। परन्तु इससे अधिक किसी को नहीं देना चाहिए।

८२२–२४ जो सेवक एक सप्ताह बीमार रहा हो, उसके वेतन में कोई कटौती नहीं करनी चाहिए। यदि वह एक वर्ष तक रोगी रहा हो, तो उसके वेतन में थोड़ी ही कटौती करना चाहिए और यदि वह निपुण सेवक हो, तो उसे आधा वेतन देना चाहिए।

८२५ शासकों को चाहिए कि वे अपने सेवकों को एक वर्ष में पन्द्रह दिनों का अवकाश दें।

८२६–२७ जिस सेवक ने चालीस वर्षों तक सेवा की हो, उसे बिना किसी काम के आधा वेतन देना चाहिए।

८२८–२६ (सेवक को) जीवन भर और यदि उसका पुत्र असमर्थ एवं

बाल्यावस्था में हो, तो उसे भी, अथवा उसकी पत्नी और शीलवान कन्याओं को आधा वेतन देना चाहिए।

८३०–३१ शासक को चाहिए कि प्रति वर्ष सेवक के वेतन का आठवां भाग उसे पारितोषित के रूप में दे। और यदि सेवक ने काम को असाधारण दक्षता से किया हो, तो उसे उन सेवाओं के मूल्य का आठवां भाग भी दिया जाना चाहिए।

८३२–३३ यदि सेवक की मृत्यु स्वामी की सेवा करते हुए हुई है, तो वही वेतन उसके पुत्र को बाल्यावस्था में देना चाहिए अथवा पुत्र की योग्यता के अनुसार उसे वेतन देना चाहिए।

८३४–३५ सेवक के वेतन का छठा अथवा चौथाई भाग शासक को अपने पास सुरक्षित रूप में रखना चाहिए और दो या तीन वर्षों में उसका आधा अंश या पूरा भाग दे देना चाहिए। (प्रो. सर-कार का मत है कि इसमें प्रोविडेन्ट फंड का विचार ध्वनित होता है।)

८३६–३७ कठोर शब्द, अल्प वेतन, क्रूर दंड तथा अपमान द्वारा स्वामी अपने सेवकों के अन्दर शत्रु के गुणों को जगाता है।

८३८–३९ वे दास जो वेतन द्वारा संतुष्ट, असाधारण योग्यता के कारण आदृत एवं कोमल वाणी के द्वारा शीलवान होते हैं, अपने स्वामियों का त्याग कभी नहीं करते।

८४०–४१ क्षुद्र स्वभाव के सेवक धन की लालसा करते हैं, मध्यम प्रकृति के सेवक धन और यश दोनों की इच्छा रखते हैं, और उत्तम सेवक केवल यश चाहते हैं। श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए यश ही धन है।

(**शुक्रनीति**—पाणिनि कार्यालय, संस्करण १९१४, प्रो. विनय कुमार सरकार द्वारा अनूदित; भाग १३; सेकरेड बुक आफ द हिन्दूज सिरीज।)

६. **(पृष्ठ छ): वररुचि।**

पाणिनि के बाद संस्कृत भाषा का सबसे महान वैयाकरण कौन था ? प्राचीन भारत के प्रलेखों से यह ज्ञात होता है कि वररुचि प्राकृत भाषाओं

के महान वैयाकरणों में से एक थे। उन्होंने महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची एवं शौर्य सेनी, आदि प्रमुख भाषाओं का व्याकरण लिखा है।

संभवतः वररुचि अशोक से पूर्व हुए थे।

७. (पृष्ठ छ): गुणाढ्य।

भारतीय इतिहास के अध्यायों में गुणाढ्य की कथा अत्यंत रोमांचकारी है और वह प्राकृत भाषा के लोक साहित्य की विख्यात ''वृहत्कथा'' में संग्रहीत है।

वररुचि और गुणाढ्य का, जो एक सातवाहन वंशीय शासक था, अध्ययन करना अपनी राष्ट्रीयताओं और प्राकृत भाषाओं तथा साहित्य को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

परिशिष्ट ३

स्थायी सेनाएं और अर्थ-व्यवस्था

(देखिए पृष्ठ ऊ)

ईसा की छठी शताब्दी से दूसरी शताब्दी पूर्व तक, अर्थात महात्मा बुद्ध के आविर्भाव एवं अशोक के अन्त तक, भारत में अनेक महान साम्राज्यों की रचना की गयी। उनके राजस्व के साधनों तथा उनके उपयोग के विषय में जानना आवश्यक है। इस विषय को स्पष्ट करने की सामग्री हमें **कौटिल्य अर्थ-शास्त्र** तथा अन्य ग्रंथों में मिल सकती है।

इन ग्रंथों से हमें यह ज्ञात होता है कि राज-सत्ताएं अथवा सम्राट कृषि का संचालन दासों, वेतनभोगी सेवकों और स्वतंत्र कृषकों की सहायता से करते थे। वे उन कारखानों तथा उद्योगशालाओं के संरक्षक थे जिनमें केवल सेना के लिए अस्त्र-शस्त्र ही नहीं, वरन व्यापार की वस्तुओं का भी उत्पादन होता था। अवश्य ही इनके अलावा भी राजस्व के अन्य साधन थे।

यहां अध्ययन का पहलू यह है कि इन साम्राज्यों की छत्रछाया में आर्थिक क्रियाशीलताओं ने **बिकाऊ माल** के उत्पादन एवं उसकी सह-कारिणी मुद्रा की भूमिका तथा व्यापारिक पूंजी का विकास किस सीमा तक किया था।

इसी क्षेत्र में अध्ययन का दूसरा दिलचस्प पहलू उन स्थायी सेनाओं की, जिनका भरण-पोषण ये साम्राज्य किया करते थे, भूमिका के एवं अर्थ-व्यवस्था तथा जनता पर होने वाले उनके प्रभाव के बारे में है।

हमें चार साम्राज्यों की सेनाओं का विवरण नीचे लिखे रूप में प्राप्त होता है :

	पैदल	घुड़ सवार	हाथी सवार
मगध	६०,०००	३०,०००	९००
कलिंग	५०,०००	१०,०००	७००
तलुक्त	५०,०००	४,०००	७००
आंध्र	१००,०००	२,०००	१०००

सिकन्दर की सूचना के अनुसार चन्द्रगुप्त से पूर्व नन्दों की सेना नीचे लिखे रूप में थी :

पैदल	घुड़ सवार	हाथी सवार	रथ सवार
२,००,०००	२०,०००	४,०००	२,०००

ये संख्याएं तथा विभिन्न शस्त्रों की तुलनात्मक बनावट अध्ययन के लिए विशेष महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं।

उस समय की उत्पादन शक्तियों के स्तर को ध्यान में रखते हुए यह जानना आवश्यक है कि इस प्रकार की सेनाओं के भरण-पोषण के लिए किस मात्रा में उत्पादक शक्तियों को अलग रखना आवश्यक होता था। यदि इस प्रयोजन के लिए गांवों से कुछ भाग राजस्व के रूप में लिया जाता था, तो किस सीमा तक यह भार जनता के ऊपर भूमि-कर के रूप में पड़ता था ? यदि इसका कुछ भाग बाजार से प्राप्त किया जाता था और कर्मचारी भी उसका एक भाग देते थे (मुद्रा अथवा अन्न के रूप में), तो इस प्रकार के उपयोग में कितनी मुद्राएं आती थीं? उस समय की प्राकृतिक आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार के बिकाऊ माल के परिचालन का क्या प्रभाव होता था?

अध्ययन के लिए यह प्रश्न भी आवश्यक है कि विभिन्न शस्त्रों के तुलनात्मक भार एवं धातु-मिश्रण से किस प्रकार की सामाजिक रचना का चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है? मार्क्स का कथन है कि सेना प्रायः अपने सामाजिक विभाजन का प्रतिबिम्ब होती है।

क्या साम्राज्य की इन सेनाओं से हमें तत्कालीन समाज की आन्तरिक रचना में निहित वर्ग-सम्बन्धों और शक्तियों के संतुलन को जानने में सहायता मिल सकती है?

इस सम्बन्ध में मैं पाठकों का ध्यान इस विषय पर लिखे गये कार्ल मार्क्स के एक पत्र की ओर खींचना चाहूंगा :

"अन्य वस्तुओं से अधिक स्पष्ट रूप में **सेना** का इतिहास, उत्पादन शक्तियों और सामाजिक सम्बन्धों के परस्पर जुड़े होने की धारणा की सत्यता को सामने ले आता है। साधारण रूप से आर्थिक विकास के लिए सेना महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, सेना में ही सबसे पहले प्राचीन लोगों ने वेतन के सिद्धान्त का विकास किया था। उसी प्रकार से रोमवासियों में **पिकुलियम कास्त्रेन्से** (शिविर सम्पत्ति) वह पहला वैधानिक रूप था जिसमें परिवारों के पिताओं के अतिरिक्त चल सम्पत्ति पर परिवार के अन्य सदस्यों का अधिकार स्वीकृत हुआ था। उसी प्रकार से **फाब्री** (सेना सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए कारीगरों) संगठनों में संघ की व्यवस्था स्थापित हुई थी। यहां ही सबसे पहले बड़े पैमाने पर यंत्रों का उपयोग शुरू हुआ। ग्रिम द्वारा प्रतिपादित प्रस्तर युग के बाद धातुओं और उनसे

बनी मुद्राओं का विशेष मूल्य भी, मौलिक रूप से उनके सैनिक महत्व पर आधारित मालूम होता है। एक शाखा के अन्दर श्रम के विभाजन की प्रणाली भी सबसे पहले सेना में ही आरम्भ हुई थी। पूंजीपति समाज के सभी रूपों का पूर्ण इतिहास बड़ी स्पष्टता से संक्षिप्त रूप से इसमें व्यक्त होता है।...

"मेरे विचार में आपके विवरणों में जो बातें छूट गयी हैं, वे इस प्रकार हैं : १) व्यापक पैमाने पर तनखा पाने वाली सेना का सर्वप्रथम पूर्ण उदय और शीघ्र ही कार्थेजियनों में उनका... २) पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में इटली में सैन्य व्यवस्था का विकास... ३) एशिया की सैन्य व्यवस्था का वह रूप, जिसका उदय सबसे पहले फारसवासियों में और बाद में, यद्यपि कई भिन्न रूपों में, परिवर्तित होकर मंगोलों और तुर्कों, आदि में हुआ...।"

(कार्ल मार्क्स का एंगेल्स के नाम पत्र, २५ सितम्बर १८५७)

पारिभाषिक शब्द

Abstraction	प्रत्यय
Anarcho-society	अराजक-समाज
Ancestry	पूर्वजता
Anthropologist	नृ-तत्व वैज्ञानिक
Arable	कृषि योग्य
Arbitration	मध्यस्थता। निर्णय
Astronomical	ज्योतिष संबंधी
Autocracy	स्वेच्छाचार। स्वैराधिराज्य
Barbarism	अर्ध-वन्यता। वन्य
Being	अस्तित्व। सत्ता
Blood duty	रक्त संबंधी कर्तव्य
Bronze Age	कांस्य-युग
Bureaucracy	नौकरशाही
Catholicism	रूढ़िवाद
Central power	केन्द्रीय-शक्ति
Cereals	खाद्यान्न
Chattel	चल-संपत्ति
Chronological	काल क्रमानुगत
Civil War	गृह-युद्ध
Civilization	सभ्यता
Class	वर्ग
Classless society	वर्ग-हीन समाज
Class-ridden society	वर्ग-मय समाज
Class struggle	वर्ग-संघर्ष
Colony	उपनिवेश
Collectivism	सामूहिकतावाद
Collective property	सामूहिक संपत्ति
Communal labour	साम्य सांघिक श्रम
Commune	साम्य संघ
Community	जाति
Consanguine	सगोत्र

Consanguinity	सगोत्रता
Copper plate	ताम्र-पत्र
Corn pestle	आटा पीसने की चक्की
Diety	देव-शक्ति
Dialectics	द्वन्द्वात्मकवाद
Dictatorship	एकाधिपत्य
Division of labour	श्रम-विभाजन
Divine regulator	दैवी-नियंत्रक
Domestication	पालतू बनाना
Dogmatic	कट्टर (अंध) विश्वासी
Driving force	उत्प्रेरक-शक्ति
Dynamic	गतिमान
Epics	महाकाव्य
Equalitarian	समानतावादी
Faculty	शक्ति
Family community	परिवारगत-जाति
Farinaceous	खाद्य-जड़
Fatalist	भाग्यवादी
Father right	पितृ-अधिकार
Feudal	सामन्ती
Feuds	संघर्ष। युद्ध
Genealogy	वंशावली
Gen mother	गण मातृ। गण जननी
Gentile society	गण-समाज
Group marriage	यूथ-विवाह
Group mating	यूथ-संभोग
Handicraft guild	दस्तकार-समूह
Historical Materialism	ऐतिहासिक भौतिकवाद
Holy Trinity	पवित्र-त्रयी
Idealist	आदर्शवादी
Ideological	सैद्धान्तिक
Imperialist bourgeoisie	साम्राज्यवादी पूंजीपति
Inheritance	दाय। पितृदाय
Intelligentsia	बुद्धिजीवी

Industrial Revolution	औद्योगिक क्रान्ति
Instruments of production	उत्पादन-साधन
Interdiction	निषेध
Iron Age	लौह-युग
Kin	संबंधी
Kin promiscuity	सगोत्र यौन संबंध
Kinship	संबंध
King state	राज-तंत्र। राज-व्यवस्था
Lineage	कुल-परंपरा। सन्तति
Magical formula	अभिचार मंत्र
Materialist	भौतिकवादी
Material nature	भौतिक-प्रकृति
Matriarchy	मातृसत्ता
Mechanistic	यांत्रिक
Medieval	मध्य-कालीन
Mendicancy	याचक वृत्ति
Military democracy	सैनिक-लोकतंत्र
Mode of production	उत्पादन-प्रणाली
Molecule	अणु
Monism	एकवाद। अद्वैतवाद
Monogamic family	एकनिष्ठ-परिवार
Monogamy	एकनिष्ठ-विवाह
Monopoly	एकाधिकार
Mummy	सुरक्षित शव
Myth	धर्म-कथा
Mythology	धर्म-कथा विज्ञान
National bourgeoisie	राष्ट्रीय-पूंजीपति
Natural selection	प्राकृतिक-वरेण्यता
Nomad	यायावर। घुमक्कड़
Nucleus	बीज-केन्द्र
Oral record	मौखिक प्रमाण
Orientation	नव-अध्ययन
Pairing family	युग्म-परिवार
Papyri	प्राचीन हस्तलिपि

Parliamentary democracy	वैधानिक लोकतंत्र
Pasture land	चरागाह
Patriarchy	पितृ सत्तात्मक
Pedigree	वंशावली। कुल-परंपरा
Permanent nobility	चिरकालीन (स्थिर) अभिजात्य
Petty-bourgeoisie	निम्न-पूंजीपति
Philology	भाषा-विज्ञान
Phratry	कबीला। समूह
Physiognomy	आकृति विज्ञान
Polyandry	बहुपति-विवाह
Polygamy	बहु-विवाह
Pre-Aryan	आर्य-पूर्व
Pre-historic	प्रागैतिहासिक
Priesthood	पुरोहितशाही
Primary activity	प्राथमिक क्रियाशीलता
Primitive communal	आदिम साम्य संघ संबंधी
Primitive communism	आदिम साम्यवाद
Prince dictatorship	सामन्ती एकाधिपत्य
Private family	निजी परिवार
Private property	निजी संपत्ति
Privileged aristocracy	विशेषाधिकार प्राप्त अभिजातीयता
Productive force	उत्पादन-शक्ति
Production relation	उत्पादन-संबंध
Proletariat	सर्वहारा
Proto-man animal	आदिम मानव पशु
Rites	विधि। धार्मिक कृत्य
Ritual	विधि संबंधी
Root	धातु
Sacrificial animal	बलि-पशु
Sacrificial post	यूप
Semi-animal	अर्ध पशु
Semi-man	अर्ध मानव
Serf	अर्ध दास
Serfdom	अर्धदास-व्यवस्था
Sex love	यौन-प्रेम। वासना
Scheduled caste	परिगणित-जाति
Slave	दास

Slave owner	दास-स्वामी। दासपति
Slavery	दासता
Slave society	दास-समाज
Social growth	सामाजिक-विकास
Social history	सामाजिक-इतिहास
Social order	सामाजिक-व्यवस्था
Social wealth	सामाजिक-संपत्ति
Socio-economic relation	सामाजिक-आर्थिक संबंध
Sociological point of view	समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
Stable monogamy	स्थाई एकनिष्ठता
State	शासन-सत्ता
Stone Age	प्रस्तर-युग
Stone engravings	प्रस्तर-लेख
Tribal War	गण-युद्ध। कबीला-युद्ध
Tribe	कबीला
Tyranny	प्रजापीड़न। अतिचार
Upper stage	उन्नत-युग
Utopian	स्वप्नगत। काल्पनिक
Village community	ग्रामीण जातिगत समाज
Wealth	धन। संपदा
Working class	मजदूर वर्ग

अनुक्रमणिका

ब

भ

म

य

श

श्र

ह

क्ष

त्र